हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसका कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है।

साकारमन्त्रभेद-प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है। प्रयोजन, प्रकरण, अंगविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोम्मान प्रतिरूपकव्यवहाराः।। (27)

The partial Transgressions of the third vow अचौर्याणुव्रत are:

1. स्तेनप्रयोग-Abetment of theft.

2. तदाहृतादान-Receiving stolen property.

3. विरुद्धराज्यातिक्रम-illegal traffic e.g. by selling things at inordinate prices in time of war or to alien enemies, etc.

4. हीनाधिकमानोन्मान-False weights and measures.

5. प्रतिरूपक व्यवहार-Adluteration.

स्तेनप्रयोग, स्तेनआहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

स्तेनप्रयोग-चोर और चौर्य कर्म में स्वयं प्रयुक्त करना, स्तेन प्रयोग है। अर्थात् चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना व दूसरे के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त-प्रवृत्त कराना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेनप्रयोग हैं, ऐसा जानना चाहिए।

तदाहृतादान-चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है। अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाए हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है; ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न–तदाहृतादान में क्या दोष है?

उत्तर–चोरी का माल खरीदने (तदाहृतादान) से पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिए। अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने पर भी पर-पीड़ा राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

विरुद्धराज्यातिक्रम–उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। उचित न्याय भाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। विरुद्धराज्य (राज्य के नियमों के विरुद्ध) राज्य परिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना। अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु की महाकीमत में देने का प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है।

प्रतिरूपक व्यवहार–कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना प्रतिरूपक व्यवहार है। कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वंचनापूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं को असली वस्तु में मिलाकर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है। ये अदत्तादान विरति के पाँच अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिका परिगृहीतापरिग्रहीतागमनानङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशाः। (28)

The partial Transgressions of the fourth vow ब्रह्मचर्य are:

1. परविवाहकरण-Bringing about the marriage of people who are not of one's own family.

2. इत्वरिकापरिग्रहीतागमन-Intercourse with a married immoral woman.

3. इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन-Intercourse with an unmarried immoral woman.

4. अनङ्गक्रीड़ा-Unnatural sexual intercourse.

5. कामतीव्रभिनिवेश-Intense sexual desire.

परविवाहकरण, इत्वरिकापरिग्रहीतागमन, इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1.परविवाहकरण–साता वेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरे के विवाह को परविवाह कहते हैं और पर के विवाह कराने को परविवाहकरण कहते हैं।

2.अपरिगृहीताइत्वरिका–अयनशील को इत्वरी कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान नृत्यादि कला और चारित्रमोह नामक स्त्री वेद के उदय से विशिष्ट अंगोपांग के लाभ से जो परपुरुषों को प्राप्त होती है, परपुरुषों को सेवन करती है; उनको अपने अधीन करती है, वह इत्वरी (व्यभिचारिणी स्त्री) कहलाती है और कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय करने से 'इत्वरिका' शब्द की निष्पत्ति होती है। अपरिग्रहीता और परिगृहीता के भेद से इत्वरिका दो प्रकार की है। जो वेश्या रूप से वा पुंश्चली रूप से परपुरुषों को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नहीं है वह अपरिगृहीता इत्वरिका है।

3.परिगृहीता इत्वरिका–जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है अर्थात् जिसका एक स्वामी विद्यमान है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है, वह परगृहीता इत्वरिका है। इस प्रकार अपरिगृहीत इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना अपरिगृहीता और परिगृहीत इत्वरिकाओं में सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना परिगृहीता इत्वरिकागमन अतिचार है।

4.अनङ्गक्रीडा–अनंगो से क्रीड़ा अनङ्गक्रीडा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि काम सेवन के अंग है। उन अंगों को छोड़कर अन्यत्र अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। अर्थात् कामसेवन के योनि आदि अंगों के सिवाय अन्य अंगों में अनेकविध लिंग और योनि के विकार से कामातिरेकवश क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है।

प्रश्न–दीक्षिता, अतिबाला, तिर्यंचिनी आदि का सेवन करना अतिचार है; उनका ग्रहण इसमें क्यों नहीं किया?

उत्तर–दीक्षिता, अतिबाला तथा पशु आदि में मैथुन प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश का फल है अतः कामतीव्राभिनिवेश के ग्रहण से इसकी सिद्धि हो

जाती है। क्योंकि छोड़ने योग्य, दीक्षित; अतिबाला, तिर्यंचिनी आदि में मैथुन की वृत्ति कामतीव्राभिनिवेश से ही होती है।

प्रश्न-इन अतिचार रूप कार्य करने में क्या दोष है?

उत्तर-इन कार्यों के करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डप्रमाणातिक्रमाः। (29)

Transgressing the limit of field, houses, silver, gold. cattle, corn, female and male servants clothes pot.

क्षेत्र और वस्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दास और दासी के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य और भाण्ड के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1.**क्षेत्र**-चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।

2.**वास्तु**-आगार, भवन, घर।

3.**हिरण्य**-चाँदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।

4.**सुवर्ण**-व्यवहार में आने वाला सोना प्रसिद्ध (ज्ञात) ही है।

5.**धान्य**-चावल, गेहूँ, मूँग, तिल आदि।

6-7 दासीदास-नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग।

8.**कुप्य**-कपास एवं कोसे आदि का वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ

9.**धन**-गाय, बैल, अश्व आदि चतुष्पदिपशु समूह।

10.**भाण्ड**-पीतल, सुवर्ण, स्टील, लोह इत्यादि निर्मित भाजन समूह।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर उनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के

कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि। (30)

The partial Transgressions of the first i.e. दिग्व्रत are:

1. **ऊर्ध्वव्यतिक्रम**-Higher than your limit;
2. **अधःव्यतिक्रम**-Lower than your limit;
3. **तिर्यग्व्यतिक्रम**-Other 8 directions beyond your limit;
4. **क्षेत्रवृद्धि**-To increase the boundaries;
5. **स्मृत्यन्तराधान**-Forgetting the limit in the vow.

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रत के पाँच अतिचार हैं।

परिमित दिशाओं की अवधि (मर्यादा) का उल्लंघन करना अतिक्रम है। ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम के भेद से अतिक्रम तीन प्रकार का है।

ऊर्ध्वातिक्रम-मर्यादित पर्वत और सम भूमि आदि के ऊपर चढ़ना ऊर्ध्वातिक्रम है।

अधोऽतिक्रम-मर्यादित अधोभोग से अधिक कूपादि में नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है।

तिर्यग्व्यतिक्रम-भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा का उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम अतिचार है।

क्षेत्रवृद्धि-लोभकषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। पूर्व दिशा में योजन आदि के द्वारा मर्यादा करके पुनः लोभ कषाय के कारण उस मर्यादा से अधिक दिशा की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है, ऐसा जानना चाहिए इन दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन प्रमाद, मोह और चित्तव्यासंग से होता है, ऐसा जानना चाहिए।

देशव्रत के अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः। (31)

The partial Transgressions of the second Gunavrata i.e. देशव्रत are:

1. **आनयन**–Sending for something from beyond the limit.

2. **प्रेष्यप्रयोग**–Sending some one out beyond the limit.

3. **शब्दानुपात**–Sending one's voice out beyond limit e.g. by telephone.

4. **रूपानुपात**–Sending for something from beyond the limit.

5. **पुद्गलक्षेप**–Throwing something material beyond the limit.

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **आनयन**–'उसको लाओ' ऐसे आज्ञापन को अनायन कहते हैं। अपने संकल्पित देश से बाहर स्थित व्यक्ति को प्रयोजनवश कुछ पदार्थ लाने की आज्ञा देना आनयन है।

2. **प्रेष्यप्रयोग**–ऐसा करो इस प्रकार का विनियोग प्रेष्यप्रयोग है। स्वीकृत देश की मर्यादा से बाहर स्वयं न जाकर और दूसरों को न बुलाकर भी प्रेष्य (नौकर) के द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है अर्थात् स्वयं तो नहीं जाना परन्तु दूसरे को भेजकर काम करवाना ही प्रेष्यप्रयोग है।

3. **शब्दानुपात**–अभ्युत खाँसी आदि करना शब्दानुपात है। मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले नौकरों का उद्देश्य लेकर खड़े होकर खाँसी या अन्य प्रकार से शब्द (हूँ हूँ...) करके नौकरों से कार्य कराना शब्दानुपात है।

4. **रूपानुपात**–अपने शरीर को दिखाना रूपानुवात है। 'मेरे रूप को (या मुझे) देखकर के शीघ्र ही कार्य करेंगे' इस अभिप्राय से अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है ऐसा निर्णय किया जाता है।

5. पुद्गलक्षेप-पत्थर आदि का निपात पुद्गलक्षेप हैं। नौकर-चाकरों का उद्देश्य लेकर उनको संकेत करने के लिए कंकड़-पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि। (32)

The partial Transgressions of the third Gunavrata i.e. अनर्थदण्डव्रत are:

1. **कन्दर्प**-Poking fun at another.

2. **कौकुच्य**-Gesticulating

3.**मौखर्य**-Gossip, garrulity.

4. **असमीक्ष्याधिकरण**-Overdoing a thing.

5. **उपभोगपरिभोगानर्थक्य**-Keeping too many consumble and non consumable objects.

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगनर्थक्य ये अनर्थदण्डविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

कन्दर्प-रागोद्रेक से प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प है। चारित्र मोह के उदय से अपादित राग के उद्रेक से हास्ययुक्त वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है।

कौत्कुच्य-हास्य वचन और राग का उद्रेक-इन दोनों के साथ काय की दुष्ट चेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन चेष्टाओं में राग का समावेश होने से हास्य वचन और अशिष्ट वचन इन दोनों के साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। अर्थात् काय की कुचेष्टाओं के साथ-साथ होने वाला हास्य और अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य है।

मौखर्य-धृष्टतापूर्वक यद्वा-तद्वा बहुप्रलाप करना मौखर्य है। शालीनता का त्याग कर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना मौखर्य है, ऐसा जानना चाहिए।

असीमक्ष्याधिकरण-मन, वचन और काय के भेद से अधिकरण तीन प्रकार का है।

मानस अधिकरण-निरर्थक काव्य आदि का चिंतन मानस अधिकरण है।

वाचनिक अधिकरण-निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना वाचनिक अधिकरण है।

कायिक अधिकरण-बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए, सचित्त एवं अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह कायिक अधिकरण है। ये सर्व समीक्ष्याधिकरण हैं अर्थात् मन-वचन-काय की निष्प्रयोजन चेष्टा असमीक्ष्याधिकरण है।

भोगोपभोगनर्थक्य-जितनी भोगोपभोग सामग्री से काम चल सकता है उससे अधिक निष्प्रयोजन सामग्री को आनर्थक्य कहते हैं। भोगोपभोग सामग्री का आनर्थक्य भोगोपभोगनर्थक्य कहलाता है।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्युनुपस्थानानि। (33)

The partial Transgressions of the first शिक्षाव्रत i.e. सामायिक are:

1. **मनोदुष्प्रणिधान**-Misdirection of mind during meditation.
2. **कायदुष्प्रणिधान**-Misdirection of body during meditation.
3. **वाक्दुष्प्रणिधान**-Misdirection of speech during meditation.
4. **अनादर**-Lack of interest.
5. **स्मृत्यनुपस्थान**-Forgetting of due formalities.

काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं।

कायदुष्प्रणिधान-दुष्प्रणिधान यानि अन्यथा प्रवर्तना। प्रविधान, प्रयोग और परिणाम ये एकार्थवाची हैं। दुष्ट जो पाप परिणाम उसे दुष्प्रणिधान कहते हैं अथवा योगों का अन्यथा प्रवर्तन योग-दुष्परिणाम है। क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र अनेक रूप विकृत-रूप हो जाना काय-दुष्प्रणिधान है।

वाचनिक दुष्प्रणिधान-वर्ण संस्कार का अभाव तथा अर्थ के आगमकत्त्व में चपलता अर्थात् निरर्थक अशुद्ध वचनों का प्रयोग करना वाचनिक दुष्प्रणिधान है।

मानसिक दुष्प्रणिधान-मन का अनर्पितत्त्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना मानसिक दुष्प्रणिधान है।

अनादर-अनुत्साह को अनादर कहते हैं। कर्त्तव्य कर्म का जिस किसी तरह निर्वाह करना या अनादर या अनुत्साह है। अर्थात् सामायिक के प्रति उत्साह नहीं होना ही अनादर है।

स्मृत्यनुपस्थान-एकाग्रता का न रहना ही स्मृत्युपस्थान है। अनेकाग्रता असमाहित मनस्कता और स्मृत्युपस्थान ये सब एकार्थवाची हैं। अर्थात् चित्त की एकाग्रता न होना और मन में समाधिरूपता का न होना स्मृत्युपस्थान कहा जाता है।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनपस्थानानि।। (34)

The partial Transgressions of the Second शिक्षाव्रत i.e. प्रोषधोपवास are:

1. **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग**-to excrete in a place without inspecting and without sweeping it.

2. **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान**-To take up or lay down things in a place without inspecting and without sweeping it.

3. **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान**-To spread a mat or seat in a place without inspecting and without sweeping it.

4. **अनादर**-Lack of interest.

5. **स्मृत्यनुपस्थान**-Forgetting of due formalities.

अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग-बिना देखे और बिना शोधी हुई भूमि पर मल-मूत्रादि करना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग हैं।

अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितादान-बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर अर्हंत या आचार्य की पूजा के उपकरण का रखना, उठाना तथा गंध, माला, धूपादि का और अपने परिधान (बिछौना) आदि वा वस्त्र-पात्रादि पदार्थों का रखना, उठाना, ग्रहण करना आदि अप्रत्यवेक्षित प्रमार्जितादान है।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण-बिना देखी वा बिना शोधी भूमि पर संस्तर (बिछौना) आदि बिछाना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है।

अनादर-आवश्यक क्रियाओं में अनुत्साह-अनादर है। भूख-प्यास आदि के कारण आवश्यक क्रियाओं में उत्साह नहीं रखना अनादर है।

स्मृत्यनुपस्थान-रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता से भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है, ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं।

भोग उपभोग परिमाण के अतिचार

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः। (35)

The partial Transgressions of the third शिक्षाव्रत i.e. उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत are:

1. **सचित्ताहार**-Taking living things e.g. green vegatable.

2. **सचित्तसम्बन्धाहार**-Taking any thing connected with a living things e.g. using a green leaf as a plate.

3. **सचित्तसम्मिश्राहार**-Taking a mixture of living and non living things e.g. hot with fresh water.

4. **अभिषवाहार**-Taking ophrodisiacs or strengthening or exciting food.

5. **दुःपक्वाहार**-Taking badly cooked food.

सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार ये उपभोग परिभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

सचित्त-चित्त के सहित सचित्त कहलाता हैं। चित्त नाम का विज्ञान है, विज्ञान नाम चेतना का है, इसलिए चेतना सहित द्रव्य को सचित्त कहते हैं।

सचित्त सम्बन्ध-उस चित्त के साथ उपश्लिष्ट है, उसे सम्बन्ध कहते हैं। उस जीवसहित सचित्त द्रव्य से सम्बन्धित वस्तु को सचित्त सम्बन्ध कहते हैं। जो दूसरी वस्तु से संसर्ग करे संयोग करे, उसी का नाम सम्बन्ध है।

सचित्त संमिश्र-सचित्त के साथ व्यतिकीर्ण (व्याप्त) है, उसे सचित्त सम्मिश्र

कहते हैं। वा 'सम्मिश्रयते' अर्थात् सचित्त और अचित्त दोनों मिलकर एकमेक हो जाये, परस्पर भेद नहीं रहे, वह सचित्त सम्मिश्र कहलाता है।

प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी-जल्दी में सचित्त सम्बन्ध, सचित्त सम्मिश्र आदि में भोजन, पान अनुलेपन तथा परिधान (वस्त्रादि) आदि के लिए प्रवृत्ति हो जाती है।

अभिषव आहार द्रव और उत्तेजक भोजन को अभिषव कहते हैं। द्रव सिरका आदि और उत्तेजक, कामोद्दीपक पुष्टिकारक भोजन का आहार अभिषव कहलाता है।

दुष्पक्व आहार-जो अच्छी तरह नहीं पका हुआ हो वह दुष्पक्व कहलाता है। जो चावल, दाल आदि ऊपर से पक गए हो पर भीतर नहीं पके हो अर्थात् अच्छी तरह से पके हुए नहीं हो वा जिस खाद्य पदार्थ का अधिक पाक हो जाए, वह आहार दुष्पक्व कहलाता है। दुष्पक्व भोजन से इन्द्रियों में मद की वृद्धि होती है। सचित्त वस्तु के खाने से वायु आदि दोषों का प्रकोप हो सकता है, फिर उनका प्रतिकार करने की क्रियाओं में पाप लगता है और अतिथि (मुनिगण) उसे ग्रहण नहीं करते हैं अतः वह त्याज्य है। ये पाँच उपभोग-परिभोग प्रमाण संख्यान व्रत के अतिचार हैं।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः। (36)

The partial Transgressions of the Fourth शिक्षाव्रत i.e. अतिथिसंविभागव्रत are:

1. **सचित्तनिक्षेप**-Placing the food on a living e.g. on a green plantain leaf.

2. **सचित्तापिधान**-Covering the food with a living thing.

3. **परव्यपदेश**-Delegation of hosts duties to another.

4. **मात्सर्य**-Lack of respect in giving or envy of another donor.

5. **कालातिक्रम**-Not giving at the proper time.

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

(1) **सचित्तनिक्षेप**-सचित्त पर रखा हुआ सचित्तनिक्षेप कहलाता है। सचित्त का लक्षण पहले कर दिया है। सचित्त कमल-पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु सचित्तनिक्षेप कहलाती है।

(2) **सचित्तापिधान**-सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है। अपिधान आवरण ये एकार्थवाची हैं। प्रकरणवश सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है।

(3) **परव्यपदेश**-अन्य दाता का द्रव्य है, ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है। यह दूसरे स्थान पर है, यह देय पदार्थ भी दूसरे का है ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है।

(4) **मात्सर्य**-अतिथि को आहार देते समय अनादर भाव रखना मात्सर्य है। आहार देते समय आदर भाव के बिना देना मात्सर्य कहलाता है।

(5) **कालातिक्रम**-अकाल में आहार देना कालातिक्रम है। अनगारों के अयोग्यकाल में आहार देना वा साधुओं के भिक्षाकाल को टाल देना कालातिक्रम कहा जाता है। ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसमित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि। (37)

The partial Transgressions of सल्लेखना peaceful death are:

1. **जीवितशंसा**-Desire to prolong one's life.
2. **मरणाशंसा**-Desire to die soon.
3. **मित्रानुराग**-Attachment to friends.
4. **सुखानुबन्ध**-Repeated rememberance of past enjoyments.
5. **निदान**-Desire of enjoyments in the next world.

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं।

(1) **जीविताशंसा**-आकांक्षा को आशंसा कहते हैं। आकांक्षण, अभिलाषा और आशंसा ये एकार्थवाची हैं। जीवन की आकांक्षा करना जीवितशंसा है और मरण की अभिलाषा करना मरणाशंसा है।

अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के अवस्थान में आदर जीविताशंसा है, यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है। ऐसे इस शरीर की स्थिति किस प्रकार स्थिर रखी जाये? कैसे यह बहुत काल तक टिका रहे इत्यादि से शरीर के ठहरने की अभिलाषा जीविताशंसा है, ऐसा जानना चाहिए।

(2) **मरणाशंसा**–जीवन के संक्लेश के कारण मरण के प्रति चित्त का अनुरोध मरणाशंसा है। रोगादि की तीव्र पीड़ा के कारण जीवन में क्लेश होने पर मरण के प्रति चित्त का प्रणिधान होना मरणाशंसा है। सल्लेखना धारण कर लेने पर भी यदि ख्याति हो रही हो तो जीवन की अभिलाषा करना और शारीरिक पीड़ा के कारण मरने की इच्छा करना जीवितमरणाशंसा है।

(3) **मित्रानुराग**–पूर्वकृत, मित्रों के साथ धूलि में खेलने आदि का स्मरण करना मित्रानुराग है। अर्थात् बचपन में जिनके साथ धूलि में खेले हैं, जिन्होंने आपत्ति में सहायती दी है और सुख-उत्सव आदि में जो सहयोगी बने है उन मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है।

(4) **सुखानुबन्ध**–पूर्वानुभूत प्रीतिविशेष का स्मृतिसमन्वाहार सुखानुबन्ध है। 'मैंने यह खाया, इस प्रकार के पलंग पर सोता था, इस प्रकार क्रीड़ा करता था' इत्यादि पूर्व भुक्त क्रीड़ा, शयन, भोग आदि का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहा जाता है।

(5) **निदान**–भोगों की आकांक्षा से जिसमें चित्त लगा दिया जाता है, वह निदान है। विषय सुखों की उत्कट अभिलाषा भोगाकांक्षा है। उस भोगाकांक्षा से जिसमें नियत रूप से चित्त लगा दिया जाता है वह निदान है, अर्थात् भविष्यतकाल में भोगों की वांछा करना निदान है।

दान का लक्षण

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। (38)

Charity is the giving off one's belongings for the good of one's self and of others.

अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

स्व और परोपकार के लिये अपने धन का त्याग करना दान है। स्व और पर का उपकार अनुग्रह है। स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह करते हैं। साधुओं को दान देने से दाता के पुण्य संचय होता है, यह स्वोपकार है और शुद्ध आहार करने से साधुओं से ज्ञान-ध्यान की वृद्धि होती है, वह परोपकार है। 'स्व' शब्द धन का पर्यायवाची है। 'स्व' शब्द के आत्म आत्मीय जाति, धन आदि अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ पर 'स्व' शब्द का अर्थ धन का पर्यायवाचक ग्रहण करना चाहिए। स्व-पर का अनुग्रह करने के लिए धन का त्याग करना दान है।

दान में विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः।(39)

The fruition of charity is different according to the differcence in:

1. **विधि**–Manner.
2. **द्रव्य**–Thing given.
3. **दाता**–Person who gives and
4. **पात्र**–Person to whom it is given.

विधि, देय वस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से उसकी विशेषता है।

प्रतिग्रहादि क्रम को विधि विशेष कहते हैं। पात्र का प्रतिग्रह-पड़गाहना करना, उच्च स्थान देना, उसके पाद प्रक्षालन करना, पात्र की पूजा करना, नमस्कार करना, मन-वचन और काय की शुद्धि रखना और अन्न-जल का शुद्ध होना, इस नवधा-भक्ति को विधिविशेष कहते हैं।

(1) **विधि विशेष**–यहाँ विशेष गुणकृत है। अतः उसका सम्बन्ध प्रत्येक में अभिसम्बन्धित है। परस्पर की विशेषता को विशिष्ट अथवा विशेष कहते हैं। यह विशेषता गुणकृत होती है अतः विशेष का सम्बन्ध प्रत्येक में लगाना चाहिये। जैसे- विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दातृ विशेष और पात्र विशेष। प्रतिग्रह आदि क्रियाओं में आदर विशेष ही विधिविशेष हैं; क्योंकि प्रतिग्रह आदि में आदर-अनादर कृत ही भेद होता है।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।

वाक्कायमनः शुद्धि रेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः।। (168)

उत्तम पात्रों का भले प्रकार समीचीन रीति से ग्रहण करना, इसी का नाम प्रतिग्रहण-पड़गाहन भी है, उन्हें ऊँचा आसन देना उनके पाद प्रक्षालन करना उनकी पूजा करना और प्रणाम करना, वचनशुद्धि रखना, कायशुद्धि रखना, मनशुद्धि रखना और एषणाशुद्धि रखना अर्थात् आहार की शुद्धि रखना इसको दान देने की विधि कहते है।

(2) द्रव्य विशेष-तप, स्वाध्याय की परिवृद्धि का कारण द्रव्य विशेष है। दिये जाने वाले अन्न आदि में ग्रहण करने वाले (साधुजनों) के तप, स्वाध्याय के परिणामों की वृद्धि कारणभूतता है, वा जो ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय, ध्यान और परिणामों की शुद्धि आदि की वृद्धि का कारण हो, वह द्रव्य विशेष कहा जाता है।

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरूते।

द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम्।। (170)

जो राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि को नहीं करता है सुतप करने में, स्वाध्याय करने में जो वृद्धि करने वाला हो वही द्रव्य देने योग्य है।

(3) दातृ विशेष - अनसूया, अविषाद आदि दातृ विशेष हैं। पात्र के प्रति ईर्ष्या का नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, देने की इच्छा करने वाले में या देने वाले में या जिसने दान दिया है उन सब में प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना और निदान नहीं करना दातृ विशेष है।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षांतिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।

अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः।। (169)

इस लोक सम्बन्धी एवं परलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा नहीं करना, क्षमा भाव धारण करना, मायाचार नहीं रखना, ईर्ष्या भाव नहीं रखना, किसी भी कारण से विषाद-खेद नहीं करना और हो जाने पर इस बात का हर्ष मनाना कि मुझे आज

बहुत लाभ हो गया। अहंकार-मान नहीं करना इस प्रकार निश्चय से दाता गुण सम्पन्न होना आवश्यक है।

(4) पात्र विशेष–मोक्ष में कारणभूत गुणों का संयोग जिसमें होता हो वह पात्र विशेष है। मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से जो युक्त है अर्थात् मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुण जिसमें पाये जाते हैं वह पात्र विशेष है।

पात्रं त्रिभेदयुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अवितरसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च।। (171)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इनका जिनमें संयोग हो ऐसे, अविरतसम्यग्दृष्टि-चतुर्थगुणस्थानवर्ती, विरताविरत-देशविरत पंचमगुणस्थानवर्ती और सकलविरत-छठें गुणस्थानवर्ती मुनिराज इस प्रकार पात्र तीन प्रकार के कहे गये हैं। पृथ्वी, जल आदि विशेष से जैसे बीज के फल में विशेषता होती है वैसे ही विधि विशेष आदि से फल विशेष की प्राप्ति होती है। जैसे भूमि, बीज आदि कारणों में गुणवत्ता (विधि विशेषादि) होने से फल विशेष की प्राप्ति होती है अर्थात् अत्यधिक फलोत्पत्ति देखी जाती है। नाना प्रकार से बीजों की उत्पत्ति होना उसका विशेष है। उसी प्रकार विधि विशेष, दातृ विशेष, द्रव्य विशेष और पात्र विशेष से दान के फल में विशेषता आती है।

त्रैलोक्ये सचराचरे ऽप्यभिमतं संपादयन् प्राणिनां
ख्यातिं स्वां प्रभुतां च नास्तिकमतं निर्मूलयन् मूलतः।
धर्मो भानु रिवाखिलाङ् गिरुचित मार्ग सदोद्द्योतयन्
स्वं निर्भासयति प्ररूढतिमिरस्तोमं प्रविध्वंसयन्।। (7) धर्म रत्ना.

नास्तिक मत को-जीव, पाप, पुण्य व स्वर्गादि परलोक नहीं है, केवल देह ही आत्मा है, ऐसा माननेवाले मत को मूल से उखाडकर फेंकनेवाला यह धर्म (जिनधर्म) जीव और अजीवों से भरे हुये इस त्रैलोक्य में प्राणियों को इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कराता हुवा अपनी ख्याति और प्रभाव को इस प्रकार से प्रकट करता है जिस प्रकार कि सर्व प्राणियों को रुचनेवाले मार्ग को सदा प्रकाशित करनेवाला, और बढे हुये

अन्धकार के समूह को नष्ट करनेवाला सूर्य प्राणियों को प्रिय ऐसे मार्ग को प्रकाशित करके बढे हुये अन्धकार के समूह को नष्ट करता हुआ अपनी ख्याति और प्रभाव को प्रगट करता है।

श्रीतीर्थाधिपचक्रवर्तिहलभृल्लक्ष्मीशमुख्याः परा,
धर्मादेव जगत्त्रयोत्तमयशःश्वेतीकृताशान्तराः।
अद्यापि पतपत्यवित्रितजगन्नामान एवंविधा,
आसन् कम्पितरखेचरेश्वरसुरक्ष्मापालचक्रा अपि।। (8)

जिन्होंने विद्याधर चक्रवर्ती, इन्द्र और राजाओं के समूह को भी कंपित किया है, जिन्होंने प्रतापयुक्त अपने नाम से जगत् को पवित्र किया है तथा जिन्होंने जगत्त्रय में फैले हुये अपने उत्तम यश से दिशाओं के मध्यभाग को धवलित किया है ऐसे श्रीतीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और लक्ष्मीश (नारायण) आदि पुरुषरत्न धर्म के ही प्रभाव से जगत् में उत्पन्न हुये हैं।

करचरणादौ तुल्ये दृश्यन्ते दुःखदूनमनसोऽन्ये।
तत्राधर्मः स्फूर्जति सातिशयं निश्चयाज्जगति।। (9)

इस जगत् में हाथ, पाँव आदि के समान होने पर भी कुछ लोग मन में दुःख से व्यथित दीखते हैं। यह निश्चय से अधर्म का ही प्रभाव है।

समे ऽपि यत्ने पुरुषाः प्रकृष्टे लभन्ते एके हि फलं विशालम्।
परे तु कष्ट परितोऽपि पुष्टं समर्थ्यते सद्भिरिहाप्यदृष्टम्।। (10)

समान रूप से महान् यत्न करने पर भी कितने ही सज्जनों को प्रचुर सुखरूप फल मिलता है, किन्तु दूसरों को सब ओर से कष्ट ही कष्ट प्राप्त होता है। अतः इस शुभाशुभफल की प्राप्ति में अदृष्ट (दैव) कारण है ऐसा सज्जन समर्थन करते हैं।

पाथोदाः परिपूरयन्ति परितः पाथोभिरेतां धरां
काले यत्पवनो वहत्यपि तथा शीतं च तापं क्वचित्।
तत्रापि प्रतपत्यवारितरसः संसारिधर्मो ध्रुवं
नैवं चेदंगमिष्यदेकतमतार्मोभूर्भुवःस्वस्त्रयी।। (11)

योग्य वर्षा काल में-वर्षा के समय में मेघ पानी से इस पृथ्वी को चारों ओर से परिपूर्ण करते हैं, योग्य कालमें वायु क्वचित् शीतपना और क्वचित् उष्णता को धारण करती हुयी बहती है। इस प्रकार मेघादिक जो यह कार्य करते हैं उस में भी निश्चय से अनिवार्य पराक्रम से संयुक्त उस संसारी प्राणियों के धर्म (पुण्य-पाप) का ही प्रताप समझना चाहिये। कारण कि यदि ऐसा न होता तो तीनों लोक समानता को प्राप्त हो जाते, सो ऐसा नहीं।

पतति नरकं प्रायो लोकोऽनि पित्सुरपि ध्रुवं
वृजिनभरतो जानानः संस्तदोयगति यथा।
नृपतिवनिताधीनं धन्यं परे भुवनाचितं
सुरपतिपुरं पुण्यावासाः प्रयान्त्यपरे तथा।। (12)

जिस प्रकार नरक में पड़ने का इच्छुक न होकर भी प्राणी पापभार के कारण उसकी गति को-नारकवेदना को जानता हुआ भी नरक में पड़ता है, उसी प्रकार अन्य पुण्यशाली जन राजा व स्त्री की अनुकूलतायुक्त लोकपूज्य धन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। तथा पुण्य के आवासविशाल पुण्य के धारक-दूसरे कितने ही इन्द्रपुर (स्वर्ग) को प्राप्त होते हैं।

यथाङ्गमध्यक्षसुखे हि धर्मस्तथा परोक्षेऽपि च मोक्षसौख्ये।
भोगोपभोगादिसुखाय धर्मो मित्रादियत्नो ऽपि निमित्तमात्रम्।। (13)

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्षसुख का भी कारण है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मित्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

ये वाञ्छन्ति ततोऽकलङ्कपदवीं ये त्रैदशं मानुषं
सौख्यं विश्वजनैकविस्मयकरं कल्याणमालाधरम्
धर्मस्तैरुचितो विधातुमनिशं तस्माद्विनैतन्न यंत्
छायाच्छन्न दिगन्तरस्तरुवरो दृष्टो न बीजाद्विना।। (14)

जो भव्य जीव अकलंक पदवी को ज्ञानावरणादि कर्म-कलंक से रहित मोक्षपद

को चाहते हैं, जो देवों संबंधी सुख को चाहते हैं, जो मनुष्यगति के सुख को चाहते हैं तथा जो संपूर्ण जन को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले व जन्मादि पाँच कल्याणरूपी माला को धारण करनेवाले सुख को तीर्थंकर विभूति को चाहते हैं उन्हें निरन्तर धर्म का आचरण करना योग्य है। कारण यह कि धर्म के बिना संसारभय दूर नहीं होगा। ठीक है, अपनी छाया से दिशाओं के मध्यभाग को व्याप्त करनेवाला उत्तम वृक्ष कभी बीज के बिना नहीं देखा गया है। तात्पर्य, जैसे बीज के बिना वृक्ष संभव नहीं है वैसे ही धर्म के बिना सुख भी संभव नहीं है।

धर्माज्जन्म कुले कलङ्कविकले कल्यं वपुर्यौवनं
सौभाग्यं चिरजीवितव्यरुचिरं रामारतिर्वापरा।
सामर्थ्यं शरणार्थिरक्षणपरं स्थानं प्रधानं सुखं
स्वर्निःश्रेयससंभवं वरमपि प्राप्येत किं नो नृभिः।। (15)

पूर्वाचरित धर्म से निर्दोष कुल में जन्म होता है, शरीर सदा नीरोग तथा तरुण रहता है, दीर्घ आयु से रमणीय सौभाग्य अर्थात् सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है, दूसरी रति के समान सुन्दर स्त्री प्राप्त होती है, शरण में आये हुये लोगों के रक्षण में तत्पर ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है, उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति होती है, तथा स्वर्ग में और मोक्ष में उत्पन्न हुये उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। ठीक है, धर्म के द्वारा मनुष्य क्या नहीं प्राप्त करते हैं? अर्थात् धर्माचरण से जीवों को सब ही उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

जायन्ते जन्तवो जातौ धर्मात् सिद्धगताविव।
पापादतीव निन्द्यायामन्ये श्वभ्रगताविव।। (16)

धर्माचरण करने से प्राणी सिद्धगति के समान उच्च जाति में उत्पन्न होते हैं और दूसरे-पापीजन-पाप से नरकगति के समान अतिशय निन्द्य जाति में उत्पन्न होते हैं।

इक्ष्वाक्वादिसमन्वयेषु विबुधा विश्वार्चनाधामसु
सुत्रामप्रमुखाश्च येषु जननं काङ्क्षन्ति तेषु स्वयम्।
जायन्ते नृभवे समेऽपि सुकृतात् केचित् पुनर्दुष्कृता
न्निन्यैरप्यतिनिन्दितेषु सकले तुल्येऽपि लग्नादिके।। (17)

मनुष्य जन्म के समान होने पर भी कितने ही मनुष्य पुण्योदय के प्रभाव से जिन कुलों में स्वयं इंद्र-सामानिकादिक देव भी उत्पन्न होने की इच्छा करते हैं उन लोकपूजा स्थानभूत इक्ष्वाकु एवं कुरुवंश आदि उत्तम कुलों में जन्म लेते हैं। और कितने ही मनुष्य अपने दुष्कर्म से समस्त लग्न, मुहूर्त व दिनादिके समान होने पर भी निन्द्य जनों के द्वारा भी निन्दनीय ऐसे नीच कुलों में उत्पन्न होते हैं।

गर्भे केचिदपूर्णरूपवपुषो वाल्येऽपरे यौवने
रामारम्यतरे तरां निरुपमे धर्मार्थकामक्षमे।
वृद्धत्वेऽनवनं प्रयान्ति गहनं सर्वत्र कालाननं
यत्तत् पापविजृम्भितं मतिमतां पूजास्पदैर्वर्णितम्।। (18)

कितने ही प्राणी अपूर्ण रूप व शरीर से युक्त होते हुए गर्भ में दूसरे कितने ही बाल्यावस्था में; कितने ही स्त्री के आश्रय से अतिशय रमणीय प्रतीत होनेवाली तथा धर्म, अर्थ एवं काम के सेवन में समर्थ ऐसी यौवन अवस्था में और कितने ही वृद्धावस्था में अनवन-अरक्षण (मृत्यु) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सर्वत्र जो भयानक कालका मुख खुला हुआ है अर्थात् किसी भी अवस्था में जो प्राणी का संरक्षण संभव नहीं है, यह सब पाप का प्रभाव है ऐसा बुद्धिमानों की पूजा के स्थानभूत पूज्य पुरुषों के द्वारा कहा गया है।

सेव्यन्ते गर्भवासे भटबुधवनिभिः केचिदन्ये शिशुत्वे,
लोकैरालोक्यमाना अहमहमिकया बालचन्द्रेण तुल्याः।
वत्स्यन्तेऽमा शुभार्थैः स्वजनपरिजनैर्यौवने वार्द्धकेऽन्ये,
कीर्तिव्याप्तत्रिलोका अपि रिपुनिवहैः पालिताज्ञाः सदैव।। (19)

कितने ही जीव गर्भवास में ही शूर, विद्वान् और धनिकों से सेवित होते हैं, अन्य कितने ही जीव बाल्यावस्था में बालचंद्र के द्वितीया के चन्द्रमा के समान वृद्धिंगत होते हुये लोगों के द्वारा अहमहमिका से मैं पूर्व में, मैं पूर्व में इस प्रकार की आतुरता से- देखे जाते हैं, कितने ही जीव तारुण्यावस्था में स्वजन और परिजनों के साथ शुभ धनादि पदार्थों से संयुक्त होकर सुखपूर्वक रहते हैं, तथा जिनकी आज्ञा को

शत्रुसमूह शिरोधार्य करते हैं ऐसे कितने ही पुण्यशाली जन अपनी कीर्ति से त्रिलोक को व्याप्त करते हुये वृद्धावस्था में सदैव सुख से रहते हैं।

आनीयन्ते गृहे स्वे कथमपि कैः कैर्नोचितैः संभ्रियन्ते
उत्सार्यन्ते ततोऽन्ये विचलितचित्ताः कैर्न कैरप्यनिष्टैः।
धन्यास्तद्वान्त्यनिष्टं परमिह शिष्टा गुह्णते सर्वथेष्टं
पापानां वैपरीत्यादिदमपि कष्टं कस्य वच्मो विचार्यम्।। (20)

पुण्यशाली जीवों को कौन कौन से मनुष्य अपने घर पर नहीं लाते हैं व उनका समुचित पदार्थों के द्वारा भरण-पोषण नहीं करते हैं? अर्थात् पुण्यात्मा पुरुषों को कितने ही मनुष्य अपने घर पर लाकर उन का अनेक उत्तमोत्तम वस्तुओं के द्वारा पोषण किया करते हैं। इस के विपरीत अस्थिरचित्त पापी प्राणिओं को कौनसे मनुष्य अनिष्ट वस्तुओं के साथ अपने घरसे नहीं निकाल देते हैं ? अर्थात् पापी जनों को लोग अपने घर से बाहर निकाल दिया करते हैं। प्रशस्त जन यहाँ अनिष्ट का वमन करते हैं, उसे नष्ट करते हैं और शिष्ट जन सर्वथा इष्ट को ग्रहण करते हैं । इस प्रकार विपरीतता से पापियों को प्राप्त होने वाले शोचनीय कष्ट की वार्ता किससे कही जाय?

नन्द्या जीयाश्च भूयास्त्रिभुवनजनताखण्डलो नित्यमेवं
गन्धर्वैर्गीयमानः सुललितवचनैर्मागधैः पठ्यमानः।
प्रातः प्रातर्विलासैरपगतसुकृतागोचरैः प्रार्च्यमानो
निद्रामुन्निद्रपुण्यंस्त्यजति नृपशतैर्नभ्यमानाङ्घ्रिपद्मः।। (21)

आप धनादि से समृद्ध होवें, आपको विजय प्राप्त हो, आप तीनों लोगों की जनता के इन्द्र होवें; इस प्रकार गन्धर्व लोगों के द्वारा पुण्यवान् पुरुष का सदा कीर्तन किया जाता है तथा प्रतिदिन प्रातःकाल होने पर भाट लोगों के द्वारा वह पुण्यवान् अतिशय मधुर शब्दों से स्तुत होता है तथा पापीजनों को अप्राप्य ऐसे विलासों से वह (पुण्यपुरुष) पूजा जाता है। इस प्रकार जिसका पुण्य सदा जागृत है-उदय को प्राप्त है वह सैंकडों राजाओं के नमस्कार को स्वीकार करता हुआ प्रतिदिन प्रातःकाल में निद्राका परित्याग करता है-जागृत होता है।

रे रे पापिष्ठ कुष्ठिन्नलसतममहाराजनिर्लज्जचेट,
कष्टं प्रोत्थाप्यसे त्वं गृहपतिशयने संवृते रे मयैवम्।
मञ्चं कश्चिज्जहाति श्रवणपथमनोन्मन्थिनों वाचमित्थं,
शृण्वन् कुस्वामिचेट्या व्यपगतसुकृतः प्रातरुद्गीयमानः।। (22)

कोई पुण्यहीन मनुष्य, अरे पापिष्ठ कुष्ठिन्, अत्यन्त आलसी महाराज का निर्लज्ज दास, इस घर के मालिक की शय्या समेटने पर मैं तुझे कष्ट से उठाती हूँ इस प्रकार प्रातःकाल में दुष्ट स्वामी की दासी से कहे गये कान और मन को दुःख देनेवाले शब्दों को सुनता हुआ शय्या का त्याग करता है सोने से उठता है।

रूपं निशामयति जल्पति यच्च पथ्यं
यदुर्भगो हितधिया तनुते ऽपरस्य।
तत्तद् विषायतितरां ज्वलनायते वा
पापं विडम्बयति कैर्न नरान् प्रकारैः।। (24)

पुण्यहीन मनुष्य हितबुद्धि से जो दूसरे के सौन्दर्य को सुनाता है-उसकी प्रशंसा करता है, हितकारक भाषण करता है, तथा और भी जो वह उसका हितबुद्धि से कार्य करता है; वह सब उसे (दूसरे को) अतिशय विष अथवा अग्निके समान संतापजनक प्रतीत होता है। ठीक है-पाप मनुष्यों को किन किन प्रकारों से प्रतारित नहीं करता है? वह उन्हें अनेक प्रकार से कष्ट दिया करता है।

हृच्छोषे कासगलगण्डशिरोऽर्तिकुष्ठश्लेष्मानिलॅप्रभृतिरोगगणैर्न जातुं।
लक्ष्म्या भवन्ति सुकृतात् सुचिरायुपश्च नाप्यल्पमृत्युमिह ते प्रविलोकयन्ते।।(25)

पुण्यशाली प्राणी हृच्छोष (यक्ष्मा), कास (खाँसी), गण्डमाला, मस्तकशूल, कुष्ठ, कफ और वात आदि (पित्त आदि) रोगसमूहों से कदापि पीडित नहीं होते, इसीलिये वे दीर्घायु भी होते हैं। लोक में वे कभी अल्पमृत्यु को नहीं देखते, अर्थात् उनका अकाल में मरण नहीं होता है।

अन्ये समस्तावयवत्रकम्प प्रलीनचेष्टाः परिशिष्टकष्टाः।
इतीव संचिन्तयता न नीता यमेन हा प्राणिवधोद्यमेनं।। (26)

इसके विपरीत पापी जन संपूर्ण अवयवों में कम्प उत्पन्न होने से किसी भी कार्य के करने में असमर्थ होते हैं। तथा उनको अधिक से अधिक सर्व प्रकार का कष्ट भोगना पडता है। ऐसा विचार करके ही मानो प्राणिवध में उद्यत रहनेवाला यम उन्हें नहीं ले जाता है। वे महान् दुख को भोगते हुये दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं।

रूपिण्य एव सुकृतेन मदालसाश्च यूनां मनांसि रमयन्त्य उदग्रकान्तेः।
भार्या भवन्ति भुवने कृतिनां सुमित्रा, गौर्यःश्रियोऽपि रतयोऽप्युचितैर्विलासैः।।(27)

लोक में पुण्यशाली पुरुषों के समुचित हावभावादि विलास से संयुक्त सुमित्रा, गौरी लक्ष्मी और रति जैसी स्त्रियाँ होती है; जो अतिशय सुंदर और मद से आलसयुक्त होकर अपनी उत्कृष्ट कान्ति से युवावस्था में उनके मन को रमाया करती हैं।

यत्कोटिसंख्यंरिपुदारणसंख्य मध्येऽसंख्यातवारमुपलब्धजया भवन्ति।
यच्चाज्ञयैव परिपान्ति नरा जगन्ति जेगीयते कृतिजनैस्तदिदं सुधर्मात्।। (31)

जहाँ करोडों शत्रुओं का विदारण किया जाता है ऐसे भयानक युद्ध में पुण्यवान् पुरुष जो असंख्यात बार जयशाली होते हैं तथा आज्ञामात्र से जो जगत् का संरक्षण करते हैं; वह सब उस उत्तम धर्म का ही प्रभाव है, जो विद्वान् जनों के द्वारा वारंवार गाया जाता है।

चक्री बाहुबलीश्वरेण तुलितो वाहुद्वयेनाहवे
कैलासोऽपि च रावणेन जयिना गोवर्धनो विष्णुना।
यच्चापि प्रसभं पृथातनुभुवा तूर्ण च तीर्णोऽर्णव
स्तद्विस्फूर्जितमूर्जित त्रिभुवने सद्धर्मचिन्तामणेः।। (32)

युद्ध में बाहुबलि कुमार ने अपने दो बाहुओं के द्वारा जो भरत चक्रवर्ती को उठाया था तथा रावण ने जो कैलास पर्वत को और जयशाली विष्णु (कृष्ण) ने जो गोवर्धन पर्वत को उठाया था, इसी प्रकार पृथापुत्र अर्जुन ने जो लवणसमुद्र को शीघ्र पार किया था; उन सब को समृद्धि शाली इस त्रिभुवन में सद्धर्म रूप चिन्तामणि का ही प्रभाव समझना चाहिये।

धराधरैर्वारिधिभिः समग्रामभ्युद्धरन्त्येव धरां कृतार्थाः।
प्रत्यंशुभिस्तूल मित्रापरे स्युस्तृणस्य कुब्जीकरणेऽसमर्थाः।। (33)

सुकृती-पुण्यशाली-पुरुष पर्वत और समुद्रों सहित समस्त पृथ्वी को प्रत्यंशुओं के साथ रुई के समान उठाया करते हैं, परन्तु पुण्यहीन जन तिनके के भी मोडने में समर्थ नहीं होते हैं।

स्याद् द्वात्रिंशत्सहस्रैः प्रणयविनतिभिः सेवितो भूपतीनां
त्रिस्तावद्भिः सुरस्त्रीविसरविजयिनां कान्तकान्ताजनानाम्।
रत्नैर्द्विः सप्तसंख्यैरनिधनसुधनैः संनिधानैर्निधानैः
मर्त्यानां मूर्धवर्ती मणिरिव सुकृतान्निर्मिताच्चक्रवर्ती।। (34)

स्नेह से नम्र हुये बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, देवांगनाओं के समूह को जीतनेवाली छियानवे हजार सुन्दर स्त्रियों से आराधित, तथा चौदह रत्नों एवं अक्षय उत्तम धन को धारण करनेवाली नौ निधियों से सम्पन्न जो चक्रवर्ती मनुष्यों के मस्तक पर स्थित चूडामणि के समान होता है वह भी पूर्वजन्म में किये हुये सुधर्म के प्रभाव से ही होता है।

भूषा व्रजन्ति चलचामखीज्यमानाः श्वेतातपत्रधवलीकृत विश्वदेशाः।
लीलांद्यु नायकभवां च विलम्वमाना जम्पानयानचतुरङ्ग चमूवृतास्ते।।(35)

ढुरते हुये चंचल चामरों से सुशोभित और श्वेत छत्र से समस्त पृथिवीप्रदेशों को धवलित (श्वेत) करनेवाले वे राजा लोग जो इन्द्र जैसी लीला का आलम्बन लेते हुये सुसज्जित पालकी व चतुरंग सेना से-हाथी, घोडा, रथ और पादचारी सैन्य से-वेष्टित होकर गमन किया करते हैं वह सब धर्मका ही प्रभाव है।

स्रवत्स्वेदस्रवन्तीभिरभितोऽप्यचला इव।
अनिला इव वेगेन धावन्त्यन्ये तदग्रतः।। (36)

इसके विपरीत जो पापी हैं वे उनके आगे वायु के समान वेग से दौड़ते हैं। उस उनके अंग से चूते हुये पसीने की जो नदियाँ निकलती हैं उनसे वेष्टित वे पर्वतों के समान प्रतीत होते हैं।

सप्ततुङ्गतलभूमिराजिते चारुरत्नचयरोचिरञ्चिते।
मूर्तपुण्य इव सत्सुधासिते धाम्निधर्मनिलयाः समासते।। (37)

पूर्वोपार्जित पुण्य के धारक पुरुष मूर्तिमान् पुण्य के समान होते हुये उत्तम चूने से धवल दिखनेवाले, सुन्दर रत्नसमूह की कान्तिसे युक्त, ऊँची सात तलभूमियों से शोभायमान महल में आनन्दसे निवास करते हैं।

कोलैः खातमृदन्नराशिनिचिता ताण कुटी संकटा
वात्यामात्रवशा रुजां वशगतैर्वालैः शन्कृन्मण्डिता।
द्वारेऽरंकुवता खरेण रचिता वा वाङ्मयी पापिनों
दृष्टा चेश्वर हर्म्य कार्यरतया सम्यक् कदाभार्यया।। (38)

इसके विपरीत घूसों से खोदी गयी मिट्टीरूप अन्न की राशि से व्याप्त, संकुचित, झंझावात से भरी हुई रोग के वशीभूत हुये-रोगी-बालकों के साथ मल से मण्डित और द्वार पर शब्द करनेवाले गधे के द्वारा रची गयी कर्कश ध्वनि से परिपूर्ण; ऐसी पापी की घास से निर्मित झोंपड़ी ईश्वर के गृहकार्य में निरत कुत्सित स्त्री के द्वारा देखी जाती है।

खाद्यं स्वाद्यं शुचिसुरभितं पानकं चापि लेह्यं
भङ्गैरे षामुपचितमलं भुञ्जते स्वादु भोज्यम्।
स्वर्णादीनामिह सुकृतिनः स्थालकच्चोलकेषु
तेषां पुण्यैरमृतमिवयनिर्मितं सूपकारैः।। (39)

पुण्यशाली जन उन के पुण्य से जिसे रसोइयों ने अमृत के समान निर्मित किया है ऐसे खाद्य, स्वाद्य, पवित्र और सुगंधित पानक और लेह्य-चाटने योग्य इन चार भेदरूप मधुर भोजन का उपभोग सुवर्ण, चाँदी आदिकी थाली तथा कच्चोलक (प्याला) आदि पात्रों में किया करते हैं।

त्र्यहोषितं तैलघुताव्रताश्रितंकरे कृतं नीरसमप्यगौरवम्।
विधाय कर्माणि धनाढ्यमन्दिरे कन्नमस्ते यदि भुञ्जते परे।। (40)

जो पापी हैं वे धनाढ्यों के घर पर अनेक कार्यों को करके तीन दिनके बासे

तथा तेल और घी से रहित नीरस व कुत्सित तुच्छ अन्न को हाथ में लेकर सूर्यास्त के समय खाया करते हैं।

पत्रैर्नागरखण्डपत्तनभवैः कर्पूरवल्ल्यादिजैः
पूंगैरीशपुरादिजर्विरचितं सच्चूर्णसंभावितम्।
कङ्कोलादिफलैरलंकृतमलं कर्पूरधोल्वणं
ताम्बूलं भुवि भोगमूलमपरे खादन्ति रामार्पितम्।। (41)

पुण्यशाली पुरुष नागरखण्ड नामक नगर में उत्पन्न हुये, कर्पूरवल्ली व नागवल्ली आदि के पत्रों से रचे गये, ईशपुर आदिक नगरों में उत्पन्न हुयी सुपारियों से मिश्रित, जिसमें उत्तम चूना लगाया गया है, कंकोल, इलायची व जायपत्री आदिकों से अलंकृत- सुगंधित, कर्पूर चूर्ण से युक्त ऐसे तांबूल को जो कि भोग का मूल कारण है और जो स्त्रियों ने अपने हाथ से दिया है, खाया करते हैं।

नामाप्यन्ये न जानन्ति ताम्बूलमित्ति भक्षणम्।
केन सांपाद्यतां तेषां पापोहतजन्मनाम्।। (42)

किन्तु पापी लोग खाना तो दूर रहा वे तो ताम्बूल का नाम भी नहीं जानते हैं। पाप से जिनका जन्म व्यर्थ हुआ है ऐसे लोगों को ताम्बूल भला कौन देता है? कोई भी नहीं।

वैडूर्यमुक्ताफलपद्मरागरत्नोच्चया द्वीपसमुद्रजा ये।
धन्यस्य धामैव च धाम तेषां परं धुनीनामिव वारिराशिः।। (43)

जैसे नदियों का निवास स्थान समुद्र है वैसे द्वीप तथा समुद्र में उत्पन्न हुये इन्द्रनील मणि, मुक्ताफल व पद्मराग आदि रत्नों के समूह पुण्यशाली पुरुषों के घर को ही अपना घर समझ कर वहीं रहा करते हैं।

कपर्दिनः कथंचित्स्युः सार्धचन्द्राः कपालिनः।
चित्रं वृषदरिद्राश्च स्थाणवो भूतिमण्डिताः।। (44)

वृषदरिद्र-धर्महीन (वृषभहीन)-मनुष्य कथंचित् स्थाणु (शंकर) के समान हैं, यह आश्चर्य की बात है । स्थाणु (शंकर) जैसे कपर्दी-जटाजूट से संयुक्त हैं वैसे

ही भाग्यहीन मनुष्य भी कपर्दी पैसों के अभाव में बाल न बनवा सकने से जटा जूट के धारक होते शंकर यदि सार्धचंद्र-अर्धचन्द्र से सुशोभित हैं तो भाग्यहीन जन भी सार्धचन्द्र होते हैं-गलहस्त देकर दूर किये जाते हैं, शंकर यदि कपाली-कर्पट (खोपडी) के धारक-हैं तो पुण्यहीन जन भी कपाली-खप्पर में भिक्षा माँगनेवाले-होते हैं, तथा जिस प्रकार शंकर भूतिमण्डित-भस्म से सुशोभित हैं उसी प्रकार पापी जन भी भूतिमण्डित-योग्य वस्त्रादि के अभाव में धूलिधूसरित होता हैं। तात्पर्य यह कि धर्म से विहीन प्राणी अतिशय दरिद्र व निन्दा के पात्र होते हैं।

पट्टं चीन द्वीपजं काञ्चिबालं वासोजातं जायते पुण्यवक्लृप्तम्।
प्रालम्बाद्यं भूषणं पुण्यगेहैर्भूषा मन्ये प्रत्युतैषां च देहैः।। (45)

पुण्यवान लोगों को पुण्योदय से चीनपट्ट (चीन देश का उत्तम वस्त्र) तथा द्वीप में उत्पन्न हुआ कांचिवाल इत्यादि विविध प्रकार के वस्त्रों का समूह प्राप्त होता है। उनके गले में सरल और लंबा मुक्ताहार होता है। उनके पुण्ययुक्त देहों से ही मानो उनकी भूषा होती है।

रथ्यानिपातिमलकर्पटखण्डवक्लृप्तं कौपीनमेव बहुनागफणं हि वासः।
येषां गले तरलहार इवैकतन्तु-स्तेषामलं सिचयभूषणवर्णनाभिः।।(46)

इसके विपरीत जो दरिद्री हैं उन की लंगोटी मार्ग में गिरे हुये मलिन वस्त्र के टुकडों से बनी हुयी होती है, शरीर के ऊपर का वस्त्र अनेक भागों से बना हुआ होता है, तथा गले में चंचल हार के समान एक तन्तुवाला वस्त्र रहता है। उनके वस्त्र और अलंकारों का वर्णन निरर्थक है।

तैलानि चारुसुमनश्चयवासितानि स्नानानि सन्ति भुवनेश्वरदुर्लभानि।
गन्धाः सुगन्धसुरभीकृतविश्व देशा जात्यादिपुष्पनिचयास्त्रिदिवोद्भवा वा।। (47)

पुण्यात्मा जन को सुंदर पुष्पसमूह के संसर्ग से सुवासित तेल, राजाओं को भी दुर्लभ ऐसे स्नान, अपनी सुगंधि से सर्व प्रदेशों को सुगंधित करने वाले गंध चूर्ण अथवा इत्र आदि तथा मानो स्वर्ग में उत्पन्न हुये ऐसे मालती आदिक वेलियों के पुष्पसमूह प्राप्त होते हैं।

अभ्यङ्गाय सदाश्रुपातकुशलः स्नेहोऽपि संजायते
देहस्यैव निघर्षणाय विहितं पापात् खलोद्वर्तनम्।
पङ्कः स्नानविशुद्धयेऽपि कुसुमं गन्धाय शीर्षे तृणं
भाले कर्करघर्षजं च तिलकं तन्नर्मणे निर्मितम्।। (48)

इस के विपरीत जो पुण्यहीन हैं उन्हें अभ्यंगस्नान के लिये स्नेह (तेल) तो मिलता नहीं है, तब उसके अभाव में उनकी आँखों से शोक का जो अश्रुपात होता है वही उनके अभ्यंग स्नान के लिये स्नेह है; पाप से उनके देह का जो घर्षण होता है वही उनका खली का उद्वर्तन होता है, उनके अंग में जो कीचड लगता है वह उनका उबटन है और मस्तक पर जो वे तृण भार धारण करते हैं वही उनका गंध है तथा भालप्रदेश में कंकड का घर्षण होने से जो चिन्ह प्रकट होता है वही तिलक है। ये सब प्रकार पाप ने दोनों का उपहास करने के लिये निर्मित किये हैं।

सुखोष्णभोज्यैः शयनैः परार्घ्यैः स्तनोपपीडं च रतैः प्रियाणाम्।
सदंशुकैः पुण्यवतां प्रतीतमुपायनैरंचयतीवं शीतम्।। (49)

संतुष्ट शीतकाल मानो पुण्यशाली पुरुषों की, सुखप्रद कुछ उष्ण (ताजे) भोज्य पदार्थ, बहुमूल्य शय्याएँ, स्तनों को मर्दित करते हुये किये गये प्रिय स्त्रियों के सम्भोग और उत्तम वस्त्र; इन उपहारों के द्वारा पूजा ही करता है, ऐसा प्रतीत होता है।

चन्द्रेः पल्लवसंस्तराः सुमनसो दिव्या प्रियासंनिधिः
श्रीखण्डं चलचामरोत्थपवनः सन्माधवीमण्डपः।
धारामन्दिरमुज्झदम्बु परितो हारा हिमांशुप्रभा
ग्रीष्मस्फारिजगत्प्रतापमपि तं भिन्दन्ति धन्यस्यते।। (50)

कपूर, कोमल पत्तों की शय्या, दिव्य पुष्प, स्त्री का सान्निध्य, चन्दन, चंचल चामरों की पवन, उत्तम माधवी लताओं का मण्डप, चारों ओर पानी फेंकनेवाला धारागृह तथा चंद्र की कांति को धारण करनेवाले हार ये भाग्यशाली के उत्तमोत्तम पदार्थ-जिसका कि प्रताप लोक में सर्वत्र फैला हुआ है ऐसे पराक्रमी ग्रीष्मकाल को भी नष्ट करते हैं।

आसीनानां' हिमगिरिनिभे हर्म्यपृष्ठे कदाचित्
क्रीडोल्लासाद्वनविहरणैरन्यदा वृष्टिदृष्टैः।
गर्जे गर्जे तरुणरमणीकण्ठमाश्लेषयन्त्यों
मेघैर्वर्षा इव सुकृतिनामाचरन्तीह दोत्यम्।। (51)

पुण्यवान् लोग हिमालय पर्वत के समान धवल उन्नत भवन के ऊपर बैठते हैं, कभी क्रीडा करने की उत्कण्ठा उत्पन्न होने पर वे उद्यान में विहार करते हैं। वर्षा ऋतु, वर्षाकाल में देखे गये मेघ जब गर्जना करते हैं तब तरुणी स्त्रियाँ उन पुण्यवान् पतियों के कण्ठ को आलिंगन करती है। इस प्रकार मानो पुण्यवान् पुरुषों के दूतकार्य को वह वर्षा ही करती है।

तप्ताभ्रण्डरुचेः करैरतिखरैर्ग्रीष्मस्य मव्यंदिने
कष्टं कर्मदमर्दिनो धनजैर्वषासु भिन्नाङ्गकाः।
शीतार्ता निशि दन्तवीणनमिव प्राप्ता हिमर्तौ परे
पापात्संकुचिताः श्वत्कथमहो तिष्ठन्ति भूशायिनः।। (52)

इसके विपरीत दरिद्र जन पाप के प्रभाव से ग्रीष्म ऋतु में दिन के मध्यभाग में सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणों से संतप्त होते हैं, वर्षाकाल में कीचड से लिप्त रहने वाले उन दीन लोगों का शरीर मेघ के पानी से भीगा रहता है, शीतकाल में जब वे ठंड से पीडित होते हैं तब उनके दाँत वीणा के समान बजते हैं तथा शैत्य से अतिशय पीडित होने पर वे अपने शरीर को कुत्ते के समान संकुचित कर जिस किसी प्रकार पृथिवी पर सो जाते हैं। इस प्रकार पापोदय से उन्हें ग्रीष्मादि ऋतुओं में दुःख भोगने पड़ते हैं।

अशेषताराग्रह भानु चन्द्राः स्फुरन्ति दिक्चक्रलसत्प्रतापाः।
हितेन देवा दिवि शं भजन्ते सदा सुरस्त्रीमुख मुग्धंचित्ताः।। (53)

जिनका प्रताप संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो रहा है तथा जिनका चित्त देविओं के मुखों पर आसक्त है ऐसे सब तारा, मंगलादिक ग्रह एवं सूर्य-चंद्र ये देव देवगति में उस हितकर धर्म के प्रभाव से ही सुख का उपभोग करते हैं।

यद्देवकोटिमुकुटाचितपादपद्मो देवीभिरप्यहरहः समुपासितश्च।
शारीरमानससुखं स्वदते धुनाथस्तत्सर्वमङ् कुरितमुत्तमधर्मवीजात्।। (54)

जिसके चरण करोड़ों देवों के द्वारा पूजे जाते हैं तथा देवांगनाएँ जिसकी प्रतिदिन सेवा किया करती हैं ऐसा स्वर्ग का स्वामी इन्द्र जो शारीरिक और मानसिक सुखों का उपभोग करता है वह सब उत्तम धर्मरूपी बीज से ही अंकुरित हुआ है। अर्थात् सुखरूप अंकुर धर्मरूप बीज से ही उत्पन्न होता है।

ईर्ष्याविषादमदमत्सरमानहीनं सर्वार्थसिद्धिमरुतोऽनुभवन्ति सौख्यम्।
यत्सर्वथाप्युपमया रहितं विशालं तद्धर्मवृक्षकुसुमं मुनयो वदन्ति।। (55)

सर्वार्थसिद्धि के देव ईर्ष्या, विषाद, उन्माद, मत्सर तथा गर्व से रहित होकर जो सर्वथा अनुपम महान् सुख का अनुभव करते हैं वह उस धर्मरूपी वृक्ष का ही पुष्प है; ऐसा मुनिजन कहते हैं।

मृत्यूत्पत्तिविवर्जितं निरुपमं दृग्ज़ानवीर्योजितं,
व्याधिव्रातविवञ्चितं शिवपदं नित्यात्मसौख्याञ्चितम्।।
त्रैलोक्यप्रभुवल्लभं कथमपि प्राप्येत यद् दुर्लभं,
प्रध्वस्ताखिलकर्मतो बुधजनास्तद् बुध्यतां धर्मतः।। (56)

जो मोक्षपद मरण व जन्म से रहित, अनुपम, केवलदर्शन, केवलज्ञान और अनंत सुखं से उत्कर्ष को प्राप्त; अनेक रोगसमूह से रहित, शाश्वतिक आत्मसुख से सम्पन्न और त्रैलोक्यप्रभुं जिनेश्वर को अतिशय प्रिय है उस दुर्लभ मोक्षपद को जो विद्वान् जन समस्त कर्मों को नष्ट करते हुये किसी प्रकार से प्राप्त करते हैं उसे धर्म के प्रभाव से ही समझना चाहिये।

पुण्यापुण्यद्रुमफलमलं सम्यगालोचयन्तः,
कर्तुं योग्यं ह्यहितमथनं पुण्यमेव प्रवीणाः।
यत्कल्याणैः प्रभुतममिदं संगमं संविधातुं,
तद् भो भव्या दुरितंसुरतिस्त्यज्यतां नीतिहन्त्री।। (57)

पुण्यवृक्ष के फल की और पापवृक्ष के फल की मन में अतिशय

भलीभाँति आलोचना करते हुये प्रवीण पुरुष अहित को नष्ट करने वाले उस पुण्य को ही करने योग्य समझते हैं यह पुण्य गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्षरूप पाँच कल्याणों का संगम करने में पूर्णतया समर्थ है। अतएव हे भव्यजन! आप नीतिका नाश करनेवाली पाप की प्रीति छोड़ दें।

तत्रास्ति कर्म चित्रं विचित्रफलसमुपलम्भतोऽनुमितम्।
जातं हेतोः सदृशान्न दृश्यते विसदृशं कार्यम्।। (40)

लोक में चूँकि कर्म का सुख दुःखादि रूप अनेक प्रकार का फल (कार्य) देखा जाता अतः इससे उसकी विविध रूपता का अनुमान होता है। कारण यह कि किसी एक सदृश कारण से उत्पन्न विलक्षण कार्य नहीं देखा जाता है, किन्तु कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है।

एकजनका विजातौ स्त्रीपुंसौ यमलकौ प्रसाधयतः।
भिदुरायुः सौभाग्यादिभागिनौ भेत्तृ तत्कर्म।। (41)

एक माता-पिता से उत्पन्न युगल स्त्री-पुरुष आयु, सौभाग्य एवं सुख दुःखादि को अनुभव करते हुए अपने कर्म की भिन्नता को सिद्ध करते हैं।

समेऽपि व्यापारे पुरुषयुगलस्यामलधियः
समाने कालादौ सकलगुणसाम्येऽपि भवति।
यदेकस्यानर्थो-द्रविणनिचयोऽन्यस्य सुखदो
विनिश्चेयं कर्म स्फुटतरमितोऽस्तीत्यनुमितम्।। (42)

किन्हीं निर्मलबुद्धि (विचारशील) दो पुरुषों की क्रिया, काल आदि और अन्य सब गुणों की समानता के होने पर भी उन दोनों में से एक की हानि और दूसरे को सुखप्रद धनसमूह का लाभ होता है। इससे कर्म के अस्तित्वका अनुमान होता है। इसीलिये यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि जीव जो भला बुरा आचरण करता है, तदनुसार उसके पुण्य-पाप का उपार्जन होता है, जिससे उसे भविष्य में सुख-दुःख को भोगना पडता है।

दारिद्र्यं विदुषां विपन्नयवतां संपत्परा द्वेषिणां
वैधव्यं च वधूजनस्य वयसि प्रोल्लासिपीनस्तने।
यत्प्रेयोविरहः स्थिप्तिः सह खलैर्योगोऽध्ययाद्दारुणं
मुक्त्वा कर्म विचेतनं विकरुणं कश्चेतनश्चेष्टते।। (43)

विद्वानों को दारिद्र्य, न्यायमार्ग से चलनेवाले सत्पुरुष को विपत्ति, शत्रुओं को उत्तम संपत्ति, सुंदर और पुष्ट स्तनों के कारणभूत तारुण्य में स्त्रीजनों को वैधव्य की प्राप्ति, प्रिय मित्रादिकों का विरह, तथा दुष्टों के साथ संयोग; इस प्रकार से प्राणियों को जो अनुकूल व प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है उसका कारण वह दुष्ट जड कर्म ही है। उस कर्म के विना भला कौनसा प्राणी प्रवृत्ति करता है? उसके विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता है।

दौर्गत्यं यदुदात्तचित्तसुधियो व्याधिव्यथा भोगिनां
दौर्भाग्यं रमणीयरूपरमणीलोकस्य लक्ष्मीवताम्।
तारुण्ये मरणं जितस्मरवपुः श्रीणां जरा श्रीमतां
नैवेदं समवत्स्यताविकरुणं कर्माभविष्यन्न चेत्।। (44)

यदि निर्दय कर्म नहीं होता तो जिनका मन उदार और बुद्धि निर्मल है ऐसे पुरुषों को दारिद्र्य नहीं प्राप्त होता, भोगी जन को रोग पीडा नहीं घेरती, सुंदर रूपयुक्त रमणियों को दुर्भाग्य (पतिका वियोग आदि) नहीं प्राप्त होता, धनिकों का तारुण्य में मरण नहीं होता, तथा सुन्दरता से कामदेव को जीतनेवाले श्रीमान् लोगों को वृद्धावस्था नहीं प्राप्त होती।

अनुगुणे विगुणं विगुणेऽन्यथा परिजने स्वजनेष्टजनादिकम्।
भवति कर्मणि इन्त शरीरिणां नरपताविव पत्तिजनादिकम्।। (45)

खेद की बात है कि कर्म के होने पर जिस प्रकार राजा के अनुकूल व प्रतिकूल रहते हुए उसके पादचारी सैनिक आदि प्रतिकूल व अनुकूल होते हैं, उसी प्रकार कर्मोदयवश प्राणियों के परिजन (सेवकजन) के अनुकूल होने पर उसके पुत्रादिक स्वजन और इष्ट मित्र आदि विगुण-प्रतिकूल होते हैं तथा कभी पुत्रादिक स्वजन और इष्टमित्रादि के अनुकूल होने पर परिजन प्रतिकूल होते हैं।

किंचाविवादविषयं विहाय लोकायतं विषयलोलम्।

कर्माण्येव मन्यन्ते सामान्ये नास्तिकाः सर्वे।। (46)

विषयासक्त लोकायतिक-नास्तिक चार्वाक लोग कर्म को नहीं मानते हैं। वह अपने वाद का विषय नहीं है। उनको छोड़कर अन्य सब ही आस्तिक जन-आत्मा और परलोक को मानने वाले सामान्य से कर्मों को मानते ही हैं।

संयमभाजो जनमनितपूजनभाजनं जना यशसाम्।

दृश्यन्ते द्वन्द्वद्वयवियोगिनो योगिनः सुखिनः।। (47)

संयम का परिपालन करनेवाले सत्पुरुष लोगों के द्वारा की गयी पूजा और यश के पात्र होते हैं। जो योगीजन द्वन्द्व युगल से-आरम्भ व परिग्रहरूप क्लेशद्वय से रहित हो चुके हैं, वे लोक में सुखी देखे जाते हैं।

आरम्भे संरम्भात्परिग्रहे चाग्रहाद्विधा द्वन्द्वः।

तनु चित्तसंगतानामसंगतस्त्यवतसंगानाम्।। (48)

शरीर और मन से संगत-शरीरादि बाह्यपदार्थों में अनुरक्त-जनों के आरम्भ विषयक प्रयत्न और परिग्रह विषयक आग्रह से-आसक्ति से-दो प्रकार का द्वन्द्व रहा करता है। किन्तु जो उस परिग्रह की ओर से निर्ममत्व हो चुके हैं, उनके वह दो प्रकार का द्वन्द्व नहीं रहता है।

रागादिदोषपूगापगमात्परमसुखसंगमः शमिनीम्।

आगमगदितोऽनुमानसिद्धो विशुद्धबुद्धीनाम्।। (49)

रागादिक दोषों के समूह के नष्ट हो जाने से निर्मल बुद्धि के धारक मुनिजनों को जो उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन आगम में किया गया है। तथा वह अनुमान से भी सिद्ध है।

अनुमीयतेऽत एव हि रागाभावः सदुपशमातिशये।

संभावनया दाह्याभाव इव हुताशनातिशये।। (50)

इसीलिये जिस प्रकार अग्नि के (उपशम की) अधिकता में इन्धन के अभाव की संभावना की जाती हैं, उसी प्रकार विद्यमान उपशम की अधिकता में रागादि के अभाव का अनुमान किया जाता है।

यो यस्येह विरोधी दृष्टस्तस्योदये तदितरस्य।

नाशोऽवश्यं वस्त्रे मालिन्यस्यैव शौक्ल्येन।। (51)

जो जिसका विरोधी होता है उसके वृद्धि में अन्य का विनाश देखा जाता है। जैसे शुक्लता से सफेदी की वृद्धि में मलिनता का विनाश।

एवं सज्ज्ञानादेः प्रकर्षपर्यन्ततः क्षयोऽत्यन्तम्।

क्वचिदपि जीवेऽविद्यातृष्णादेः संभवत्येव।। (52)

इसी प्रकार से किसी जीव में जब सम्यग्ज्ञानादिक गुणों का प्रकर्ष बढते बढते पूर्णावस्था को प्राप्त होता है, तब अविद्या (अज्ञान) व तृष्णा आदि का अतिशय विनाश उसके होता ही है।

चिरतरकालालीनं कलधौतोपलमलमिव प्रयोगेण।

झटिति विघटते जन्तोः कर्म ज्ञानादियोगेन।। (53)

जिस प्रकार दीर्घकाल से संश्लेष को प्राप्त हुआ सुवर्ण पाषाण का मैल प्रयोग से अग्नि के ताप से-शीघ्र ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानादि के संबन्ध से प्राणी का दीर्घ काल से संबद्ध कर्म भी शीघ्र नष्ट हो जाता है।

पापस्यापि विलोकयन्ति सुधियो लोकाः फलं दारुणं

चौराणां वधबन्धनं बहुविधं वित्तापहारादिकम्।

जिह्वाच्छेदनभेदनाद्यपयशो लोके मृषाभाषिणां

नानाकारनिकारमङ्गविगमाद्यैन्याङ्गनासंगिनाम्।। (54)

विद्वान् लोग पाप के भयानक फल को देखते ही हैं । जैसे-लोक में चोरों को दूसरों के धन आदि के अपहरण से प्राप्त हुआ बहुत प्रकार का वध-बन्धन आदिका दुख, असत्यभाषियों को जिव्हा का छेदन भेदन आदि एवं अपकीर्ति, परस्त्रीसेवियों को लिंगच्छेदनादिरूप अनेक प्रकार का अपकार।

अर्हच्छ्रीचूडामणिकेवलिकाज्योतिरमलशास्त्रादेः

संवादिनो जिनोक्तादतीन्द्रियोऽप्यागमः सत्यः।। (55)

श्रीजिनेश्वर ने कहे हुए सत्य ऐसे अर्हच्छ्रचूडामणि, केवलकाज्योतिरमलशास्त्र

आदि निर्दोष शास्त्रों से अतीन्द्रिय आगम भी सत्य है। तात्पर्य-उपर्युक्त शास्त्रों की प्रतीति सत्यरूपा होने से जिनेश्वर के मुखसे जो दिव्य ध्वनि निकली थी वह सत्य है ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है।

एवंविधसिद्धान्तादपि भगवान् साध्यते हि सर्वज्ञः।
विप्रतिपत्तौ झटिति प्रकटं कूटस्य दुर्दुरूढस्य।। (56)

उपर्युक्त सिद्धान्त से भी भगवान् सर्वज्ञ की सिद्धि की जाती है। इससे भिन्न मत प्रकट करने पर (भिन्न मत वाले का) असत्य दुर्नय झट से प्रकट हो जावेगा।

अन्योन्याश्रयदूषणं न च भवेत्पूर्वोत्तरोत्सारितं,
सर्वज्ञस्य निषेधनेऽपि समतान्येनाश्रयासिद्धता।
भात्यन्तःकरणे च तत्र वदतान्मीमांसकस्तत्कथं,
संतानेन विना बुधःस हि पराविद्यान्कुतोऽनर्हतः।। (57)

इस में अन्योन्याश्रय दोष का संभव भी नहीं है। क्योंकि इसका पहले ही उत्तर देकर निराकरण किया गया है। सर्वज्ञ भगवान् का निषेध करने के लिये दिया गया आश्रयासिद्ध नामक दोष अन्य आगम से समान है। यदि वह हृदय में प्रकाशित होता है, तो मीमांसक उसे, नहीं कैसे कहेगा? वह ज्ञानी संतान के बिना अर्हत से अन्य लोगों को कैसे जानेग।

ये चेच्छन्त्यपि नेच्छन्ति सर्वज्ञं मानसे सदा।
तेषामपि स्फुरत्साक्षान्निराकार्यः कथं भवेत्।। (58)

(सर्वज्ञ की जानने की) जिनकी इच्छा है और जिनकी नहीं उन दोनों के भी मन में प्रत्यक्ष रूपसे स्फुरित होनेवाले सर्वज्ञ का निषेध कैसे किया जा सकता है?

इत्येवं मानतः सिद्धः सर्वज्ञो दोषवर्जितः।
स भव्यानुग्रहायैव प्रतिपादयति श्रुतम्।। (59)

इस प्रकार प्रमाण से दोषरहित सर्वज्ञ सिद्ध होता है। वह भव्य जीवों का अनुग्रह करने के लिये ही श्रुत का प्रतिपादन करता है, अर्थात् भावश्रुत का प्ररूपण करता है।

लिङ्गागमानपेक्षं किंचिदिदानीमृतं वदेत् क्वचित्।
एवं कोऽपि समस्तं साक्षात्कुर्वन्नहतकर्मा।। (60)

जैसे कोई पुरुष लिंग और आगम की अपेक्षा के विना कुछ सत्यार्थ का प्रतिपादन करता है, वैसे ही जिसने समस्त कर्मों को नष्ट कर दिया है ऐसा कोई महात्मा संपूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला है।

नैवागमोऽस्त्यमूलः संबन्धाग्रहणतो न लिङ्गमपि।
तथ्यमतीन्द्रियमर्थं साक्षाद्विदितं जिनो वदति।। (61)

अमूल आगम नहीं है तथा बिना संबन्ध ग्रहण किये लिंगज्ञान भी नहीं है। श्री जिनेश्वर अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष से यथार्थ जानकर उनका व्याख्यान करते हैं।

गिरां विदन् दोषगुणौ कियन्तौ परोपकाराहितसुप्रवृत्तिः।
अन्योऽपि धर्मामृतधौतबुद्धिर्न वक्ति पूर्वापरसंविरुद्धम्।। (62)

जो वचनों के कितने ही दोष और गुणों को जानता है, जिस की परोपकार में उत्तम प्रवृत्ति है, तथा जिसकी बुद्धि धर्मरूप अमृत के द्वारा धो दी गयी है-निर्मल कर दी गई है-ऐसा अन्य भी-सर्वज्ञ से भिन्न अल्पज्ञ भी-पूर्वापर विरुद्ध वचन नहीं कहता है।

धर्मं विशुद्धपधिगच्छति शुद्धबोधो यः श्रद्दधात्यविधुरौ विधिना विधत्ते।
संबोधयत्यबुधभव्यजनं भवाब्धेरुत्तारकः सकरुणः स गुरुर्गुणाढ्यः।। (63)

जो निराकुल निर्मल ज्ञानी निर्दोष धर्म के स्वरूप को जानता है, उसके ऊपर श्रद्धान करता है, विधिपूर्वक उसका आचरण करता है, ज्ञानहीन भव्य जनों को उपदेश देता है, तथा जो दयार्द्र होकर उनका संसार-समुद्र से उद्धार करता है, इत्यादि गुणों से युक्त महात्मा को गुरु कहा जाता है।

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्र हृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।। (64)

जो विद्वान् गणी-आचार्य-समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, लोकव्यवहार से परिचित, निःस्पृह, प्रतिभा-नवीन नवीन तर्कणा रूप बुद्धि-से सम्पन्न, शान्त, शंका के पूर्व ही उसके समाधान का अन्वेषक, प्रायः करके सब प्रकार के प्रश्नों को सहनेवाला-उनसे उद्विग्न न होनेवाला, प्रभावशाली, दूसरों के चित्त को आकर्षित करनेवाला, परनिन्दा से दूर, अनेक गुणों से विभूषित, तथा स्पष्ट व मधुर भाषण करनेवाला हो, वही धर्मकथा के कहने का अधिकारी-तत्त्व व्याख्याता-होता है।

देवागमगुरुतत्त्वं परीक्षितं पण्डितैरुपादेयम्।

तापाद्यैरिव काञ्चनमिह वञ्चनभीतचेतोभिः।। (65)

जिस प्रकार मन में अयथार्थता की आशंका करनेवाले ग्राहक यहाँ सुवर्ण की तपाने आदि उपायों द्वारा परीक्षा कर के उसे ग्रहण किया करते हैं, उसी प्रकार विद्वानों को देव, आगम और गुरु के स्वरूप की परीक्षा कर के ही उन को ग्रहण करना चाहिये।

गुरुदेवयोः स्वरूपं निरूपितं प्रक्रमागतं किमपि।

आगमतत्त्वं प्रकृतं समासतस्तैत्समाम्नातम्।। (66)

प्रकरण के अनुसार उन में से गुरु और देव का कुछ स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है। इस प्रकरण में प्रकृत आगम का स्वरूप संक्षेप से कहा गया है।

बन्धतत्त्व का वर्णन

BONDAGE OF KARMA

बंध के कारण

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः। (1)

Wrong belief, non abstinece, negligence, passions and activities are the cause of bondage.

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु हैं।

सम्यग्दर्शन के विषयभूत सप्त तत्त्व में से पहले जीव-अजीव, आस्रव का वर्णन पहले अध्याय से लेकर सप्तम् अध्याय तक किया गया है। क्रम प्राप्त बंध तत्त्व

का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। सप्तम अध्याय में वर्णित कर्म परमाणुओं का आस्रव के बाद जीव के साथ कर्म परमाणुओं का जो संश्लेष सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। इसलिये बन्ध चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव कर्मपरमाणु) द्रव्यों का परिणाम, परिणमन पर्याय या अवस्था विशेष है। मुख्यतः ये बंध दो प्रकार के है-(1) भावबंध (2) द्रव्यबंध। भावबंध पूर्वक ही द्रव्यबंध होता है। इसलिए भावबंध का वर्णन इस सूत्र में किया है। वह भावबंध नो कर्मबंध, कर्मबंध के भेद से दो प्रकार का है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नो कर्मबंध है। जो कर्मबंध है वह कर्मबंध अभव्य की अपेक्षा संतति परम्परा से अनादि अनंत है और भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है। भव्य की अपेक्षा भी जब तक भव्य मोक्ष नहीं जाता है तब तक उसकी कर्मबंध की परम्परा अनादि से है।

बंध प्रकरण में कर्मबंध का वर्णन नहीं करके बंध के हेतुओं का वर्णन पहले किया गया है क्योंकि कारण पूर्वक कार्य होता है। यदि बंध बिना हेतुओं से होता है तब मोक्ष भी कभी नहीं हो सकता है। इसलिये सर्वप्रथम उन्हीं हेतुओं का वर्णन किया जायेगा।

बंध का कारण सामान्य रूप से उपयोग एवं योग है। यहाँ उपयोग का वैभाविक परिणमन है, जीव जब स्वस्वभाव को छोड़कर वैभाविक रूप में परिणमन करता रहता है तब विभिन्न कर्म को बाँधता है। मध्य प्रतिपत्ति से बंध के 5 कारण बताये गये हैं। यथा-(1) मिथ्यादर्शन (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय (5) योग।

''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'' अर्थात् तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शन इससे विपरीत है। अर्थात् ''अतत्त्वार्थ श्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्'' अतत्त्वों का श्रद्धान करना या तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। बंध प्रकरण में बंधों के कारण बतलाते हुए मिथ्यादर्शन को पहले ग्रहण करने का कारण यह है कि मिथ्यादर्शन समस्त बंध कारणों में से प्रधान एवं प्रथम कारण है। मिथ्यात्व को आगम शास्त्र में अनंत संसार का कारण होने से अनंत कहा गया है और उसके साथ रहने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को अनंतानुबंधी कहा गया है। अनादि मिथ्यादृष्टि जब एक बार भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब उसका अनंत

संसार का विच्छेद हो जाता है केवल अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है यदि वह चरम शरीरी है तो तद्भव में मोक्ष जा सकता है इसलिए समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है-

न सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।(34)

प्राणियों के तीन कालों और तीन लोक में भी सम्यग्दर्शन के समान कल्याण रूप और मिथ्यादर्शन के समान अकल्याण रूप अन्य वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद अनेक पाप प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यथा-

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका।।(35)

सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीच कुल, विकलांग अवस्था, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।

मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में 16 पाप प्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है यथा-

मिच्छत्तहुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं।

सहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छं।।(95) गो.क.

1. मिथ्यात्व 2. हुण्डक संस्थान 3. नपुंसकवेद 4. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन 5. एकेन्द्रिय जाति 6. स्थावर 7. आतप 8. सूक्ष्मादि तीन अर्थात् सूक्ष्म 9. अपर्याप्त 10. साधारण, विकलेन्द्रिय तीन 11. दो इन्द्रिय 12. तीन इन्द्रिय 13. चौ इन्द्रिय 14. नरक गति 15. नरकगत्यानुपूर्वी 16. नरकायु। ये सोलह प्रकृतियाँ हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत समय में इनकी बंध व्युच्छित्ति हो जाती है। अर्थात् मिथ्यात्व से आगे के गुणस्थानों में इनका बंध नहीं होता।

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयम।

प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः।।(2)

मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के पाँच हेतु जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये हैं।

मिथ्यात्व के पाँच भेद

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च।

आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत्।।(3)

ऐकान्तिक, सांशयिक, विपरीत, आज्ञानिक और वैनयिक ये मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं।

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः।

इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते।।(4)

जिसमें धर्म और धर्मी के विषय में ''यह ऐसा ही है'' इस प्रकार का एकांत अभिप्राय होता है वह ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

किं वा भवेन्न वा जैनौ धर्मोऽहिंसादिलक्षणः।

इति यत्र मतिर्द्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत्।।(5)

'जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ अहिंसादि लक्षण धर्म है या नहीं' इस प्रकार की जिसमें बुद्धि का भ्रम रहता है वह सांशयिकमिथ्यात्व है।

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रंथो ग्रासाहारी च केवली।

रूचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्।।(6)

परिग्रह सहित भी गुरु होता है और केवली कवलाहारी होता है इस प्रकार की जिसमें श्रद्धा होती है वह विपरीत मिथ्यात्व है।

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम्।

यथा पशुवधो धर्मस्तदाज्ञानिकमुच्यते।।(7)

जिसमें हित और अहित के विवेक का अत्यन्त अभाव होता है, जैसे पशुवध धर्म है, वह आज्ञानिकमिथ्यात्व कहा जाता है।

सर्वेषामपि देवानां समयानां च तथैव च।

यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनियकं हि तत्।।(8)

जिसमें सभी देवों और सभी धर्मों को समान देखा जाता है उसे वैनयिकमिथ्यात्व जानना चाहिए।

बारह प्रकार का असंयम

षड्जीवकायपञ्चक्षमनोविषयभेदतः।

कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः।।(9)

छह काय के जीव तथा पाँच इन्द्रिय और मन सम्बन्धी विषय के भेद से सर्वज्ञ भगवान् ने बारह प्रकार का असंयम कहा है।पृथ्वीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर तथा त्रस इन छह काय के जीवों का घात करना तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों में प्रवृत्ति करना इस तरह बारह प्रकार का असंयम होता है।

प्रमाद का लक्षण

शुद्धयष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे।

योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः।।(10)

आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणों से युक्त धर्म के विषय में जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्रमाद कहा गया है।

भाव, काय, विनय, ईर्यापक्ष, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन और वाक्य के भेद से शुद्धि के आठ भेद है तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रहाचर्य के भेद से धर्म के दश भेद हैं। इन आठ प्रकार की शुद्धियों तथा दश प्रकार के धर्मों में उत्साह न होना प्रमाद कहलाता है।

पच्चीस कषाय

षोड्शैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः

ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः।।(11)

सोलह कषाय और नो कषाय कही गई है। इनमें जो थोड़ा भेद है वह नहीं लिया जाता है इसलिए दोनों मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है।

पन्द्रह योग

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्।

पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगाः पञ्चदशोदिताः।।(12)

चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये हैं।

इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचो मिलकर या पृथक्-पृथक् बंध के हेतु हैं। खुलासा इस प्रकार है-मिथ्यादृष्टि जीव के पाँचों ही मिलकर बंध के हेतु हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि के आदि के चार बंध के हेतु हैं। संयतासयंत के विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु हैं।

प्रमत्त संयत के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बंध के हेतु हैं। अप्रमत्त संयत आदि चार के योग और कषाय ये दो बंध के हेतु हैं। उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और संयोग केवली इनके एक योग ही बंध का हेतु हैं। अयोग केवली के बंध का हेतु नहीं है।

बंध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।(2)

The soul owing to its being with passion, assimulates matter which is fit to form karmas. This is बंध bondage.

कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बंध है।

जीव के साथ कर्मबंध होने के लिये पुद्गलों के बंध योग्य गुणों के साथ-साथ जीव में भी बंध होने योग्य गुणों की आवश्कता अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य उपादान कारण (अंतरंग कारण, मुख्य कारण) निमित्त कारण (बहिरंग कारण-गौण कारण) के समवाय से ही होता है। अतः कर्म वर्गणा में स्निग्धत्व-रूक्षत्व गुण होने पर भी जीव में स्निग्धत्व (राग आकर्षण-धन आवेश) रूक्षत्व (द्वेष-विकर्षण ऋण आवेश) गुण नहीं होने पर जीव के साथ कर्मबंध नहीं हो सकता है। क्योंकि जो कार्य जितने कारणों से सम्पादन होता है उसके एक भी कारण के अभाव में वह कार्य नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होवे तो संपूर्ण कर्म कलंक से रहित सिद्ध भगवान् को भी कर्मबंध होने लगेगा और वे संसारी हो जायेंगे। इतना ही नहीं अमूर्तिक शुद्ध

आकाश, धर्म, अधर्म, एवम् काल को भी कर्मबंध होने लगेगा और वह भी अशुद्ध होकर संसारी हो जावेगा। परन्तु यह होना कष्ट साध्य नहीं अपितु असंभव ही है।

चुम्बक अपने चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित लोह खण्ड को आकर्षित करता है परन्तु उस क्षेत्र में स्थित पत्थर लकड़ी आदि को आकर्षित नहीं करता है। इससे सिद्ध होता है कि चुम्बक में आकर्षण करने की शक्ति है तथा लोहे में आकर्षित होकर आने की शक्ति है।

उपरोक्त दोनों शक्तियों में से एक भी शक्ति के अभाव में परस्पर में आकर्षण एवम् आकर्षित नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार पुद्गल वर्गणा में बंधने की शक्ति होने पर भी संसारी जीव में बाँधने की शक्ति नहीं हो तो कर्मबंध नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि, अनादि काल से जीव कर्मबंध से सहित होने के कारण मूर्तिक एवम् राग-द्वेष से सहित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार में निम्न प्रकार किया है।

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में कहा है-

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्ताय सपिंडओव्व जलं।। (3)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्म वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियक (3) आहारक (4) तैजस; रूप होने वाली नो कर्म वर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण करता है, जैसा कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोणपवेसणम् इदरो।। (32) द्रव्यसंग्रह

जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है वह तो भावबंध है, और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्य बंध है।

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो।। (175) प्रवचनसार

जो उपयोग मय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है, उनके द्वारा बंध रूप है।

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।

जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभागा कसाय दो होंति।। (33)द्रव्यसंग्रह

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं, और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।

पविसंति जहाजोग्गं चिंट्ठति हि जंति बज्झंति।। (प्र.सा.)

वह आत्मा सप्रदेशी है उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं यथायोग्य रहते हैं निकलते हैं और बंधते हैं।

मन, वचन, काय वर्गणा में आलम्बन से और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा के प्रदेशों में सकम्पना (परिस्पन्दन) होता है उसको योग कहते है। उस योग के अनुसार, कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल कर्म आस्रव रूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते हैं तथा अपने उदय काल को पाकर फल देकर खिर जाते है तथा केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्रगटता रूप मोक्ष से प्रतिकूल बंध के कारण रागादिकों का निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबंध रूप से बंध जाते हैं। इससे यह बताया गया है कि, रागादि परिणाम ही द्रव्य बंध का कारण है अथवा इस गाथा से दूसरा अर्थ यह कर सकते हैं कि 'सविशन्ति' शब्द से प्रदेश बंध 'निष्ठन्ति' से स्थिति, बंध ''जंति'' से फल देकर जाते हुए अनुभाग बंध और ''बद्धयंते'' से प्रकृतिबंध ऐसे चार प्रकार बंध को समझना।

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादिहिं।

अण्णोण्णमवगाहो पुग्गल जीवप्पगो भणिदो।।(177)

स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बंध, रागादि के साथ जीव का बंध और अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बंध कहा गया है।

जीव के रागदि भावों के निमित्य से नवीन पौद्गालिक द्रव्य कर्मों का पूर्व में जीव के साथ बंधे हुए पौद्गलिक द्रव्यों कर्मों के साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे

गुण रूप उपादान कारण से जो बंध होता है उसको पुद्गल बंध कहते है। वीतराग परम चैतन्य रूप निज आत्मा तत्त्व की भावना से शून्य (रहित) जीव का जो रागादि भावों में परिणमन करना सो जीव बंध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित होने के कारण स्निग्ध-रूक्ष की जगह राग-द्वेष में परिणमन होते हुए जीव का बंध योग्य स्निग्ध-रूक्ष परिणामों में परिणमन होने वाले पुद्गल के साथ परस्पर अवगाह रूप बंध है वह जीव पुद्गल का परस्पर बंध है। इस तरह तीन प्रकार बंध का लक्षण जानने योग्य हैं।

बंध के संक्षिप्त कारण बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी पुनः कहते है ''रत्तो बंधदि कम्मं'' अर्थात् रागी जीव कर्म को बाँधता है।

सामान्यतः राग एक प्रकार होते हुए भी उसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं तब द्रव्यबंध में भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यथा-

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोस मोह जुदो।
असुहो मोहपदेशो सुहो व असुहो हवदि रागो।।(180)

परिणाम से बंध होता है, वह परिणाम राग, द्वेष, मोह युक्त है। मोह और द्वेष अशुभ है राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

बंध के भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः।(3)

There are 4 kinds of that bondage according to

1. **प्रकृति**-Nature of karmic matter.

2. **स्थिति**-Duration of the attachment of karmic matter to the soul.

3. **अनुभव**-The fruition being strong or mild also called अनुभाग Anubhage.

4. **प्रदेश**-The number of karma verganas or karmic molecules which attach to the soul.

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं।

सामान्य दृष्टि से यह बंध एक होते हुए भी विशेष दृष्टि से इसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। द्रव्यबंध, भावबंध के भेद से दो भेद, कर्म बंध, नोकर्मबंध भावबंध के भेद से तीन प्रकार के हैं (1) प्रकृति बंध (2) स्थिति बंध (3) अनुभव बंध (अनुभाग) (4) प्रदेशबंध के भेद से बंध चार प्रकार के हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म के भेद से बंध आठ प्रकार के भी है। 148 (एक सौ अड़तालीस) भेद रूप कर्म की अपेक्षा बंध 148 प्रकार के भी हैं। परन्तु मुख्यतः प्रकृति आदि 4 प्रकार के बंध के भेदों का वर्णन यहाँ पर किया है।

1. **प्रकृति बंध :** प्रकृति और स्वभाव ये एकार्थवादी शब्द हैं। जैसे-नीम की प्रकृति क्या है? नीम का स्वभाव तिक्तता है गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है, अर्थात् नीम की प्रकृति कड़वापन है और गुड़ की प्रकृति मधुरता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय की प्रकृति अथवा स्वभाव अर्थज्ञान नहीं होने देना अतः प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार दर्शनावरणय की प्रकृति (स्वभाव) है अर्थ पदार्थ का दर्शन नहीं करने देना, वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति है तत्त्वार्थ श्रद्धान् नहीं होने देना, चारित्र मोहनीय की प्रकृति है असंयम परिणाम, आयु का स्वभाव भव धारण करना, नाम कर्म की प्रकृति है। नारक तिर्यञ्च आदि नाम व्यवहार कराना, गोत्र का स्वभाव है ऊँच नीच का व्यवहार करना तथा अंतराय कर्म का स्वभाव है दानादि में विघ्न करना। इस प्रकार के कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे किये जाते है, वह प्रकृति बंध है। अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है।

2. **स्थिति बंध :** उस स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है अर्थात् उस स्वभाव की अप्रच्युति स्थिति कहलाती है। जैसे-बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावराणीय आदि कर्म-प्रकृति का अपने अर्थानवगम आदि (अर्थों का ज्ञान नहीं होने देना, वेदना आदि) स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है।

3. **अनुभाग बंध :** कर्मों के रस विशेष (फलदान शक्ति विशेष) को अनुभाग बंध कहते हैं। जैसे-बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र मंद आदि भाव

से रस विशेष होता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उसमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/अनुभाग बंध कहते हैं।

4. प्रदेश बंध : इयत्ता के अवधारण को प्रदेश बंध कहते हैं अर्थात् कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कंधों के परमाणुओं की गणना को प्रदेश बंध कहते हैं। आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह में इन बंध के हेतु का कथन किया है-

पयडिट्ठिदि अणुभागाप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।। (33)

स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय के कारण से होता है अर्थात स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय हेतुक है, ऐसा जानना चाहिए। इन कषायों के तारतम्य से स्थिति और अनुभाग में विचित्रता आती हैं, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

प्रकृति बंध का कारण-प्रकृति के मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरण वेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।।(4)

The main divisions of the nature of karmic matter are 8:

1. **ज्ञानावरण**-Knowledge obscuring.
2. **दर्शनावरण**-Contain obscuring.
3. **वेदनीय**-Feeling Karma.
4. **मोहनीय**-Deluding.
5. **आयु**-Age.
6. **नाम**-Body making.
7. **गोत्र**-Family determining.
8. **अन्तराय**-Obstructive.

पहला अर्थात् प्रकृति बंध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप हैं।

(1) कर्मों के स्वभाव (प्रकृति-बंध)

जीव के परिस्पन्दन से आकर्षित होकर अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं के समूह स्वरूप कार्माण वगणाएँ आकर जीव के आत्म-प्रदेश में प्रवेश करती हैं इसको जैन दार्शनिक शब्दावली में आस्रव कहते हैं। जीव के उपयोग (राग-द्वेष, मोह, अध्यवसाय) का निमित्त प्राप्त करके कर्म वर्गणाएँ जीव के प्रदेशों में संक्लेश रूप से बंध जाती हैं। इसको जैन दर्शन में कर्मबंध कहते हैं। सामान्य अपेक्षा से कर्म वर्गणाएँ एक होते हुए भी जीव के विभिन्न प्रकार के योग-उपयोग को प्राप्त करके विभिन्न कर्म रूप में परिणमन कर लेती है। जैसे-मनुष्य के द्वारा भुक्त भोजन मनुष्य की विभिन्न पाचन क्रियाओं को प्राप्त करके रस, रूधिर, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज रूप परिणमन कर लेता है, उसी प्रकार कर्म वर्गणाएँ भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नामकर्म, गोत्र, अन्तराय आदि रूप में परिणित हो जाती है। जैसे एक प्रकार की भूमि में अंकुरित विभिन्न वृक्ष एक ही प्रकार के जल, वायु, सूर्य किरणों को प्राप्त करने पर भी विभिन्न वृक्ष में रसादि का परिणमन विभिन्न प्रकार होता है। नीम के वृक्ष को निमित्त पाकर कड़वा, गन्ने को प्राप्त होने पर मीठा, इमली में खट्टा, मिर्ची में चरपरा, आदि विभिन्न रस रूप परिणमन कर लेते हैं।

1. ज्ञानावरणीय

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल विमेलणाच्छण्णो।
अण्णाणं मलोतण्ण तह णाणं होदिणादव्व ।।(65) (समयसार)

As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with, direct, so let it be know that right knowledge is destroyed, when clouded by nescience.

मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञानरूपी मल से (ज्ञानावरण कर्म से) दबकर नष्ट हो जाता है। जैसे दर्पण के ऊपर धूली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य के सन्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है। भगवान् के सामने वस्त्र रहने पर भगवान का रूप ढक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढक देता है।

2. दर्शनावरणीय

सामान्य सत्ता अवलोकन अंतः चेतना रूपी प्रकाश को आवरण करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है। जैसे-द्वारपाल, राजा, मंत्री आदि मालिक को देखने नहीं देता है अर्थात् देखने के लिए रोक देता है। उसी प्रकार यह कर्म वस्तु का सामान्य अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देता है।

3. वेदनीय

अक्खाणं अणुभवणं वेयाणियं सुहसरूवयं सादं।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं।।(14) (गो कर्मकाण्ड)

इन्द्रियों का अपने-अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें दुःख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है। उस सुख-दुःख का अनुभव जो करावे वह वेदनीय कर्म है। जो कर्म वेदन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस अपेक्षा सभी कर्म वेदन किए जाते है इसीलिए सभी कर्म वेदनीय होने पर भी विशेष रूप से संसारी जीव सुख-दुःख का अधिक रूप से वेदन करता है इसलिए सुख-दुःख को देने वाले कर्म को ''वेदनीय कर्म'' कहते हैं। दूसरी बात यह है कि, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद जो राग-द्वेष है उनके उदय के बल से ही घातियाँ कर्मों की तरह जीवों का घात करता है। अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुःख स्वरूप साता और असाता का अनुभव करके जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता, परस्वरूप में लीन करता है।

4. मोहनीय कर्म

जो जीव को मोहित करे वह ''मोहनीय कर्म'' है। इस दृष्टि से मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में इसके दो भेद है। जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है। जो चारित्र गुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है।

(अ) दर्शन मोहनीय-

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छतं जिणवरेहिं परिकहिदं।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्तिणादव्वो।।(68)(समयसार)

It is declared by jina that mityatva karma is adverse to right, belief, when that begins to operate the self becomes a wrong believer, so let it be known.

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है।

मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।

ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो ।।(17)(गो जीव)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता इसमें दृष्टांत देते हैं जैसे-पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसन्द नहीं करता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रूचता।

मिच्छाइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।

सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।।(18) (गो. जीव)

मिथ्यादृष्टि जीव ''उपदिष्ट'' अर्थात् अहिन्त आदि के द्वारा कहे गये ''प्रवचन'' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन-प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा जाता है, वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरूक्तियों से ''प्रवचन'' शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त, आगम पदार्थ का ''उपदिष्ट'' अर्थात् आप्ता भासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

(ब) चारित्र मोहनीय

चारित्र पडिणिबद्ध कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं ।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।।(170)(समयसार)

It is declared by Jina that Kashaya (Soul Soiling gross emotions) is adverse to right conduct, when this begins to operate, the self becomes acharitra (deveoid of right conduct), so let it be known.

चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है ।

5. आयु कर्म

एत्यनेन गच्छति नारकादि भवमित्यायुः।(राज. 8)

जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि पर्यायों को प्राप्त होता है, नरकादि भवों में वास करता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की सांकल वा काठ के यंत्र के समान है। जैसे-सांकल अथवा काठ का यंत्र पुरुष को अपने स्थान में ही स्थित रखता है। दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्याय में स्थित (मौजूद) रखता है, दूसरी जगह नहीं जाने देता।

6. नाम कर्म

गदि आदि जीव भेदं पोग्गलाण भेदं च।

गदियंतरपरिणमनं करेदि णाम अणेयविहं।।(12) (गो. कर्म)

नाम कर्म गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकीय वगैरह जीव की पर्यायों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गति रूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है। नाम कर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार वैचित्र्य पूर्ण शरीर के अवयव, इन्द्रियों, शरीर के आकार-प्रकार आदियों का निर्माण होता है, शुभ नाम कर्म के सुन्दर प्रशस्त शरीर आदि की उपलब्धि होती है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से असुन्दर हीनांग-अधिकांग-विकलांग सहित शरीर की प्राप्ति होती है।

7. गोत्र कर्म

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदिसण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं।।(13)

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा हैं, अर्थात् उसे गोत्र कहते है। उस कुल परम्परा में ऊँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, यदि निंद्य आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहा जाता है।

8. अन्तराय

बहियोगो वा, यस्मिन् मध्येऽवस्थिते दातापात्रादीनां-दानादिक्रियाऽभावः दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः।

दाता और पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अंतर डाले उसे अन्तराय कहते हैं अथवा, जिसके रहने पर दाता आदि-दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके, दानादि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावे वह अन्तराय कर्म है।

प्रकृति बंध के उत्तर भेद

पञ्चनवद्व्यष्ठाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विवपंचभेदा यथाक्रमम्। (5)

There are of 5, 9, 2, 28, 4, 42, 2, 5 classes respectively.

आठ मूल प्रकृतियों के अनुक्रम से पाँच, नौ, दो, अठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद हैं।

गोम्मट्टसार में कहा गया है-

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावेत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु।। (गो.क.का., पृ.5)

सामान्य से कर्म एक प्रकार का है, द्रव्य, भाव की अपेक्षा से दो प्रकार है। पुद्गल पिंड को द्रव्यकर्म कहते हैं तथा उसमें जो फल देने की शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं।

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।

ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य होतिं सण्णाओ।।(7)

सामान्य से कर्म आठ प्रकार भी है अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भी उसके भेद हैं तथा उन आठ कर्मों में घातियाँ और अघातियाँ रूप दो भेद हैं।

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणियं।

आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ।। (8)

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ (स्वभाव) है।

पंच णव दोणिण अट्ठावीस चउरो कमेण तेणउदी।

तेउत्तरं सयं वा दुगपणगं उत्तरा होति।। (22)

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवै अथवा एक सौ तीन, दो और पाँच उत्तरभेद होते हैं।

ज्ञानावरण के पाँच भेद

मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानाम्। (6)

ज्ञानावरण Knowledge obscuring is of kinds, according as it is:

1. **मति**-Sensitive knowledge obscuring.
2. **श्रुत**-Scriptural knowledge obscuring.
3. **अवधि**-Visual knowledge obscuring.
4. **मनःपर्यय**-Mental knowledge obscuring.
5. **केवलज्ञान**-Perfect knowledge obscuring.

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनके आवरण करने वाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं।

प्रत्येक जीव स्वभावरूप से अनंतज्ञानी होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के कारण अल्पज्ञ हो रहा है। गुणदृष्टि से ज्ञानगुण एक होते हुए भी पर्याय दृष्टि से उसके

अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। मुख्य 5 भेद हैं- (1) मतिज्ञान (2) श्रुतज्ञान (3) अवधिज्ञान (4) मनःपर्ययज्ञान (5) केवलज्ञान।

इन उत्तरभेदों के कारण ज्ञानावरणी कर्म 5 रूप में परिणमन कर लेता है-

(1) मतिज्ञानावरणीय (2) श्रुतज्ञानावरणीय (3) अवधिज्ञानावरणीय (4) मनःपर्ययज्ञानावरणीय (5) केवलज्ञानावरणीय।

(1) मतिज्ञानावरणीय-मतिज्ञान को ढकने वाले को मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं इस कर्म के उदय से मतिज्ञान प्रकट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान प्रगट होता है।

(2) श्रुतज्ञानावरणीय-श्रुतज्ञान को ढकने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से श्रुतज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान प्रगट होता है।

(3) अवधिज्ञानावरणीय-अवधिज्ञान को ढकने वाले कर्म को अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से अवधिज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान प्रगट होता हैं।

(4) मनःपर्ययज्ञानावरणीय-मनःपर्ययज्ञान को ढकने वाले कर्म को मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से मनःपर्ययज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से मनःपर्ययज्ञान प्रगट होता है।

(5) केवलज्ञानावरणीय-केवलज्ञान को ढ़कने वाले कर्म को केवलज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से केवल ज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है।

समीक्षा-ज्ञान को ढकने वाला (आवृत्त करने वाला) ज्ञानावरणीय है और दर्शन को आवृत्त करने वाला दर्शनावरणीय है। ये दोनों यथाक्रम ज्ञान-दर्शन को प्रगट होने नहीं देते हैं। परन्तु ये ज्ञान एवं दर्शन को विपरीत नहीं करता है इसलिए इन दोनों को आवरण कहा है। जैसे-सूर्य के आगे घने बादल रहने से सूर्य छिप जाता है परन्तु न सूर्य नष्ट होता है और न ही किरणें विपरीत होती हैं। जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान भी

सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के उदय से विपुल ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता है बल्कि विपरीत ज्ञान होता है।

दर्शनावरण कर्म के 9 भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला प्रचलास्त्यान गृद्धयश्च। (7)

दर्शनावरण Conation obscuring is of 9 kinds according as it obscures.

1. चक्षु दर्शनावरण-Ocular obscuring
2. अचक्षु दर्शनावरण-Non occular obscuring
3. अवधि दर्शनावरण-Visual obscuring
4. केवल दर्शनावरण-Perfect conation obscuring

(5) Sleep (6) Dee sleep (7) Drowsiness (8) Heavy drowsiness and (9) Somnambulism.

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अविधदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण हैं।

(1) चक्षुदर्शनावरण-जिस कर्म के उदय से जीव चक्षु (आँख) से अवलोकन नहीं कर पाता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर त्रिइन्द्रिय तक के जीव के चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय होने के कारण इनकी चक्षु इन्द्रिय नहीं होती है।

(2) अचक्षुदर्शनावरण-जिस कर्म के उदय से चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों से अवलोकन नहीं होता है उसे अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(3) अवधिदर्शनावरण-अवधि दर्शनावरण के उदय से आत्मा अवधि दर्शन से रहित हो जाता है।

(4) केवलदर्शनावरण-केवलदर्शनावरण कर्म के उदय से केवलदर्शन

का आविर्भाव (उत्पन्न) नहीं होता। वह जीव बहुत काल तक संसार में रहता है।

(5) निद्रा-मद, खेद और क्लम (थकावट) को दूर करने के लिए सोना निद्रा है। जिसके सन्निधान से आत्मा निद्रा लेता है, कुत्सित कार्य करता है, वा स्वप्न में क्रिया को करता है वह निद्रा है।

निद्रा कर्म और साता वेदनीय कर्म के उदय से निद्रा परिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् निद्रा दर्शनावरण और साता वेदनीय इन दोनों कर्मों के उदय से निद्रा आती है। निद्रा के समय शोक, क्लम, श्रम आदि का विगम (नाश) देखा जाता है अतः साता कर्म का उदय तो स्पष्ट ही है और असाता वेदनीय का भी उस समय मन्द उदय रहता है, ऐसा जानना चाहिए। निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से तम अवस्था और निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से महातम अवस्था होती है।

(6) निद्रा-निद्रा-ऊपरी-ऊपरी निद्रा निद्रानिद्रा है। उस निद्रा के ऊपर पुनःपुनः निद्रा आना अर्थात् नींद के ऊपर नींद आना निद्रानिद्रा कहलाती है।

(7) प्रचला-जो आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला है। जिस नींद से आत्मा में विशेष प्रचलन उत्पन्न होता है वो जो क्रिया आत्मा को प्रचालित करती है वह प्रचला निद्रा है। वह पुनः शोक, मद आदि के कारण से उत्पन्न होती है। यह इन्द्रिय व्यापार से उपरत-निवृत्त होकर बैठे-ही-बैठे के शरीर, नेत्र आदि में विकार क्रिया की सूचक है, अतः प्रीति का लवमात्र हेतु है। अर्थात् शोक, श्रम, मद आदि के कारण इन्द्रिय व्यापार से उपरत होकर बैठे-बैठे शरीर और नेत्र आदि में विकार उत्पन्न करने वाली प्रचला होती हैं।

(8) प्रचला-प्रचला-पुनः-पुनः उसकी आवृत्ति प्रचला-प्रचला है। उस प्रचला के ऊपर पुनः पुनः प्रचला आना प्रचला-प्रचला, कही जाती हैं।

(9) स्त्यानगृद्धि-जिसके उदय से स्वप्न में वीर्य (शक्ति) विशेष का आविर्भाव होता है, स्त्यानगृद्धि है। वा जिसके सानिध्य से मानव अनेक रौद्र कर्म करता है, असंभव कार्य भी कर डालता है, वह स्त्यानगृद्धि है। जिसके उदय से स्त्यान (स्वप्न) से रौद्र, क्रूर, असंभव कार्य करता हो, स्त्यानगृद्धि निद्रा है।

वेदनीय के दो भेद

सदसद्ये। (8)

वेदनीय Feeling is of 2 kinds:

1. साता वेदनीय-Pleasure bearing

2. असाता वेदनीय-Pain bearing

सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय है।

साता वेदनीय-जिसके उदय से देवादि गतियों में शारीरिक, मानसिक सुख की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार की जातियों से विशिष्ट देवादि गतियों में अनुगृहीत (इष्ट) सामग्री के सन्निधान की अपेक्षा सुखों का अनुभव हो वा प्राणियों को शारीरिक-मानसिक आदि अनेक प्रकार प्रशस्त रूप सामग्री की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय है।

असाता वेदनीय-जिसका फल अनेक प्रकार का दुःख रूप है, उसको असाता वेदनीय कहते हैं। जिस कर्म का फल प्राणियों को नाना प्रकार की जाति विशेष से व्याप्त नरक, तिर्यंच आदि गतियों में अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक और अति दुःसह जन्म-जरा-मरण, प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, व्याधि, वध और बंध आदि से जन्य दुःख का अनुभव होता है वा अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से होती है वह असाता वेदनीय है, अप्रशस्त वेदनीय, असद्वेदनीय है।

मोहनीय के 28 भेद

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा स्त्रीपुत्रपुंसक वेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान प्रत्यख्यान संज्वलन विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः। (9)

मोहनीय Deluding is of 28 kinds the primary divisions are two:

1. **दर्शन मोहनीय**-Right belief deluding.

2. **चारित्र मोहनीय**-Right conduct deluding.

Right conduct deluding 2 kinds:

1. **अकषाय वेदनीय**-With slight passions.

2. **कषाय वेदनीय**-With passions.

1. **मिथ्यात्व**-Wrong belief.

2. **सम्यक् मिथ्यात्व**-Mixed wrong and right belief.

3. **सम्यक् प्रकृति**-Right belief with slight perfect, Akasaya vedaniya is of 9 kinds;

1. **हास्य**-Risible laughter producing.

2. **रति**-Indulegence.

3. **अरति**-Dis satisfaction, langour.

4. **शोक**-Sorrow.

5. **भय**-Fear.

6. **जुगुप्सा**-Disgust.

7. **स्त्री वेद**-Faminine inclinations.

8. **पुंवेद**-Masculine inclinations

9. **नपुंसक वेद**-Common inclinations.

कषाय वेदनीय Kayayavedaniya is of 16 kinds:

4. Passions anger, pride, deceit, greed, each of these is of 4 kinds:

1. **अनंतानुबंधी**-Error feeding or wrong belifassisting.

2. **अप्रत्याख्यान**-Partial vow preventing.

3. **प्रत्याख्यान**-Total vow preventing.

4. **संज्वलन**-Perfect Right conduct preventing it is very mild.

Thus we get 16 i.e. 4×4 kinds:

दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व मिथ्यात्व

और तदुभय ये तीन दर्शन मोहनीय हैं, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये 2 चारित्र मोहनीय है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषाय वेदनीय हैं, तथा अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से सोलह कषाय वेदनीय हैं।

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व के भेद से दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का है। कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय के दो भेद है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के भेद से अकषाय वेदनीय नव प्रकार की है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, लोभ ये कषाय वेदनीय के 16 भेद हैं।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व। यह दर्शन मोहनीय बंध की अपेक्षा एक होकर भी सत्ता कर्म के अपेक्षा तीन भेद को प्राप्त होती है। अर्थात् बंध तो केवल मिथ्यात्व का ही होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। अतः सत्ता की अपेक्षा तीन और बंध की अपेक्षा एक भेद होने वाली दर्शन मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से पराङ्मुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान से निरूत्सुक, हिताहित का विभाग करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व है। शुभ परिणामों से जब उसका अनुभाग रोक दिया जाता है और जो उदासीन रूप से स्थित रहकर आत्म-श्रद्धान को नहीं रोकता है, वह सम्यक्त्व कहलाता है। उस सम्यक्त्व का वेदन करने वाला जीव सम्यक्-दृष्टि कहलाता है। वही मिथ्यात्व जब प्रक्षालन विशेष से क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान आधा शुद्ध और आधा अशुद्ध रस वाला होता है तब वह मिश्र उभय या सम्यक्त्व मिथ्यात्व कहलाता है। जिसके उदय से आत्मा के, आधे शुद्ध कोदों से जिस प्रकार का मद होता है, उसी तरह के मिश्र भाव होते हैं।

चारित्र मोहनीय के दो भेद-कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय दो प्रकार की है। अकषाय का अर्थ कषाय का निषेध नहीं है अर्थात् इसमें 'अ' का निषेध अर्थ में नहीं है, परन्तु 'ईषद्' अर्थ में 'नञ्' समास है।

अकषाय वेदनीय के नौ भेद-हास्यादि के भेद से अकषाय वेदनीय नौ प्रकार की हैं।

(1) **हास्य कर्म**-जिसके उदय से हास्य का प्रादुर्भाव होता है वा हँसी आती हैं, हास्य कर्म है।

(2) **रतिनाम कर्म**-जिसके उदय से देशादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि) में उत्सुकता होती है, उनके प्रति अनुराग होता है वह रतिनाम कर्म है।

(3) **अरति कषाय**-जिसके उदय से देशादि में अनुत्सुकता होती है, उनमें प्रीति नहीं होती है वह अरति कषाय है।

(4) **शोक**-जिसके उदय से शोचन होता है, वह शोक है।

(5) **भय**-जिसके उदय से उद्वेग होता है, वा सात प्रकार का भय होता है, नो कषाय है

(6) **जुगुप्सा**-कुत्सा, ग्लानि को जुगुप्सा कहते हैं। यद्यपि जुगुप्सा कुत्सा का ही एक प्रकार है फिर भी कुछ अर्थविशेष की उत्पत्ति होने से इनमें अन्तर है। अपने दोषों को ढकना जुगुप्सा है।

(7) **स्त्रीवेद**-जिस नो कषाय के उदय से कोमलता, अस्फुटता, क्लीवता, पाप कामावेश, नेत्रविभ्रम, आस्फालन, पुरूष की इच्छा आदि स्त्री भावों को आत्मा प्राप्त होती है वह स्त्रीवेद है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब इतर पुरुष और नपुंसक वेद कर्म की सत्ता गौण रूप से अवस्थित रहती है।

प्रश्न-लोक में योनि, मृदु स्तनादि चिह्न से स्त्रीवेद की प्रतीति होती है?

उत्तर-शरीर में जो स्तन, योनि आदि चिह्न हैं वे नामकर्म के उदय के कारण होते हैं। अतः द्रव्य से पुरुषवेद का उदय होने पर भी भाव से स्त्रीवेद का वा नपुंसकवेद का उदय हो सकता है। द्रव्य स्त्रीवेद के उदय में भाव पुरुष या नपुंसक का तथा द्रव्य से नपुंसकवेद का उदय होने पर भी आभ्यन्तर विशेष भाव की अपेक्षा पुरुष

और स्त्रीवेद का उदय हो सकता है। शरीर आकार तो नामकर्म की रचना है। और भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है, इस प्रकार इन दोनों का वर्णन है।

(8) पुरुषवेद-जिस कर्म के उदय से आत्मा पुरुष भाव को प्राप्त होता है, वह पुरुषवेद है।

(9) नपुंसकवेद-जिस कर्म के उदय से नपुंसक भावों को प्राप्त होता है, यह नपुंसकवेद है।

कषाय वेदनीय सोलह प्रकार की है-क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है।

क्रोध-अपने और पर के उपघात अनुपकार आदि से आहित (प्राप्त) क्रूर परिणाम या अमर्ष भाव क्रोध है। वह क्रोध पर्वत रेखा, पृथ्वी रेखा, धूलि रेखा और जल रेखा के समान चार प्रकार का है।

मान-जाति, ज्ञान, कुल, शरीर, तप, पूजा, ऐश्वर्य आदि के मद के कारण दूसरों के प्रति नमने की वृत्ति नहीं होना मान कषाय है। यह मान शैल स्तम्भ, अस्थि स्तम्भ, दारू (लकड़ी) स्तम्भ और लता समान भेद से चार प्रकार का है।

माया-दूसरों को ठगने के लिये जो छल-कपट और कुटिल भाव होते हैं वह माया है। यह माया, बाँस वृक्ष की गँठीली जड़, मेष (मेढ़े) की सींग, गाय के मूत्र रेखा और अवलेखनी खुरपा आदि के सदृश चार प्रकार की है।

लोभ-जीव के अनुग्राहक-उपकारक धन आदि की विशेष आकांक्षा लोभ है। कृमिराग, कज्जल, कर्दम (कीचड़) और हरिद्रा (हल्दी) के राग सदृश भेद से लोभ, चार प्रकार का है। इन क्रोध, मान, माया और लोभ की चार-चार अवस्थाएँ हैं। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

1. **अनंतानुबंधी**-अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनंत कहते हैं। उस अनंत (मिथ्यात्व) को बाँधने वाली (वा उसका अनुसरण करने वाली) कषाय अनंतानुबंधी कहलाती है अर्थात् मिथ्यादर्शन को बाँधने वाले क्रोध मान, माया और लोभ अनंतानुबंधी है।

2. **अप्रत्याख्यानावरण**-जिसके उदय से यह प्राणी ईषत् (अल्प) भी देशविरत संयमासंयम नामक व्रत को स्वीकार नहीं कर सकता, स्वल्प मात्र भी व्रत प्राप्त नहीं कर सकता वह देशविरत प्रत्याख्यान का आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, लोभ कषाय है।

3. **प्रत्याख्यानावरण**-जिसके उदय से सकल विरति और सकल संयम को धारण नहीं कर सकता, वह समस्त प्रत्याख्यान-सर्व त्याग को रोकने वाली कषाय प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ है।

4. **संज्वलन**-जो 'सम' अर्थात् एकीभाव से संयम के साथ सहावस्थान होने से एकीभूत होकर जलती रहे, अथवा जिसके रहने पर भी संयम हो सकता है, वह संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। इस प्रकार इनका समुदाय करने पर 16 कषाय होती हैं।

आयुकर्म के भेद

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। (10)

आयु Age karma bondage is of 4 kinds according as it determines:

1. **नरक-Hellish.**
2. **तिर्यक्-Sub human.**
3. **मनुष्य-Human.**
4. **देव-Celestial.**

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु हैं।

नरकादि भवों (पर्यायों) के सम्बन्ध से आयु भी नारक योनि कहलाती है। जैसे-नारक भव के सम्बन्ध से आयु में नरक व्यपदेश होता है और नरक में होने वाली आयु नरक कहलाती है। इसी प्रकार तिर्यच योनि में होने वाली तैर्यग्योन, मनुष्य में होने वाली मानुष और देवों में होने वाली देव आयु कहलाती है। जिसके सद्भाव में जीवन और अभाव में मरण हो, वह आयु है। जिसके होने पर आत्मा का जीवन और

जिसके अभाव में आत्मा का मरण कहलाता है वह भवधारण में कारण आयु है अर्थात् जो नरकादि भवों में रोककर रखे, उसे आयु हैं।

(1) **नरक आयु**-जिसके निमित्त से तीव्र शीत उष्ण-वेदनाकारक नरकों में भी दीर्घ काल तक प्राणी जीवित रहता है, वह नरक आयु है।

(2) **तैर्यग्योनि**-जिसका उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, आदि अनेक दुःखों के स्थानभूत तिर्यंच पर्याय में वह प्राणी जीवित रहता है, वा दुःखकारक तिर्यंच पर्याय को धारण करता है, उसे तैर्यग्योन की आयु जानना चाहिये।

(3) **मनुष्यायु**-जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक अत्यधिक सुख-दुःख से समाकुल मानुष पर्याय में जन्म होता है, वा जिसके उदय से प्राणी मानुष भव धारण करता है वह मनुष्यायु कहलाती है।

(4) **देवायु**-शारीरिक, मानसिक सुख स्वरूप देव पर्यायों में जन्म जिसके उदय से होता है वह देवायु है। जिस आयु कर्म के उदय से प्रायः कर शारीरिक, मानसिक सुखों से युक्त देव पर्याय में जन्म होता है, उसे देव आयु जानना चाहिये। कभी-कभी देवों में प्रिय देवांगना आदि के वियोग से, दूसरे महर्द्धिक देवों की महाविभूति के देखने से, देव पर्याय की समाप्ति के सूचक आज्ञाहानि, माला के मुरझाने और आभूषण एवं शरीर की कांति आदि की हीनता देखने से मानसिक दुःख उत्पन्न होता है अतः उस मानसिक दुःख का ज्ञापन कराने के लिए प्रायः शब्द ग्रहण किया है।

नाम कर्म के भेद

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्ध वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात परघातातपोद्योतोच्छवासविहायोगतयः प्रत्येक शरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थंकरत्वं च। (11)

The name (physique making) karmas comprise the state of existence, the class, the body, the chief and secondary parts,

formation, binding (union), molecular interfusion, structure, joint, touch, taste, odour, colour, movement after death, neither heavy nor light, self annihilation, annihilation by others, emitting worm splendour, emitting cool luster, respiration, gait individual body, mobile being, amiability, a melodious voice, beauty of form, minute body, complete development of the orgun firmness, lustrous body, glory and renown and the opposites of these commencing from individual body and Tirtha Karatva.

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आताप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयशः कीर्ति और यशः कीर्ति एवं तीर्थंकरत्व ये बयालीस नामकर्म के भेद है।

(1) गति-जिस कर्म के उदय के कारण आत्मा भवान्तर (पर्यायान्तर) को ग्रहण करने के लिए गमन करता हैं उसे गति कहते हैं। ''गम्यते इति गतिः जिससे गमन किया जाता है, वह गति हैं। वह गति चार प्रकार की है-नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति। जिसके निमित्त से आत्मा के नारक भाव होते हैं वह नरकगति हैं। इसी प्रकार जिस कर्म के उदय से तिर्यंच आदि के भाव को आत्मा प्राप्त होता है, वह तिर्यंच आदि गति है, ऐसा जानना चाहिये।''

(2) जाति-उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी (अविरोधी) सादृश्य से एकीकृत स्वरूप जाति हैं। अर्थात् नरकगति, देवगति और मनुष्यगति में पंचेन्द्रिय जाति अव्यभिचारी है और शेष व्यभिचारी है। इस प्रकार चारों गतियों में अविरोधी सादृश्य भाव जाति इस नाम को प्राप्त होते हैं। जाति-व्यवहार में निमित्त जातिनाम कर्म हैं। वह जाति पाँच प्रकार की हैं। एकेन्द्रिय जाति-नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म और पंचेन्द्रिय जाति नाम

कर्म। जिस कर्म के उदय से आत्मा एकेन्द्रिय कहलाता है, वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म हैं। इस प्रकार दो इन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से आत्मा दो इन्द्रिय कहलाता है, इत्यादि समझना चाहिये।

(3) **शरीर**-जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नाम कर्म हैं। वह शरीर पाँच प्रकार का है-औदारिक शरीर नाम कर्म, वैक्रियिक शरीर नाम कर्म, आहारक शरीर नाम कर्म, तैजस शरीर नाम कर्म और कार्मण शरीर नाम कर्म।

(4) **अंगोपांग नाम कर्म**-जिसके उदय से अंगोपांग की रचना होती है वह अंगोपांग नाम कर्म है। जिस कर्म के निमित्त कारण से सिर, पीठ, जाँघ, बाहु, उदर, नाल, हाथ और पैर, इन आठ अंगों की तथा ललाट, नासिका, आँख, अँगुलि आदि तीन प्रकार का है-औदारिक शरीरांगोपांग, वैक्रियिक शरीरांगोपांग और आहारक शरीरांगोपांग उपांगों की रचना होती हैं, उसे अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं। वह अंगोपांग नाम कर्म औदारिक शरीर में जिसके निमित्त से अंगोपांगों की रचना होती है वह औदारिक शरीरांगोपांग है, इसी प्रकार वैक्रियिक शरीरांगोपांग और आहारक शरीरांगोपांग जानना चाहिये।

(5) **निर्माण**-जिसके निमित्त से शरीर में अंग और उपांग की निष्पत्ति (यथास्थान और यथा प्रमाण रचना) होती है वह निर्माण नाम कर्म है। वह निर्माण कर्म दो प्रकार का है-स्वस्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। जिसके द्वारा रचना की जाय वह निर्माण कर्म है। वह निर्माण कर्म जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा चक्षु आदि के स्थान और उनके प्रमाण की रचना करता है, वा जिसके द्वारा जाति नाम कर्म के अनुसार इन्द्रियों के आकार तद् तद् स्थान और शरीर प्रमाण उनकी रचना की जाती है वह निर्माण नाम कर्म है।

(6) **बंध**-शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों का परस्पर प्रदेश संश्लेष जिसके द्वारा होता है वह बंध नाम कर्म कहलाता है, यही अस्थि आदि का परस्पर बंधन करता है। इसके अभाव में शरीर प्रदेश लकड़ियों के ढेर के समान परस्पर पृथक्-पृथक् रहेंगे।

(7) संघात-अविवर (निश्छिद्र) भाव से पुद्गलों का परस्पर एकत्व हो जाना, संगठन हो जाना संघात नाम कर्म है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर निश्छिद्र रूप से संश्लिष्ट संगठन हो जाता हैं वह संघात नाम कर्म हैं।

(8) संस्थान नाम कर्म-जिसके कारण शरीर की आकृति बनती है वह संस्थान नाम कर्म है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर की आकृति (आकार) की निष्पत्ति होती है, वह संस्थान नाम कर्म है। वह संस्थान छह प्रकार का हैं-(1) समचतुरस्रसंस्थान, (2) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, (3) स्वाति संस्थान, (4) कुब्जक संस्थान, (5) वामन संस्थान और हुण्डक संस्थान।

(1) समचतुरस्र संस्थान-ऊपर, नीचे और मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा रचित समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों का सन्निवेश (रचना) होना, आकार बनना समचतुरस्र संस्थान है।

(2) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान-न्यग्रोध (बड़) वृक्ष के समान नाभि के ऊपर शरीर में स्थूलत्व और नीचे के भाग में लघु प्रदेशों की रचना होना न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। इसमें न्यग्रोध (वट वृक्ष) के समान देह की रचना होती है इसलिये इसका सार्थक नाम न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है।

(3) स्वाति संस्थान-इससे विपरीत ऊपर लघु और नीचे भारी, सर्प की बाँबी के समान आकृति वाला स्वाति संस्थान हैं।

(4) कुब्जक संस्थान-पीठ पर बहुत पुद्गल पिण्ड प्रचय विशेष लक्षण का निर्वर्तक कुब्जक संस्थान है, अथवा पीठ का टेढ़ा हो जाना कुब्जक संस्थान का कार्य है।

(5) वामन संस्थान-सर्व अंग और उपांगों को छोटा बनाने में जो कारण होता है वह वामन संस्थान हैं।

(6) हुण्डक संस्थान-सर्व अंगों और उपांगों की आकृति हुण्ड की तरह रचना हुण्डक संस्थान अर्थात् शारीरिक विकृत संस्थान को हुण्डक संस्थान कहते हैं।

9. **संहनन नामकर्म**-जिस कर्म के उदय से अस्थिजाल (हड्डियों के समूह) बंधन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। यह छह प्रकार का है-(1) वज्रर्षभनाराच संहनन, (2) वज्रनाराच संहनन, (3) नाराच संहनन, (4) अर्धनाराच सहनन, (5) कीलका संहनन और (6) असंप्राप्तासृपाटिका सहनन।

(1) **वज्रर्षभनाराच संहनन**-दोनों हड्डियों की संधियाँ वज्राकार हो। प्रत्येक में वलयबंधन और नाराच हो, ऐसा सुसंहत बंधन वज्रर्षभनाराच संहनन है।

(2) **वज्रनाराच संहनन**-सर्व रचना वज्रर्षभनाराच के समान है, परन्तु बंधन वलय से रहित है वह वज्रनाराच संहनन हैं।

(3) **नाराच संहनन**-जो शरीर वज्राकार बंधन और वलय बंधन से रहित नाराच सहित है वह नाराच संहनन हैं।

(4) **अर्धनाराच संहनन**-जो शरीर एक तरफ नाराचयुक्त तथा दूसरी ओर नाराच रहित अवस्था में है, वह अर्धनाराच संहनन वाला शरीर कहलाता है।

(5) **कीलक संहनन**-जिसके दोनों हड्डियों के छोरों में कील लगी हैं। वह कीलक संहनन है।

(6) **असंप्राप्तासृपाटिका संहनन**-जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बंधन मात्र बाहर से वे सिरा, स्नायु, माँस आदि लपेटकर संघटित की गईहो वह असंप्राप्तासृपाटिका का संहनन हैं।

10. **स्पर्श नामकर्म**-जिस कर्म के उदय से कठोर-मृदु, हलका-भारी, स्निग्धशीत और उष्ण इन आठ प्रकार के स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है, वा जिसके कारण शरीर में कर्कश, मृदु, चिकनापन, रूक्षपना, शीत, उष्णत्व, गुरु, लघुत्व आदि का प्रादुर्भाव होता है, वह स्पर्श नामकर्म है।

11. **रस नामकर्म**-जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्तत्व, कटुत्व, कषायत्व, मधुरत्व, इन पाँच रसों का प्रादुर्भाव होता है वह रस नामकर्म है।

12. **गंध नामकर्म**-जिसके उदय से शरीर में गंध होती है वह गंध नामकर्म है। गंध दो प्रकार की है-सुगंध और दुर्गंध।

13. **वर्ण नामकर्म**-जिसके उदय से शरीर में वर्ण विशेष होता हैं वह वर्ण नामकर्म है। वह वर्ण पाँच प्रकार हैं-कृष्णवर्ण, नीलवर्ण, रक्तवर्ण, हरितवर्ण और शुक्लवर्ण।

प्रश्न-स्पर्श, रस आदि गुण अचेतन पदार्थों के है, वे चेतन में कैसे होते हैं?

उत्तर-यद्यपि ये स्पर्श आदि पुद्गल के स्वभाव है तथापि जीव के शरीर में इनका प्रादुर्भाव कर्मोदय कृत है। इस प्रकार स्पर्शादि नामकर्म के उदय से शरीर में उस जाति के रूप, रस, आदि होते हैं। अर्थात् गुरु स्पर्श कर्म के उदय से शरीर भारी होता है, लघु नामकर्म के उदय से शरीर हल्का होता है। इस प्रकार सर्व स्पर्श, रस, गंध, वर्ण में लगाना चाहिये।

14. **आनुपूर्वी नामकर्म**-जिस नामकर्म के उदय से विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है, नष्ट नहीं होता है, वह आनुपूर्वी नामकर्म है। वह आनुपूर्वी चार प्रकार की है-नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्य गत्यानुपूर्वी और देव गत्यानुपूर्वी।

(1) **नरक गति आनुपूर्वी**-जिस समय मनुष्य वा तिर्यंच अपनी आयु को पूर्ण करके पूर्व शरीर को छोड़कर नरकगति के अभिमुख होता है उस समय विग्रह गति में उदय तो नरक गत्यानुपूर्वी का होता है, परन्तु उस समय आत्मा का आकार पूर्व शरीर के अनुसार मनुष्य वा तिर्यंच का बना रहता है, यह नरक गति आनुपूर्वी है।

(2) **मनुष्यगत्यानुपूर्वी**-इस प्रकार मनुष्य गति में जाने वाले के विग्रह गति में मनुष्यगत्यानुपूर्वी है।

(3) **तिर्यग्गत्यानुपूर्वी**-तिर्यंच में जाने वाले तिर्यग्गत्यानुपूर्वी कहलाती हैं।

(4) **देवगत्यानुपूर्वी**-देव में जाने वाले के विग्रह गति में देवगत्यानुपूर्वी कहलाती है।

प्रश्न-विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता तो निर्माण नामकर्म का फल है आनुपूर्वी के उदय पूर्व आकार नहीं है।

उत्तर-विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बने रहना निर्माण नामकर्म का काम नहीं है, क्योंकि पूर्व शरीर के नष्ट होते ही निर्माण नामकर्म का उदय समाप्त हो

जाता है। उसके नष्ट होने पर आठ कर्मों के पिण्ड कार्मण शरीर और तैजस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले आत्मप्रदेशों का आकार विग्रह गति में पूर्व शरीर के आकार रूप बना रहता है। उसका कारण आनुपूर्वी का उदय हैं। उस आनुपूर्वी का उदय काल विग्रह गति में ही होता है। उसका अधिक से अधिक काल तीन समय और जघन्य एक समय है। ऋजुगति में पूर्व शरीर के आकार का विनाश होने पर शीघ्र ही उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का जो ग्रहण होता है, वह निर्माण नामकर्म के उदय का व्यापार है।

15. **अगुरुलघु नामकर्म**-जिसके निमित्त से शरीर अगुरुलघु होता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। अर्थात् जिसके उदय से लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो पृथ्वी में नीचे ही गिरता है और न रूई की तरह लघु होकर ऊपर ही उड़ जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है।

प्रश्न-धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघुत्व कैसे होता है?

उत्तर-अनादिकालीन कर्मबंधन बद्ध जीवों में कर्मोदयकृत अगुरुलघुत्व है और कर्मबंधन रहित मुक्त जीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है।

16. **उपघात नामकर्म**-जिस कर्म के उदय से स्वयंकृत बंधन और पर्वत से गिरना आदि हो वह उपघात नामकर्म है। जो विष सेवन कर, अग्नि में जलकर मर जाते हैं या ऐसे शरीर के अवयव जिनसे अपना घात होता है, वे सब उपघात नामकर्म के विपाक हैं।

प्रश्न-मुक्त जीवों में अगुरुलघुत्व कैसे है?

उत्तर-अनादिकालीन कर्मबंधन बद्ध जीवों में कर्मोदयकृत अगुरुलघुत्व है और कर्मबंधन रहित मुक्त जीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है।

17. **परघात नामकर्म**-जिसके निमित्त से परकृत शस्त्रादि के द्वारा घात होता है, वह परघात नामकर्म है। 'पर' शब्द अन्य का पर्यायवाची है। जिस कर्म के उदय से फलक, कवच आदि आवरण का सन्निधान होने पर भी पर प्रयुक्त शस्त्र आदि के द्वारा घात होता है, पर के द्वारा मारण, ताड़न आदि होते हैं, वह परघात नामकर्म है।

18. **आतप नामकर्म**-जिसके उदय से आतपन होता है, वह आतप नामकर्म अथवा जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में तप का निर्वर्तक है, वह आतप नामकर्म है, आतप नामकर्म का उदय सूर्य के विमान एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय है, उसके ही होता है।

19. **उद्योत नामकर्म**-जिस कर्म के उदय से उद्यत होता है, वा उद्योत (प्रकाश) किया जाता है, वह उद्योत नामकर्म है। इसका उदय चन्द्र के विमानस्थ, पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय वा जुगनू आदि तिर्यंचों में होता है।

मूलूण्हपहा अग्गी आदावो होदि उपहसहियपहा।
आइच्चे तेरिच्छे उपहूणपहा हु उज्जोओ।। (33)

आग के मूल और प्रभा दोनों ही उष्ण रहते हैं। इस कारण उसके स्पर्श नामकर्म के उष्ण स्पर्श नामकर्म का उदय जानना और जिसकी केवल प्रभा (किरणों का फैलाव) ही उष्ण हो उसको आतप कहते हैं। इस आतप नामकर्म का उदय सूर्य के बिम्ब (विमान) में उत्पन्न हुए बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के तिर्यंचकाय के समझना तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता रहित हो उसको नियम से उद्योत जानना।

20. **उच्छ्वास नामकर्म**-जो उच्छ्वास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वोसोच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

21. **विहायोगति नामकर्म**-आकाश में गति का प्रयोजन विहायोगति नामकर्म है। विहाय का अर्थ है-आकाश और आकाश में गमन का कारण विहायोगति नामकर्म।

प्रशस्त और अप्रशस्त के विकल्प से विहायोगति दो प्रकार की है। श्रेष्ठ बैल, हाथी आदि की प्रशस्त गति में जो कारण होता है, वह प्रशस्त विहायोगति है और ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त गति में जो कर्म कारण होता है, वह अप्रशस्त विहायोगति है।

प्रश्न-सिद्धगति के प्रति गमन करने वाली आत्मा की और पुद्गल द्रव्यों की जो अनुश्रेणी गति होती है, वह किस कर्म के उदय से होती है?

उत्तर-मुक्त जीव और पुद्गलों की गति स्वाभाविक है।

प्रश्न-विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियों में ही है, मनुष्यादि में नहीं क्योंकि मनुष्यादि में आकाशगमनत्व नहीं है?

उत्तर-विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियों में ही नहीं अपितु सभी प्राणियों में विहायोगति है क्योंकि अवगाहन शक्ति के योग से सभी की आकाश में ही गति होती है।

22. प्रत्येक शरीर-एक आत्मा के उपभोग के कारण शरीर को प्रत्येक शरीर कहते है। एक आत्मा के प्रति प्रत्येक है ''प्रत्येक शरीर'' प्रत्येक शरीर। शरीर नामकर्म के उदय से रचित शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग्य हो अर्थात् जिसका स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

23. साधारण शरीर नामकर्म-जिसके उदय से एक ही शरीर बहुत-सी आत्माओं के उपभोग का कारण होता है, वा एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है।

प्रश्न-साधारण नामकर्म के उदय से जीव कैसा होता है?

उत्तर-साधारण जीवों के साधारण आहार आदि (आहार, शरीर, इन्द्रियादि) चार प्राप्तियाँ होती हैं और उनका जन्म-मरण श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि सभी होते हैं। जब एक जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति होती है, उस समय उसके साथ अनंतानंत जीवों की आहारादि पर्याप्तियों की निवृत्ति हो जाती है। जब एक जीव जन्मता है जो उसके साथ अनंतानंत जीवों का जन्म होता है। जब एक जीव का मरण होता है तब उसके साथ अनंतानंत जीवों का मरण होता है। जिस समय एक जीव श्वास ग्रहण करता है या छोड़ता है, उसी समय अनंतानंत प्राणी श्वासोच्छवास ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं। जब एक जीव आहारादि का अनुग्रह करता है, आहार ग्रहण करता है तो उस समय एक साथ अनंतानंत जीव आहारादि ग्रहण करते हैं, जिस समय एक जीव का अग्नि विषादि के द्वारा उपघात होता है उसी समय अनंतानंत जीवों का उपघात होता है।

24. त्रस नामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव दो इन्द्रिय आदि जंगम (त्रस) जीवों में जन्म लेता है, वह त्रस नामकर्म है।

25. स्थावर नामकर्म-जिस कर्म के उदय से यह प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप पंच स्थावर एकेन्द्रियों में जन्म लेता है, पाँच स्थावर काय में उत्पन्न होता है, वह स्थावर नामकर्म है।

26. सुभग नामकर्म-रूपवान् हो वा कुरूप हो, जिस कर्म के उदय से अन्य प्राणी उससे प्रीति करते हैं, जो सबको प्यारा लगता है, वह सुभग नामकर्म है।

27. दुर्भग नामकर्म-रूपवान् सौंदर्यखान होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरों को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करे, किन्तु जो दूसरों को अप्रीति का कारण होता है, अप्रीति सा प्रतीत होता है, वह दुर्भग नामकर्म है।

28. सुस्वर नामकर्म-जिस कर्म के उदय से अन्य जनों के मन को मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हो, जिसका स्वर सबको कर्णप्रिय लगे, वह सुस्वर नामकर्म है।

29. दुःस्वर नामकर्म-जिसके उदय से कर्कश, अमनोज्ञ, कर्णकटु स्वर की प्राप्ति हो, वह दुःस्वर नामकर्म है।

30. शुभ नामकर्म-जिसके उदय से शरीर देखने या सुनने पर प्राणी का शरीर रमणीय प्रतीत हो, वह शुभ नामकर्म है।

31. अशुभ नामकर्म-शुभ से विपरीत अशुभ है अर्थात् देखने व सुनने वाले को प्राणी का शरीर रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह अशुभ नामकर्म है।

32. सूक्ष्म नामकर्म-सूक्ष्म शरीर की रचना का कर्त्ता सूक्ष्म शरीर नामकर्म है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्म नामकर्म है।

33. स्थूल नामकर्म-जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है, वह स्थूल नामकर्म है। जो किसी से रुकता नहीं किसी को रोकता नहीं, जिसका किसी के द्वारा घात नहीं, वह सूक्ष्म नामकर्म है, उससे विपरीत स्थूल नामकर्म है।

34. पर्याप्ति नामकर्म-जिसके उदय से आत्मा अंतर्मुहूर्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है, पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं। आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति, ये छह पर्याप्तियाँ हैं।

प्रश्न–श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय होने पर वायु का निष्क्रमण और प्रवेशात्मक फल होता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय से उदरस्थ वायु बाहर निकलती है और बाहर की वायु को आत्मा भीतर खींचती है और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का भी यही लक्षण है अतः इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

उत्तर–इन्द्रिय के विषय और अविषय की अपेक्षा दोनों में भेद है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्व संसारी जीवों के होती है, अतीन्द्रिय है-कान या स्पर्श से अनुभव में नहीं आती, परन्तु उच्छ्वास नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव के जो शीत, उष्ण आदि से जनित दुःख के कारण लंबे उच्छ्वास निःश्वास होते हैं और जो श्रोत्र इन्द्रिय, स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होते हैं, उनके द्वारा ग्राह्य होते हैं अर्थात् श्वासोच्छ्वास कर्म का कार्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होते हैं, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति इन्द्रियों के गम्य नहीं है, यह इन दोनों में अंतर है।

35. **अपर्याप्ति नामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव आहारादि छहों पर्याप्तियों में से किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, पर्याप्तियों को पूर्ण करने में असमर्थ होता है, वह अपर्याप्ति नामकर्म है।

36. **स्थिर नामकर्म**–स्थिर भाव का निवर्तक स्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है। अर्थात् अंग-उपांग स्थिर बने रहते है, कृश नहीं होते है, वह स्थिर नामकर्म है।

37. **अस्थिर नामकर्म**–स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है अर्थात् जिस कर्म के उदय से एक आदि थोड़े से उपवास करने पर या साधारण शीत उष्ण आदि से ही शरीर में अस्थिरता आ जाती है, या शरीर के अंगोपांग कृश हो जाते हैं, वह अस्थिर नामकर्म हैं।

38. **आदेय नामकर्म**–जिस कर्म के उदय से दृष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है, वह आदेय नामकर्म है।

39. **अनादेय नामकर्म**–जिसके उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है, वह अनादेय नामकर्म है।

प्रश्न-तैजस नाम का सूक्ष्म शरीर है, उसके निमित्त से शरीर में प्रभा होती है, आदेय नामकर्म के निमित्त से नहीं?

उत्तर-सूक्ष्म तैजस शरीर निमित्तक सर्व संसारी जीवों के होने वाली साधारण कांति आदेय नहीं है, यदि सूक्ष्म तैजस शरीर के निमित्त से होने वाली शरीर की कांति को आदेय मानेंगे तो सर्व संसारी जीवों के शरीर की प्रभा में अविशेषता का प्रसंग आयेगा क्योंकि वह सर्व संसारी जीवों में साधारण है अतः आदेय नामकर्म के उदय से होने वाला लावण्य एवं सौंदर्य पृथक् है।

40. **यशस्कीर्ति नामकर्म**-पुण्य गुणख्यापन (प्रसिद्धि) में कारण कर्म यशस्कीर्ति नामकर्म है। पुण्य गुणों का ख्यापन जिस कर्म के उदय से होता है, उसको यशस्कीर्ति नामकर्म जानना चाहिए।

प्रश्न-यश और कीर्ति इन दोनों में अविशेषता होने से यशस्कीर्ति कहना पुनरुक्त दोष है?

उत्तर-यश का अर्थ गुण है और कीर्ति का अर्थ विस्तार है। अर्थात् जो गुणों का विस्तार करे, वह यशकीर्ति है अतः यश और कीर्ति दोनों एकार्थवाची नहीं है।

41. **अयशस्कीर्ति नामकर्म**-यशस्कीर्ति से विपरीत पाप दोषों को ख्यापन करने वाली अर्थात् अपयश को विस्तरित करने वाली अयशस्कीर्ति है।

42. **तीर्थंकर नामकर्म**-आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थंकर कर्म प्रकृति है, जिसके उदय से अचिन्त्य विशेष विभूतियुक्त आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है, उसको तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति समझना चाहिए। (तत्त्वार्थवार्तिके, पृ.न.481)

गोत्रकर्म के भेद

उच्चैर्नीचैश्च। (12)

गोत्रकर्म Family determining karma is of 2 kinds:

1. **उच्च गोत्र-High.**
2. **नीच गोत्र-Low.**

उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं।

उच्च और नीच ये दो विशेषण होने से गोत्र कर्म दो प्रकार का है-उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

(1) **उच्च गोत्र**-जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है। जिस कर्म के उदय से लोकपूजित महत्त्वशाली इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरूवंश, हरिवंश और ज्ञानी आदि विशेष कुल में जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है।

(2) **नीच गोत्र**-निन्दनीय कुल में जन्म होना नीच गोत्र है। जिस कर्म के उदय से निन्दनीय, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुःखित, परम्परा से नीचे आचरण करने वाले और हीनकुल में प्राणियों का जन्म होता है वह नीच गोत्र है, उसे नीच गोत्र समझना चाहिये।

अन्तराय कर्म के भेद

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्। (13)

अन्तराय Obstructive karma is of 5 kinds as it obstruts.

1. **दानान्तराय**-Charity.
2. **लाभान्तराय**-Gain.
3. **भोगान्तराय**-Enjoyment of consumable things
4. **उपभोगान्तराय**-Enjoyment of non consumable things.
5. **वीर्यान्तराय**-Exercise of one's capacities power.

(1) **दानान्तराय**-दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से दानान्तराय आदि व्यपदेश होते हैं। जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी दे नहीं सकता दानान्तराय है।

(2) **लाभान्तराय**-लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता है, वह लाभान्तराय है।

(3) **भोगान्तराय**-जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं कर सकता वह भोगान्तराय कर्म है।

(4) **उपभोगान्तराय**-उपभोग की इच्छा होने पर भी जिसके उदय से वस्तु का उपभोग कर नहीं सकता, वह उपभोगान्तराय है।

(5) वीर्यांतराय-कार्य करने का उत्साह होते हुए भी जिसके उदय से निरूत्साहित हो जाता है, वह वीर्यांतराय कर्म है।

ये दानान्तराय आदि पाँच अन्तराय कर्म के भेद है।

प्रश्न-भोग और उपभोग दोनों ही सुखानुभव में निमित्त है अतः इन दोनों में अविशेषता होने से अभेदत्व (भेद नहीं) है?

उत्तर-यद्यपि भोग और उपभोग दोनों सुखानुभव निमित्त हैं तथापि एक बार भोगने में आने वाली गंध, माला, स्नान, अन्न-पानादि वस्तुओं में भोग व्यपदेश (संज्ञा) होता है (भोग है, ऐसा व्यवहार होता है) और शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ वाली वस्तुओं में आदि बार-बार भोगने में आने वाली वस्तुओं में उपभोग-व्यपदेश होता है। इस प्रकार आदि कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या कही है। फलविशेष की अपेक्षा ज्ञानावरण और नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात भी होती हैं।

स्थितिबंध का वर्णन

आदितस्तिसृणामन्तरायस्यचत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परास्थितिः। (14)

The maximum duration of the 3 form the first, ज्ञानावरणीय knowledge obsucuring, दर्शनावरणीय conation obscuring and वेदनीय feeling karmas and of obstructive karmas is 30 crore x crore सागर sagaras.

आदि की तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चार की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा-कोटि सागरोपम है। यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के हैं। अन्य एकेन्द्रिय आदि के ज्ञानावरण आदि का उत्कृष्ट स्थितिबंध आगम से जानना चाहिये। जैसे-एकेन्द्रिय पर्याप्त के ज्ञानावरण आदि का उत्कृष्ट स्थितिबंध 3/7 सागर (एक सागर के सात भागों में से तीन भाग) प्रमाण हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण हैं। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक के पचास सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण हैं। चतुरिन्द्रिय पर्याप्त के सौ सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण हैं। असंज्ञी

पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के अन्तः कोटाकोटि सागर उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय अपर्याप्त के पल्योपम के असंख्यात भाग कम स्वपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण हैं। इसी प्रकार दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अपनी-अपनी पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम हैं।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्ततिर्मोहनीयस्य। (15)

The maximum duration of मोहनीय Deluding karma is 70 crore x crore sagars.

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। सागरोपमकोटीकोटयः परास्थितिः इसका अनुवर्तन ऊपर के सूत्र से करना चाहिये। इस मोहनीय कर्म की भी उत्कृष्ट स्थिति का बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है। मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के 70 कोड़ाकोड़ी, एकेन्द्रिय पर्याप्तक के एक सागर, पर्याप्तक दो इन्द्रिय के पच्चीस सागर, पर्याप्तक तीन इन्द्रिय के पचास सागर, पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय के सौ सागर और पर्याप्तक असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट मोहनीय कर्म-स्थिति एक हजार सागर प्रमाण हैं। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण है। दो इन्द्रिय अपर्याप्तक, तीन इन्द्रिय अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम स्व-पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये, अर्थात् अपर्याप्तक दो इन्द्रिय के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पल्य के संख्यातवें भागहीन पच्चीस सागर, अपर्याप्तक तीन इन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन पचास सागर, अपर्याप्तक चतुरिन्द्रि के पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन सौ सागर अपर्याप्तक असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भागहीन एक हजार सागर तथा अपर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय के अन्तः कोटाकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति

विंशतिर्नामगोत्रयोः। (16)

The maximum duration of नाम Nama, body making and Gotra family determining Karmas is 20 (Crore x Crore सागर Sagars for each).

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है। सागरोपम कोटाकोटि स्थिति का ऊपर से अनुवर्तन करना चाहिये, क्योंकि उनका प्रकरण चल रहा है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोड़ाकोड़ी सागर है। एकेन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है। दो इन्द्रिय पर्याप्तक की नामगोत्र की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है चार इन्द्रिय पर्याप्तक की सौ सागर के सौ भागों में से दो भाग प्रमाण है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक की एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक की पल्य के असंख्यातवें भाग कम 2/7 सागर प्रमाण है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवें भाग से कम स्वपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति ही इनकी उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये।

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः। (17)

The maximum duration of आयु Ayu Age karma is 33 सागर Sagars.

आयु की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम प्रमाण है। पुनः 'सागरोपम' शब्द का ग्रहण कोडाकोडी की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् सागरोपम का प्रकरण होने पर भी सूत्र में पुनः सागरोपम का ग्रहण कोड़ाकोड़ी सागर की व्यावृत्ति (निराकरण) के लिये

है। उत्कृष्ट स्थिति का अनुवर्तन करना चाहिये, अर्थात् 'परा' शब्द का ग्रहण प्रकरण से करना चाहिये। संज्ञी पर्याप्तक के आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तथा शेष जीवों की उत्कृष्ट आयु कोटि पूर्व प्रमाण है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य। (18)

The minimum duration of वेदनीय feeling karma is 12 मुहूर्त=12x48 मिनट minutes.

वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति बारह मुहूर्त है।

सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त प्रमाण है। अर्थात् वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबंध साम्पराय गुणस्थान में होता है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ। (19)

That of नाम Body making and Gotra गोत्र Family determining is 8 मुहूर्त muhurtas.

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

यहाँ पर भी सूक्ष्म साम्पराय इस वाक्यविशेष का सम्बन्ध करना चाहिये। और 'अपरास्थिति' इनका भी अनुवर्तन करना आवश्यक है, अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति का बंध सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवे गुणस्थान में होता है।

शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता। (20)

of all the rest the minimum is one sided which ranges from 1

समय and one आवली Avali at the lowest to 48 minutes 1 समय samaya. शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है।

'अपरा' इसका प्रकरण से अनुवर्तन करना चाहिये। दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय की जघन्य स्थिति का बंध सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान में है। मोहनीय का जघन्य स्थिति बंध अनिवृत्ति बादर साम्पराय नामक नवम गुणस्थान में है और आयु कर्म का जघन्य स्थिति बंध संख्यात वर्ष की आयु वाले (कर्मभूमियाँ) तिर्यंच और मनुष्यों में होता है। अर्थात् अंतर्मुहूर्त आयु वाले कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंच हो सकते हैं।

अनुभव का लक्षण

विपाकोऽनुभवः। (21)

अनुभव is the maturing and fruition of karmas. विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति पड़ना ही अनुभव है।

नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है। अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के पूर्वास्त्रव के कारण तीव्र, मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद जनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। यही विपाक अनुभव कहा जाता है। शुभ परिणामों की प्रकर्षता में शुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अशुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ परिणामों की प्रकर्षता में अशुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट और शुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बंध होता है। वही अनुभाग अर्थात् कर्मों के फल विपाक का कारणवश दो प्रकार से होता है स्वमुख से और परमुख से। सर्व मूल कर्म प्रकृतियों का विपाक तो स्वमुख से ही होता है, परन्तु उत्तर कर्म प्रकृतियों में आयु, दर्शनमोह और चारित्रमोह को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियों का विपाक परमुख से भी होता है और स्वमुख से भी। क्योंकि नरकायु अपने स्वमुख (नरकायु रूप) से ही फल देती है, तिर्यंचायु मनुष्यायु वा

देवायु रूप से नहीं। दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय रूप से वा चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय रूप से फल नहीं दे सकती, अतः आयु, दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय कर्म का विपाक स्वमुख से ही होता है।

स यथानाम। (22)

The fruition is according to the name of the karma e.g. ज्ञानावरणीय Knowledge obscuring karma prevents the acquisition of knowledge and so on.

वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है। ज्ञानावरणादि कर्मों के नामानुसार ही फल प्राप्त होता है। जैसे-ज्ञानावरण का फल-विपाक ज्ञान का अभाव है, दर्शनावरण कर्म का विपाक दर्शन-शक्ति का उपरोध है। सुख-दुःख का अनुभव कराना वेदनीय का फल-विपाक है। आत्मा को मोहित करना मोहनीय का कार्य है। भव में रोककर रखना आयु का काम है। अनेक प्रकार से शरीर की रचना -करना अर्थात् 'आसमन्तात् एति इति आयु', नरकादि पर्यायों को प्राप्त कराने वाली आयु है। नामकरण वा आकार विशेष कारक नाम है। उच्च-नीच का व्यवहार करने - वाला गोत्र और दाता एवं पात्र के मध्य में विघ्नकारक अन्तराय है। इस प्रकार सर्व-प्रकृतियों के सर्व विकल्पों के अनुभाग का ज्ञान अपने-अपने अन्वर्थ नाम के अनुसार होता है।

फल दे चुकने के बाद क्या होता है?

ततश्च निर्जरा। (23)

After that fruition the karmas fall off.

इसके बाद निर्जरा होती है।

पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना ही निर्जरा है। आत्मा को सुख वा दुःख देकर ओदनादि (भातादि) आहार के मल की तरह स्थिति के क्षय हो जाने के कारण अवस्थान का अभाव होने से पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना अर्थात् नष्ट हो जाना ही निर्जरा है।

वह निर्जरा दो प्रकार की है-विपाकजा और अविपाकजा। अनेक जाति विशेष से उद्वेलित चार गति रूप संसार महासमुद्र में चिरकाल से परिभ्रमण करने वाले प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिक भावों से उदयावलि स्रोत से क्रम से यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका साता-असाता वा अन्यतर जिस रूप से बंध हुआ है, उसका उस रूप में स्वाभाविक फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना, उदयआगत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना ही विपाकजा निर्जरा है। जो कर्म विपाक काल को प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् जिन कर्मों का अभी उदय काल नहीं आयाहै, उन्हें भी औपक्रमिक क्रिया (तप) विशेष के सामर्थ्य से अनुदीर्ण कर्मों को भी बलात् उदयावलि में लाकर पका देना, उदयावलि में लाकर उनका अनुभव करना अविपाक निर्जरा है, जैसे कि, कच्चे आम, पनस आदि फलों को प्रयोग से पका दिया जाता है

निमित्तान्तरों के समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के नवम अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा होती है, अतः 'च' शब्द से संवर के प्रकरण में कहे जाने वाले 'तप' का संग्रह हो जाता है। अर्थात् कर्म फल देकर भी झड़ जाते हैं और तप से भी।

ये कर्म प्रकृतियाँ घाती और अघाती के भेद से दो प्रकार की हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातियाँ हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये अघातियाँ कर्म हैं। सर्वघाती और देशघाती के भेद से घातियाँ कर्म दो प्रकार का है। उनमें केवलज्ञानावरणीय, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण, अनंतानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये बारह कषाय और दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व), ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। ज्ञानावरण के चार (मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानावरण), दर्शनावरण की चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण, ये तीन, अन्तराय पाँच (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-शक्ति की बाधक), संज्वलन कषाय की चार और नौ कषाय, ये देशघाती प्रकृतियाँ हैं, अवशिष्ट (बची हुई) अघाती कर्म प्रकृतियाँ हैं। शरीर नामकर्म से लेकर स्पर्श पर्यंत नाम प्रकृतियाँ, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिरअस्थिर,

शुभ-अशुभ और निर्माण, ये 62 कर्म प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं, चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, आयुकर्म भव धारण कराता है अतः चार आयुकर्म भवविपाकी हैं और शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं। इस प्रकार सूत्र 21 से सूत्र 23 तक में अनुभवबंध का व्याख्यान किया।

प्रदेशबंध का वर्णन

प्रदेशबंध का स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। (24)

According to the nature cused but their names, from all round, due to the difference in the viberations योग yoga in the soul activity, not percetible by the senses, the karmic molecules enter and become one and stay with every moment to each soul.

कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रति समय योगविशेष से सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनंतानंत पुद्गल परमाणु सब आत्म प्रदेशों में सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं।

इस सूत्र में प्रदेशबंध के कारण प्रदेशबंध के समय प्रदेशों की संख्या आदि का वर्णन किया गया है। आप लोग को ज्ञात है कि बंध चार प्रकार के होते हैं। (1) प्रकृति बंध (2) प्रदेश बंध (3) स्थिति बंध (4) अनुभाग बंध। अभी तक पहले के तीन प्रकार के बंधों का वर्णन हो गया है। प्रकरण प्राप्त चौथे प्रदेश बंध का वर्णन यहाँ किया गया है। नाम प्रत्यय का अर्थ यह है कि, अपने नाम के अनुसार सर्व प्रकृतियाँ अपने-अपने अनुभाग के अनुसार बंधती है। ''सर्वतः'' शब्द से बताया गया कि संसारी जीव के प्रत्येक भव में प्रत्येक समय में कर्मबंध होता है। अर्थात् एक जीव के भूत के अनंत भव, वर्तमान भव एवं भविष्यत् के संख्यात, असंख्यात एवं अनंत भव में कर्मबंध होते हैं। जब तक जीव अबंध अवस्था (13वाँ गुणस्थान 14वाँ और सिद्धावस्था) को प्राप्त नहीं करता है तब तक कर्मबंध होते रहते हैं।

'योग विशेषात्' इस शब्द से यह निर्देश किया गया कि मन, वचन, काय के परिस्पन्दन से जो आत्मप्रदेश में परिस्पन्दन होता है उससे कर्मास्रव होता है। 'सूक्ष्म ' शब्द से यह निर्देश किया गया है कि कर्मयोग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते हैं। एक क्षेत्रावगाहों से सिद्ध होता है कि आत्मप्रदेश और कर्म पुद्गल वर्गणाओं का अवकाश एक ही क्षेत्र में होता है भिन्न-भिन्न क्षेत्र में नहीं। स्थिति शब्द से निर्देश किया गया है कि स्थिर कर्म परमाणु ही कर्म रूप परिणमन करते हैं। अस्थिर (चलते हुए, गमन करते हुए) कर्म परमाणु कर्म रूप पर्याय में परिणमन नहीं करते हैं।

'सर्व आत्म प्रदेशेषु' विशेषण से यह कहा गया कि आत्मा के एक दो आदि प्रदेशों में कर्म वर्गणाएँ नहीं बंधती हैं। परन्तु आत्मा के सम्पूर्ण असंख्यात प्रदेशों में कर्म वर्गणाएँ बंधकर स्थित रहती हैं। 'अनंतानंत प्रदेश' शब्द से यह सिद्ध किया गया कि कर्म परमाणु अनंतानंत ही एक साथ बंधते हैं।

ये न तो संख्यात है न असंख्यात है और न अनंत है, अपितु अनंतानंत है, इसका प्रतिपादन करने के लिए 'अनंतानंत' शब्द का ग्रहण है। एक समय में आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने वाले ये पुद्गल स्कन्ध अभव्यों से अनंत गुणे और सिद्धों के अनंतवें भाग प्रमाण हैं। वे घनांगुल के असंख्येय भाग रूप क्षेत्रावगाही एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात समय की स्थिति वाली पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने योग्य पुद्गल वर्गणाएँ आत्मा के द्वारा योगों के कारण आत्मसात् की जाती हैं वह प्रदेश बंध हैं।

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं।
बंधदि सगहेदूहिं य अणादियं सादियं उभयं।। (185) गो.क

जघन्य अवगाहना रूप एक क्षेत्र में स्थित और कर्म रूप परिणमन के योग्य आदि अथवा सादि अथवा दोनों स्वरूप जो पुद्गल द्रव्य है, उसको यह जीव अपने सब प्रदेशों से मिथ्यात्वादिक के निमित्त से बांधता है अर्थात् कर्म रूप पुद्गलों का आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना प्रदेश बंध है। यहाँ पर सूक्ष्म निगोद जीव के असंख्यातवें भाग अवगाहना (जगह) को एक क्षेत्र जानना अथवा पंचम अध्याय में सविस्तार से

वर्णन किया है। जिस आकाश प्रदेश में एक परमाणु अवकाश लेता है उसे एक प्रदेश कहते है ऐसे ही आत्मा के अविभागी अंश को प्रदेश कहते हैं।

सूत्र में एक समय में जो प्रदेश बंध होते हैं उसकी संख्या अनंतानंत दी गई है। उस अनंतानंत का स्पष्टीकरण करने के लिए गोम्मट्टसार में कहा है-

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।

समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं।। (4)

यह आत्मा सिद्ध जीव राशि के जो कि अनंतानंत प्रमाण कही है अनंतवें भाग और अभव्य जीव राशि जो जघन्य युक्तानंत प्रमाण है उससे अनंत गुणे समय प्रबद्ध को अर्थात् एक समय में बंधने वाले परमाणु समूह को बांधता है-अपने साथ सम्बद्ध करता है। परन्तु मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योगों की विशेषता से (कमती बढ़ती होने से) कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है। परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम सकम्प (चलायमान) होते हैं तब कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं। जैसे अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी पर कम। सम्पूर्ण विश्व में 23 (तेईस) वर्गणाएँ खचाखच भरी हुई है। उसमें से एक वर्गणा है कार्माण वर्गणा। कार्माण वर्गणा ही कर्म रूप में परिणमन करती है। तथापि सभी कार्माण वर्गणा एक साथ कर्म रूप में परिणमन नहीं करती हैं। कार्माण वर्गणा में से कुछ कार्माण वर्गणाएँ ही एक समय कर्म रूप में परिणमन करती है।

कहा भी है-

एयाणेयक्खेत्तटिठयरूविअणंतिमं हवे जोग्गं।

अवसेंस तु अजोग्गं सादि अणादी हवे तथ्था।। (187)

एक तथा अनेक क्षेत्रों में ठहरा हुआ जो पुद्गल द्रव्य उसके अनंतवें भाग पुद्गल परमाणुओं का समूह कर्म रूप होने योग्य हैं, और बाकी अनंत बहुभाग प्रमाण कर्म रूप होने के अयोग्य है। इस प्रकार 1. एक क्षेत्र स्थित योग्य, 2. एक क्षेत्र स्थित अयोग्य, 3. अनेक क्षेत्र स्थित योग्य, 4. अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य ये चार भेद हुए। इन चारों में भी एक-एक के सादि और अनादि भेद जानना।

सगसगखेत्तगयस्स य अणंतिमं जोग्गदव्वगयसादी।

सेसं अजोग्गसंगयसादी होदित्ति णिहिट्ठं।। (188)

अपने-अपने एक तथा अनेक क्षेत्र में रहने वाले पुद्गल द्रव्य के अनंतवें भाग योग्य सादि द्रव्य है, और इससे बाकी अनंत बहुभाग अयोग्य सादि द्रव्य है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अनादि द्रव्य का प्रमाण-

सगसगमादिविहीणे जोग्गाजोग्गे य होदि णियमेण।

जोग्गाजोग्गाणं पुण अणादिदव्वाण परिमाणं ।। (190)

एक क्षेत्र में स्थित योग्य-अयोग्य द्रव्य तथा अनेक क्षेत्र में मौजूद योग्य व जोग्गाजोगाणं पुण अणादिदव्वाण अयोग्य द्रव्य का जो परिणाम है उसमें अपना-अपना सादि द्रव्य का प्रमाण घटाने से जो बचे वह क्रम से एक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य का एक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य का, अनेक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य का, अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य का परिमाण जानना।

यह जीव मिथ्यात्वादिक के निमित्त से समय-समय प्रति कर्मरूप परिणमने योग्य समय प्रबद्ध प्रमाण परमाणुओं को ग्रहण कर कर्मरूप परिणमाता है। उनमें किसी समय तो पहले ग्रहण किये जो सादि द्रव्य रूप परमाणु हैं उसका ही गहण करता है किसी समय में अभी तक ग्रहण करने में नहीं आये ऐसे अनादि द्रव्य रूप परमाणुओं का, और कभी दोनों का ग्रहण करता है।

समय प्रबद्ध का प्रमाण-

सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं।

सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं।। (191)

वह समय प्रबद्ध, सब अर्थात् पाँच प्रकार रस, पाँच प्रकार वर्ण, दो प्रकार गंध तथा शीतादि चार अन्त के स्पर्श, इन गुणोकर सहित परिणमता हुआ, सिद्ध राशि के अनंतवें भाग अथवा अभव्य राशि से अनंत गुणा कर्मरूप पुद्गल द्रव्य जानना। एक समय में ग्रहण किया हुआ समय प्रबद्ध आठ मूल प्रकृति

रूप परिणमता है उसमें एक-एक मूल प्रकृति का बँटवारा जिस प्रकार होता है उस प्रकार को बताते हैं-

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।

घादितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये।। (192)

सब मूल प्रकृतियों मे आयुकर्म का हिस्सा थोड़ा है। नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा आपस में समान है, तो भी आयुकर्म के बाँट से अधिक है। अन्तरायदर्शनावरण-ज्ञानावरण इन तीन घातियाँ कर्मों का भाग आपस में समान है, तो भी नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय से भी अधिक वेदनीय कर्म के भाग है। जहाँ जितने कर्मों का बंध हो वहाँ उतने ही कर्मों का बाँटकर लेना।

वेदनीय कर्म का अधिक भाग होने में कारण-

सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगोत्ति वेयणीयस्स।

सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदित्ति णिदिट्ठं।। (193)

वेदनीय कर्म सुख-दुःख का कारण है, इसलिये इसकी निर्जरा भी बहुत होती है। इसीलिये सब कर्मों से बहुत द्रव्य इस वेदनीय का ही जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

अन्य कर्मों का द्रव्य विभाग स्थिति के अनुसार-

सेसाणं पयडीणं ठिदिपडिभागेण होदि दव्वं तु।

आवलिअसंखभागो पडिभागो होदि णियमेण।। (194)

वेदनीय के सिवाय बाकी सब मूल प्रकृतियों के द्रव्य का स्थिति के अनुसार बँटवारा होता है। जिसकी स्थिति अधिक है उसका अधिक, कम को कम, तथा समान स्थिति वाले को समान द्रव्य हिस्सा में आता है, ऐसा जानना और इनके भाग करने में प्रतिभागहार नियम से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना।

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उपरोक्त सिद्धांत को ही निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है-

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं।। (64)

जैसे यह लोक पृथ्वीकाय आदि पाँच प्रकार के सूक्ष्म स्थावर जीवों के कज्जल से पूर्ण भरी हुई कज्जलदानी की तरह बिना अंतर के भरा हुआ है उसी तरह यह लोक अपने सर्व असंख्यात प्रदेशों में दृष्टिगोचर व अदृष्टिगोचर नाना प्रकार के अनंतानंत पुद्गल स्कंधों से भी भरा है। यहाँ प्रकरण में जो कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्कंध हैं वे वहाँ भी उपस्थित हैं जहाँ आत्मा हैं। वे वहाँ बिना अन्यत्र से लाये हुए उपस्थित हैं। पीछे बंधकाल में और भी वर्गणाएँ आवेंगी। यहाँ यह तात्पर्य है कि यद्यपि वे वर्गणाएँ जहाँ आत्मा है वहाँ दूध-पानी की तरह कूट-कूटकर भरी हुई हैं।

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढ़ा।। (65)

आत्मा वास्तव में संसार अवस्था में पारिणामिक चैतन्य स्वभाव को छोड़े बिना ही अनादि बंधन द्वारा बद्ध होने से अनादि मोह-राग-द्वेष द्वारा स्निग्ध ऐसे अविशुद्ध भावों रूप से ही विवर्तन को प्राप्त होता है (परिणमित होता है)। वह (संसारस्थ आत्मा) वास्तव में जहाँ और जब मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप ऐसे अपने भाव को करता है, वहाँ और उस समय उसी भाव को निमित्त बनाकर पुद्गल अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में (विशिष्टता पूर्वक) परस्पर-अवगाह रूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ

सद्वेद्यशुभार्युनामगोत्राणि पुण्यम्। (25)

पुण्य or meritorious karmas are the following:

1. **सद्वेद्य-Pleasure bearing.**
2. **शुभायु-Good age karma.**
3. **शुभनाम-Good bod making karma.**
4. **शुभगोत्र-High family determining.**

साता वेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं।

शुभ का ग्रहण आयु आदि का विशेषण है। शुभ प्रशस्त ये एकार्थवाची हैं। उस शुभ का ग्रहण आयु आदि का विशेषण है। शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

शुभ आयु तीन प्रकार की हैं-तिर्यंगायु, मनुष्यायु और देवायु। यद्यपि तिर्यंच गति अशुभ है परन्तु तिर्यंचायु शुभ है क्योंकि तिर्यंच गति में जाना कोई नहीं चाहता है अतः 'आयु' पुण्य प्रकृति और तिर्यंच गति पाप प्रकृति है।

सैंतीस नाम प्रकृतियाँ शुभ हैं। मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक आदि पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर नाम से सैंतीस नामकर्म की प्रकृतियाँ शुभ हैं। उच्च गोत्र और साता वेदनीय मिलकर ये सर्व बयालीस प्रकृतियाँ शुभ हैं, या पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

पाप प्रकृतियाँ

अतोऽन्यत्पापम्। (26)

The karmas other than these are पाप papa or demeritarious karmas.

इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पापरूप हैं।

पुण्य नामक कर्म प्रकृति के समूह से अन्य प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं, वे 82 हैं। पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, 26 मोहनीय की, अन्तराय की पाँच, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, ये चार जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन

को छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से स्पर्शादि दो प्रकार के हैं, उनमें अप्रशस्त स्पर्श, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गंध, अप्रशस्त वर्ण, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुभंग, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, ये 34 प्रकृतियाँ नामकर्म की तथा नरकायु, असाता वेदनीय और नीच गोत्र ये मिलकर बयासी (82) पाप प्रकृतियाँ हैं।

तनावः खुद पर नियन्त्रण घटता है

समस्या से जुड़ा एक ठोस कदम भी तनाव घटाता है

-डॉ. रितु गौर डायरेक्टर, सक्षम योग एवं न्यूरोपैथी ट्रीटमेंट, नई दिल्ली

रोजाना का तनाव भले ही मामूली हो, लेकिन यह जिंदगी के फ्लो को बाधित करने की क्षमता रखता है। जनरल पीएनएएस के अनुसार तनाव का हल्का स्तर भी भावनाओं को नियंत्रित करने की क्षमता को प्रभावित कर सकता है। निरंतर बना रहने वाला, तनाव मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य दोनों को गंभीर नुकसान पहुंचाता है।

चीजों को व्यवस्थित करें-कमरा, बुक सेल्फ या फिर अव्यवस्थित बिस्तर को भी यदि व्यवस्थित करते हैं तो यह मूड को बेहतर कर सकता है। दरअसल इन कामों को करने के लिए तुरंत प्लानिंग के साथ ही शारीरिक मेहनत की भी जरूरत होती है। दोनों ही तनाव कम करने में बेहद कारगर हैं।

पैर पर ध्यान लगाएं-जूते उतारकर खड़े हो जाएँ। कंधों को ढीला छोड़ दें। अब सांस लेते समय दोनों अंगूठों को और फिर जमीन पर रखे पूरे पैर को ध्यान से देखें। ध्यान का यह तरीका शरीर को नियंत्रित करने में मदद करता है।

एक काम रद्द करें-कोई ऐसा काम जिसे पूरी तरह से टाल सकते हों और जिसका खास असर न हो उसे पूरी तरह से स्किप कर दें। और उसके बदले कुछ न करें। कई बार कुछ न करने से भी शरीर की बैटरी रिचार्ज होती है।

समस्या से संबंधित एक कदम सशक्त बनाता है-जिस भी कारण से तनाव महसूस हो रहा है उसके निराकरण से संबंधित कोई एक ठोस कदम जरूर उठाएं। समस्या के निराकरण के लिए उठाया गया कदम मन में बेहतरी की भावना पैदा करता है। यह फीलिंग आपको अंदर से सशक्त बनाती है।

सोशल मीडिया एक्सपोजर घटाएं-नकारात्मक खबरें शारीरिक और मानसिक ऊर्जा घटाती हैं। लगातार सोशल मीडिया स्क्रॉलिंग से मस्तिष्क दुनिया भर की घटनाओं को नियंत्रित करने की कोशिश करता है जबकि वह ऐसा कर नहीं पाता। इस स्थिति में सोशल मीडिया स्क्रॉलिंग को दिन में 25 मिनट तक सीमित करने का प्रयास करें।

विज्ञान हेतु मार्गदर्शन-

कर्म साम्राज्य से परे आध्यात्मिक राज्य

(चालः 1. मन है छोटासा... 2. इक परेदशी...)

देखो! देखो! देखो कर्म को देखो! तीन लोक तीन काल के देखो!!
सूक्ष्म से ले स्थूल से देखो! कर्म युक्त कर्म रिक्त जीवों में देखो!! (1)
अनादि काल से जीव कर्म सहित, जिससे जीव करते पंच परिवर्तन।
चतुर्गति चौरासी लक्ष योनियाँ होती, वैज्ञानिक ये सभी अभी नहीं जानते।। (2)
वे न जानते शुद्ध व अशुद्ध जीव, जीवों की उत्पत्ति कारण व स्वभाव।
वे हार्मोन व जीनोम तक जानते, इससे परे न कर्माणु चेतन जानते।। (3)
क्यों है जीव? तथा कहाँ-कहाँ है जीव? क्या है स्वभाव व उद्देश्य व भविष्य?
क्यों है जन्म-जरा-मरण-सुख-दुःख? क्या है क्रमविकास व कहाँ तक विकास?(4)
इन सब का उत्तर मिलेगी इस कृति में, सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम ग्रन्थों से।
इन्द्रिय-बुद्धि-यंत्रों से परे ये ज्ञान, श्रद्धा-प्रज्ञा-अनुभव-प्रयोग ज्ञान।। (5)
भाव-द्रव्य-नोकर्म रूप प्रमुख, संख्यात-असंख्यात-अनन्त तक।
इससे ही सभी अशुद्ध जीव संयुक्त, तन-मन-इन्द्रियाँ इससे ज्ञात।। (6)

भावकर्म है राग-द्वेष मोह प्रमुख, द्रव्यकर्म है कर्मपरमाणु अनन्तानन्त।
नोकर्म हैं सम्पूर्ण जीवों के शरीर, इससे परे शुद्धजीव सच्चिदानन्द।। (7)
शुद्ध बनने हेतु ही सभी धर्मसाधना, समता-शान्ति से आत्मा को शुद्ध करना।
ध्यान-अध्ययन-तप-त्याग करना, निस्पृह-निराडम्बर-वीतराग बनना।। (8)
इससे आत्मशक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती, जिससे कर्मशक्ति क्षीण से क्षीण होती।
अन्त में होते सम्पूर्ण कर्मों का क्षय, जिससे जीव बनते ''शुद्ध-बुद्ध-आनन्द''।।(9)
यह ही सभी जीवों की परमावस्था, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य की दशा।
इसके अनन्तर शुद्ध जीव न होते अशुद्ध, ''शुद्ध-बुद्ध-आनन्द'' बनना 'कनक'
का लक्ष्य।। (10)

योगेन्द्रि गिरि दि-31/7/2023, रात्रि-10.15

संदर्भ-

स्वशुद्धात्मा का ध्यान

1. राग द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ पञ्चेन्द्रिय विषय व्यापार मनो वचन काय कर्म भाव कर्म द्रव्य कर्म नोकर्म ख्याति पूजा लाभ दृष्ट श्रुतानुभूत भोगाकांक्षा रूप निदान माया मिथ्यात्व शल्यत्रय गारवत्रय दण्डत्रयादि-विभाव-परिणामशून्योऽहं।। (1) ध्यान सूत्राणि

मेरा आत्मा राग-द्वेष मोह से रहित है, क्रोध-मान-माया-लोभ-कषाय रहित है, पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत व्यापारों (स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द श्रवण) से रहित है, मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं से रहित है, राग द्वेष आदि भावकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म से रहित है। अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ अपने लिए इष्टभोग, सुने हुए या अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षा से रहित है अर्थात् निदान शल्य से रहित है, माया (मायाचारी) तथा मिथ्यादर्शन शल्य से रहित है, इस प्रकार (मेरा आत्मा) तीनों शल्यों से रहित रस गारव-ऋद्धि गारव और सात गारव इन तीनों गारव अर्थात् अभिमानों से रहित है। इस प्रकार मैं समस्त विभाव परिणामों से रहित विभाव परिणति से शून्य हूँ।

स्वभूत-वर्तमान-भविष्य का ध्यान कर रहा हूँ

(बहिरात्मा परे अन्तरात्मा बनकर परमात्मा का ध्यान कर रहा हूँ)

(चालः1. यमुना किनारे... 2.भातुकली...)

करूँ आत्मध्यान तीन प्रकार, भूत वर्तमान भावी प्रकार।
अनन्त भूत में था बहिरात्मा, अभी अन्तरात्मा तो भावी परमात्मा।। (1)
बहिरात्मा में माना स्व को देह, जिससे भ्रमण किया संसार पंचविध।
चौरासी लक्ष योनियों में पाया दुःख, संसार शरीर भोगों में हो आसक्त।। (2)
पंचविधलब्धियों से बना अन्तरात्मा, मुझ में ही समहित ममपरमात्मा।
भले मैं अभी हूँ कर्म संयुक्त, तो भी निश्चय से मैं हूँ सच्चिदानन्द।। (3)
परमात्मा बनना ही मेरा लक्ष्य, इसलिए हूँ ध्यान-अध्ययन रत।
अशुभ त्याग से शुभ में प्रवृत्त, शुभ से शुद्ध बनने हेतु सदा प्रयत्न।। (4)
इस हेतु करूँ मैं शुद्धात्मध्यान, मैं हूँ शुद्ध बुद्ध आनन्द घन।
सच्चिदानन्द हूँ मैं ध्रुव स्वभावी, सत्य शिव सुन्दर मैं हूँ निजानंद।। (5)
सहजानन्द हूँ मैं हूँ परमानन्द, मैं हूँ नित्यानन्द मैं हूँ निजानन्द।
मैं हूँ परमानन्द मैं ज्ञानानन्द, निर्विकल्प निराबाध चैतन्यानन्द।। (6)
अनन्तशक्ति सम्पन्न मैं हूँ ज्ञानार्णव, अनन्त गुण गण सम्पन्न परमशिव।
अतीन्द्रिय अमूर्तिक चिन्मय रूप, अचिन्त्य गुणगण स्वरूप मम।। (7)
चतुर्गति संसार विमुक्त शुद्ध स्वरूप, द्रव्य भावकर्म रहित पूर्णस्वरूप।
राग द्वेष मोह कामक्रोध रहित, ईर्ष्या तृष्णा घृणा विमुक्त रूप।। (8)
जन्मजरा मरण रिक्त अमृत, संकल्प-विकल्प-संक्लेश रिक्त स्वरूप।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि शून्य, भौतिक सत्ता सम्पत्ति वर्चस्व शून्य।। (9)
अष्टविध कर्म रिक्त अष्ट गुण युक्त, अष्टादश दोष रिक्त नवलब्धि रूप।
सप्तभय अष्टमद पंचदेह रिक्त, क्षायिक दर्शन ज्ञान चारित्र युक्त।। (10)
आर्त्त रौद्र ध्यान परे शुभध्यान ध्याऊँ, समता शान्ति विशुद्धि से बढ़ाता जाऊँ।
सुद्रव्यक्षेत्रकाल भव भाव पाऊँ, स्वयं द्वारा स्वयं में ही स्वयं को ध्याऊँ।। (11)
स्वरूप ध्यान से स्वरूप पाऊँगा आगे, साधना से सिद्ध बनूँगा आगे।
परत्याग से पाऊँगा परमात्म रूप, 'कनक' मैं नही हूँ मैं हूँ आनन्द रूप।। (12)

ग.पु.कॉ. सागवाड़ा 4-7-2021 रात्रि-11:25

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।

तस्मै संज्ञानरूपाय नमोस्तु परमात्मने।। (1) इष्टो.

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort-to such an omniscient Paramatma Salutation is offered.

परमात्मा को मेरा नमस्कार हो। परम सर्वोत्कृष्ट अप्रतिहत अव्यावाध होने के कारण समस्त संसारी जीवों से प्रकृष्ट होने से वह परमात्मा परम चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट आत्मा नमस्कार के योग्य है। वह परमात्मा सम्यग्ज्ञान स्वरूप है। समस्त अर्थ का साक्षात्कारी होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु का भी ज्ञान कर लेता है। यह परम उत्कृष्ट ज्ञान समस्त कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के कारण, विकार के त्याग के कारण स्वपर अवबोध रूप सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुआ है।

ऐसे सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्मा को नमन हो। ऐसे परम आराध्य का स्वरूप कहकर उसकी प्राप्ति के उपाय कह रहे हैं। यह परमात्मा अवस्था स्वस्वभाव की प्राप्ति से अर्थात् निर्मल निश्चल चित्त स्वरूप की उपलब्धि से तादात्म परिणति से उपलब्ध होता है। इसका अर्थ है कृतकृत्य होकर स्वरूप में अवस्थित होना। इससे वह स्वयं सम्पूर्ण रलत्रयात्मक हो जाता है। इस अवस्था की उपलब्धि समस्त द्रव्य भाव कर्म जो आत्म पारतंत्र के लिए निमित्तभूत है उसकी शक्ति के विनाश से होती है।

समीक्षाः-जो जिस गुण की उपलब्धि चाहता है वह उसको नमस्कार करता है, जिसके पास ये गुण विद्यमान हो। परमात्मा के गुण को चाहने वाले आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने परमात्मा को इसलिए यहाँ पर नमस्कार किया है।

जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाशमान होते हुए भी घने बादल के कारण उसकी किरणें छिप जाती हैं तथा सूर्य नहीं दिखाई देता है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के अनंतगुण विद्यमान हैं। तथापि कर्मरूपी घने बादल के कारण वे आध्यात्मिक गुण जीव में गुप्त रूप में, सुप्त रूप में, अविकसित रूप में विद्यमान रहते हैं। परंतु जिस प्रकार पवन प्रवाह आदि से बादल हट जाने के बाद, छँट जाने के बाद सूर्य प्रकट हो जाता है और सूर्य रश्मियाँ बिखर जाती हैं, उसी प्रकार रत्नत्रयरूपी साधन से

कर्मरूपी बादल आत्मा से हट जाते हैं जिसके कारण आत्मा के समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं। इस कर्मरहित अवस्था को ही परमात्मावस्था, सिद्धावस्था, आत्मोपलब्धि, परमार्थ सिद्धि, केवलज्ञान घन स्वरूप, सच्चिदानंद स्वरूप, मोक्षावस्था, निर्वाण आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। उपर्युक्त परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना प्रत्येक सम्यग्दृष्टि , मुमुक्षु जीव का परम लक्ष्य, परम उद्देश्य होता है । इसलिए वह उस परमावस्था का श्रद्धान करता है, विश्वास करता है, प्रतीति करता है, परिज्ञान करता है, उसका स्मरण करता है, उसका ध्यान करता है, उसे नमन करता है। इसके माध्यम से वह स्वनिहित आध्यात्मिक शक्तियों का प्रकटीकरण करता है। जिस प्रकार चुम्बक के संपर्क से, उसके घर्षण से लोहा भी चुम्बक बन जाता है; प्रज्ज्वलित दीपक के संपर्क से बुझा हुआ दीपक भी प्रज्ज्वलित हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने समाधितंत्र में कहा भी है-

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवतितादृशः।
वत्तिर्दीपं यथोपास्यं भिन्ना भवति तादृशि।।

अपने आत्मा से भिन्न अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा की उपासना, आराधना करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाता है। जैसे दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानी साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

येन भावेन तद्रुपं ध्यायेतमात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयता याति सोपाधिः स्फटिको यथा।।

जिस भाव से जिस प्रकार यह आत्मा का ध्यान करता है उस स्वरूपमय हो जाता है। जैसे स्फटिक मणि विभिन्न रंगों के सम्पर्क से उस वर्ण रूप परिणमन करता है।

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हत्ध्यानविष्टो भवार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्।।

यह आत्मा जिस भाव से परिणमन करता है वह उस स्वरूपमय हो जाता है। अर्हत् के ध्यान सहित ध्याता स्वयं अर्हत् रूप हो जाता है।

शुद्धात्मा होने का उपाय

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।

द्रव्यादिस्वादि संपत्तावात्मनोप्यात्मता मता।। (2)

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification , in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) Soul is also regarded as pure spirit.

शिष्य प्रश्न करता है कि-

''स्वयं स्वयं की आत्मोपलब्धि किस प्रकार होती है?''

स्वयं आत्मा के द्वारा स्वस्वरूप की उपलब्धि अर्थात् सम्यक्त्व आदि अष्टगुण की प्राप्ति किस प्रकार, किस उपाय से होती है उसके दृष्टांत का अभाव है। इस प्रकार शिष्य की शंका होने पर आचार्य उसका समाधान निम्न प्रकार से देते हैं-

जिस प्रकार सुवर्ण परिणमन करने योग्य उपादान से युक्त सुवर्ण पाषाण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अर्थात् तापन, ताडन, घर्षण, छेदन आदिको प्राप्त करके शुद्ध सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार भव्यजीव भी भव्यात्मा भी स्वद्रव्यादि चतुष्टय को प्राप्त करके निर्मल चैतन्य स्वरूप परमात्मा बन जाता है। भव्य जीव सुस्वद्रव्य, सुस्वक्षेत्र, सुस्वकाल, सुस्वभाव रूपी चतुष्टय को प्राप्त करके शुद्ध आत्म स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। सुशब्द प्रशंसावाची/ प्रशस्तवाची है। उसका अर्थ यह है कि प्रकृत कार्य के लिए जिस द्रव्यादिक की आवश्यकता है उसकी परिपूर्णता है।

समीक्षाः-योग्य सुवर्ण पाषाण भी जब तक योग्य सुवर्णकार, अग्नि आदि निमित्त को प्राप्त नहीं करता है तब तक शुद्ध नहीं बनता है, उसी प्रकार भव्य भी जब तक गुरु उपदेश योग्य काल, उत्तम शरीर उत्तम भाव आदि को प्राप्त नहीं करता है तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है। परन्तु जिस प्रकार अंध सुवर्ण पाषाण को कितना भी शुद्ध करने पर वह शुद्ध सुवर्ण नहीं बनता है, भटरा मूंग को कितना भी सीजाने पर वह सीजती नहीं है, उसी प्रकार जो अभव्य होता है वह बाह्य निमित्त को प्राप्त करके भी भगवान् नहीं बन पाता है। प्रत्येक कार्य सम्यक् अन्तरंग-बहिरंग भावों के सद्भाव से एवं विरोधी कारणों के अभाव से होता है। यथाः-

कालो सहाव णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।

मिच्छंतं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्त।। (53) (सन्मतिसूत्र)

प्रत्येक कार्य के लिए (1) काल (2) स्वभाव (3) नियति (4) पूर्वकृत (5) पुरुषार्थ, इन पाँच कारणों का सम्यक् समन्वय चाहिए और प्रत्येक कार्य के लिए पाँचों को मानना सम्यक्त्व है। एक-एक को कार्योत्पति में कारण मानना मिथ्यात्व है। काल रूपी कारण केवल बाह्य उदासीन कारण है, उपादान अथवा प्रेरक कारण नहीं है।

यदि काल को ही संपूर्ण कार्यों का कर्त्ता मानेंगे तब काल को ही कर्मबंध होना चाहिए, काल को ही सुख-दुःख होना चाहिए, काल को ही मोक्ष पद की प्राप्ति होनी चाहिए, परन्तु यह आगम, प्रत्यक्ष एवं अनुमान विरुद्ध है क्योंकि इस प्रकार उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार नियति को ही यदि कार्य के लिए कारण मानेंगे तब काल, स्वभाव, पूर्वकृत, पुरुषार्थ रूप चार कारणों के लोप का प्रसंग प्राप्त होता है परन्तु विकल अर्थात् न्यून कारण से कार्य नहीं हो सकता है। द्रव्य में परिणमन के लिए उदासीन रूप काल का अभाव होने पर द्रव्य में परिणमन नहीं होगा, स्वभाव के अभाव से द्रव्य का ही लोप होगा। पूर्वकृत के अभाव से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक एवं मिथ्यात्व से चौदह गुणस्थान तक जीव की अवस्था विशेष का अभाव होने से संसार का अभाव हो जायेगा। जिससे प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य निरंजन स्वरूप हो जायेंगे जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

कर्म नहीं है तो कर्म नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? संसार के अभाव से प्रतिपक्षभूत मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। संसारी मुक्त जीवों का अभाव होने से प्रतिपक्षभूत अजीव द्रव्य का अभाव हो जायेगा तब सर्व शून्यता का प्रसंग आयेगा जो कि अनुपलब्ध है।

यदि केवल नियति को ही कार्य में कारण मानेंगे तो पुरुषार्थ के अभाव होने से लौकिक व अलौकिक कार्य के लिए जीव बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक क्रिया करता है, उसका लोप होगा, पुरुषार्थ के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। परन्तु जो अनंत केवली हुए हैं वे सभी पुरुषार्थपूर्वक, बुद्धिपूर्वक, गृहस्थ

जीवन का त्यागकर, शरीर स्थित पोषाक निकालकर, केशलोंच कर, निर्ग्रंथ रूप धारण कर, कठोर अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण कर मोक्ष पदवी प्राप्त किये है।

धुव सिद्धि तित्थयरो चउणाण जुदोवि करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि।। (60) (अष्टपाहुड)

तद्भव मोक्षगामी, चरमशरीरी, निश्चितरूप से तद्भव में मोक्ष जाने वाले, जन्म से ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक होते हैं और अंतरंग-बहिरंग कारण मिलने पर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर 'नमः सिद्धेभ्यः' बोलकर केंशलोच कर दीक्षा लेते है। तब अनेक ऋद्धि-सिद्धि सहित मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होने पर चार ज्ञानीधारी होने के कारण उन्हें स्पष्ट अवगत है कि मैं निश्चित मोक्ष जाऊँगा तो भी तीर्थंकर भगवान् कठोर-कठोर अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण करते हैं, मासोपवासी होकर पर्वत शिखर पर ग्रीष्म ऋतु में, जिस समय पाँव के नीचे पृथ्वी जलती है और सूर्य ऊपर अत्यन्त संताप देता है, चारों ओर उष्ण वायु शरीर का शोषण करती है, तब भी कर्म शत्रु को नष्ट करने के लिए अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण करते हैं, अन्यथा कर्म नष्ट नहीं हो सकता है कर्म नष्ट हुए बिना शाश्वतिक आत्मोत्थ अतीन्द्रिय ज्ञानानंद सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

तीर्थेश्वरा जगज्ज्येष्ठा, यद्यपि मोक्षगामिना।
तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे।।

जगत् में ज्येष्ठ तीर्थ के ईश्वर जो निश्चित मोक्षगामी है तो भी वे मुक्ति के हेतु चारित्र का पालन करते हैं।

जदि ण वि कुव्वदि छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो स।
कालेणदुबहुहेणणसोणरोपावदिविमोक्खं।।(289) (स.सार.)
जहं बंधे छेत्तूण य बंधण बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तुण य जीवो संपावादि विमोक्खं।।(292)

कोई एक पुरुष धातु निर्मित श्रृंखला से बंधनबद्ध होकर पड़ा है, वह उस श्रृंखला का वर्ण, स्वभाव, गुणधर्म के बारे में जानता है, और मनन चिंतवन भी करता है, तो भी तब तक उस बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है जब तक कि वह बंधन को छेदन, भेदन,

खण्डन नहीं करेगा। उसी प्रकार संसारी जीव कर्मरूपी बंधन में पड़ा है। वह विषय को जानता है, मानता है और बंधन से मुक्त होने के लिए चिंतन-मनन भी करता है, परन्तु जब तक कर्मबंधन को नष्ट करने के लिए दृढ़ पुरुषार्थ रूप क्रिया नहीं करेगा वह पुरुष बहुकाल तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।

जैसे रज्जु (रस्सी), लोह, स्वर्ण, काष्ठ रूप बंधन को तोड़कर-फोड़कर, खोलकर, नष्ट कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से मुक्त हो सकता है उसी प्रकार मुमुक्षु वीर भी स्वविज्ञान, पुरुषार्थ रूपी वीतराग निर्विकल्प, स्वसंवेदन ज्ञान के बल से उस बंधन को छेदकर, भेदकर, तोड़कर, नष्ट कर विदारण कर अपने शुद्धात्मा को उपलंभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है वही परम पुरुषार्थ है।

बिना पुरुषार्थ मोक्ष नहीं होता, केवल नियति का मानना, परम पुरुषार्थ का तिरस्कार करना, अवहेलना करना, नकार करना है। इसलिये एकांत नियतिवाद घोर मिथ्यात्व है, शिथिलाचार, भ्रष्टाचार का पोषक है। यदि नियति से सब कुछ होता है तो धन-संपत्ति के लिए व्यापार, पुत्र उत्पत्ति के लिए विवाह, रोग निवारण के लिए औषध सेवन, ज्ञानार्जन के लिए विद्यालय जाना, शास्त्र अध्ययन प्रवचन, शिविर आदि की क्या आवश्यकता है?

मोक्ष की उपलब्धि तो दूर रहे किन्तु बिना सुद्रव्यादि के सम्यग्दर्शन की उपलब्धि भी दूर ही है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के कारण में कहा है-

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं।। (650)
खयउवसमियविसोही देसण-पाउग्ग-करणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मते।। (657)

गाथार्थः-जिस प्रकार कीचड़ के नीचे बैठ जाने से जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से पदार्थ का जो श्रद्धान होता है वह उपशम सम्यक्त्व है। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से चार तो सामान्य हैं परन्तु करण लब्धि के होने पर सम्यक्त्व अवश्य होता है।

विशेषार्थः-जैसे कतक आदिद्रव्य के सम्बन्ध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से पूर्व क्षयोपशम लब्धि-1, विशुद्धि लब्धि-2, देशना लब्धि-3, प्रायोग्य लब्धि-4, करणलब्धि-5. ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनका सविस्तार कथन लब्धिसार ग्रन्थ में है। यहाँ भी संक्षेप में कहा जाता है।

कम्ममल पडलसत्ती पडिसमयमणंत गुणविहीणकमा।
होदूणुदीरदि जदा तदा खओवसम लद्धी दु।। (4) (लब्धिसार)

कर्ममल रूप पटल की फलदान शक्ति अर्थात् अनुभाग जिस काल में प्रति समय क्रम से अनन्तगुणा हीन होकर उदय को प्राप्त होता है, वह क्षयोपशम लब्धि है।

धवलाकार ने भी कहा है कि पूर्वसंचित कर्मों के मलरूपी पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रति समय अनन्तगुणहीन होते हुए भी उदीरणा को प्राप्त किए जाते हैं, उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है।

आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादंपहुदीणं।
सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्धिलद्धि सो।। (5)

क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न जीव के जो परिणाम साता आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत हैं वे विशुद्ध परिणाम विशुद्धि लब्धि हैं। धवलाकार ने भी कहा है कि प्रति समय अनन्तगुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असातादि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।

छद्दव्वणवपयत्थोपदेसयर-सूरिपहुदि लाहो जो।
देसिदपत्थधारण लाहो वा तदियलद्धी दु।। (6)

छह द्रव्य और नव पदार्थ का उपदेश करने वाले आचार्यादि का लाभ अथवा उपदिष्ट पदार्थों को धारण करने की शक्ति की प्राप्ति देशना लब्धि है।

धवलाकार ने भी कहा है कि छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशना लब्धि कहते हैं।

अंतो कोड़ाकोड़ी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं।

पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्ण।। (7)

पूर्वोक्त तीन लब्धि युक्त जीव में प्रतिसमय विशुद्धि में वृद्धि होने के कारण आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों में स्थिति काटकर अन्तःकोडाकोडी मात्र कर देता है और अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग द्विस्थानिक अर्थात् लता दारू रूप कर देता है। इस योग्यता की प्राप्ति प्रायोग्य लब्धि है।

धवलाकार ने भी कहा है कि सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और अप्रशस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके क्रमशः अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थिति में द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर जीव करणलब्धि के योग्य होते हैं। प्रारंभ की ये चारों लब्धियाँ भव्य और अभव्य जीवों के साधारण है, क्योंकि दोनों ही प्रकार के जीवों में इन चारों लब्धियों का होना संभव है। किन्तु अधः करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों करण भव्य मिथ्यादृष्टि जीव के ही होते हैं, क्योंकि अन्यत्र वे पाये नहीं जाते।

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।

जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई।। (622)

गाथार्थः चारों गति का भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्ध, साकार उपयोगी, जागृत, प्रशस्त लेश्या वाला और लब्धि संयुक्त जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

विशेषार्थः नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों के जीवों में से किसी भी गति का जीव दर्शन मोहनीय कर्म को उपशमाता है। कहा भी है-

दंसणमोहस्सुवसामओ दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो।

पंचिदिओ य सण्णी णियमा सो होदि पज्जता।।

दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता हुआ यह चारों ही गतियों में उपशमाता है। चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में नहीं। पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है, असंज्ञियों में नहीं। संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में अर्थात् गर्भज जीवों में उपशमाता है, सम्मूर्च्छिमों में नहीं। गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है,

अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में भी उपशमाता है और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में भी उपशमाता है। लब्धपर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था को छोड़कर नियम से निवृत्ति पर्याप्त जीव ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है।

व्रत ग्रहणीयः अव्रत त्यजनीय

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।। (3) इष्टो.

Observance of vowl leadl to birth in the heasvens, therefore their observance is proper. The vowless life dragr one to a birth in the hells, which is painful. Therefore vowlessness should be avioded, when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions; precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life reagulated by the vows and of him whose life is not so reagulated.

शिष्य प्रश्न करता है कि-हे भगवन्। यदि सुद्रव्यादि की समग्रता से यह आत्मा शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता है तब हिंसादि विरति रूप व्रत-अनर्थ हो जाएंगे। आचार्य उत्तर देते हैं कि-हे वत्स! तुम्हारी जो शंका है कि व्रतादि अनर्थ हो जाएंगे वह नहीं है। उन व्रतादि से अशुभ कर्म का निरोध होता है, प्राचीन कर्म का एकदेश क्षय अर्थात् निर्जरा होती है, पुण्य कर्म का संचय होता है-उससे स्वर्ग आदि पद की प्राप्ति होती है, इसे ही आचार्यश्री आगे तीसरे नं. श्लोक में स्पष्ट कर रहे हैं-

व्रतादि से विषय राग जनित सुख को देने वाला देव का अभ्युदय व्रतादि से प्राप्त होना श्रेष्ठ है जो कि सर्व जन प्रसिद्ध है। अव्रतादि से नरक-दुःख प्राप्त करना श्रेष्ठ नहीं है। खेद की बात यह है कि हिंसादि रूप अव्रत से अशुभ से दुःख स्वरूप नरक प्राप्त करना कैसे श्रेष्ठ हो सकता है? जब व्रत से देव एवं अव्रत से नरक की समानता की आशंका होती है तब आचार्य दोनों के महान् अन्तर को स्पष्टीकरण करने के लिए

छाया एवं आतप का उदाहरण प्रस्तुत करते है। कोई दो व्यक्ति स्वकार्य वशात् नगर से यात्रा के लिए निकले। तीसरे मित्र के लिए दोनों को प्रतीक्षा करनी पड़ी। एक छाया में प्रतीक्षा करता है तो एक कड़ी धूप में प्रतीक्षा करता है। दोनों तब तक प्रतीक्षा करते हैं जब तक कि उनका मित्र नहीं आ जाता है। प्रतीक्षा की अपेक्षा दोनों की प्रतीक्षा समान होते हुए भी छाया में प्रतीक्षा करने वाला सुखमें रहता है, धूप में रहनेवाला कष्ट में रहता है। इसी प्रकार जो व्रतादि करता है वह जब तक सुद्रव्यादि को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त नहीं करता है तब तक वह स्वर्गादि सुख में रहता है, अन्य जो व्रतादि पालन नहीं करता है वह नरकादि दुःख में रहता है।

समीक्षा–शुद्ध निश्चयनय से आत्मा शुभ-अशुभ तथा पुण्य-पाप से रहित सच्चिदानंद स्वरूप है। परन्तु जब तक वह शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं करता है तब तक उसे शुभ के माध्यम से पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से स्वर्ग एवं मोक्ष के लिए कारण बनता है। सग्यग्दृष्टि श्रावक तथा मुनिव्रत शुभोपयोग सहित, पुण्य उत्पादक तथा परंपरा से मोक्ष साधक है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है-

णाणादिरयण तियमिह सझं तं साधयंति जमणियमा।
जत्थ जमा सरसदिया णियमा णियतप्प परिणामः।। (2)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप साध्य हैं। यम और नियम इस रत्नत्रय रूप साध्य को सिद्ध करने वाले हैं। साधन के बिना साध्य सिद्धि नहीं होती है इसलिये महाव्रतादि यम सामायिकादि नियम के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए मोक्ष के लिए व्रतादि अनिवार्य हैं। जो महाव्रतादि आजीवन पालन किया जाता है उसे यम कहते हैं। सामायिकादि अल्पकालावधि होने से नियम कहलाते हैं।

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्व संजदे सिरसा।
इह परलोग हिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि।। (1)

''इह'' शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करने वाला है। ''पर'' शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहने वाला है और ''लोक'' शब्द देवो के ऐश्वर्य आदि का वाचक है।

'हित' शब्द से सुख, ऐश्वर्य पूजा सत्कार और चित्त की निवृति फल आदि कहे जाते हैं, और 'अर्थ' शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है। इस प्रकार से इहलोक और परलोक के लिए अथवा इन उभय लोकों में सुख ऐश्वर्य आदि रूप ही है जिनका, वे इहलोक के लिए हितार्थ कहे जाते हैं। अर्थात् ये मूल गुण इहलोक और परलोक में सुख ऐश्वर्य आदि के निमित हैं। इन मूलगुणों का आचरण करते हुए जीव इस लोक में पूजा, सर्वजन से मान्यता गुरुता (बड़प्पन) और सभी जीवों से मैत्री भाव आदि को प्राप्त करते हैं तथा इन मुलगुणों को धारण करते हुए परलोक में देवों के ऐश्वर्य, तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के पद और सभी जनों में मनोज्ञता, प्रियता आदि प्राप्त करते हैं। ऐसे मुलगुण जो कि सभी उत्तर गुणों के आधारपने को प्राप्त आचरण विशेष है।

ऐसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।। (254) (प्रवचनसार)

गाथार्थः-यह प्रशस्तभूत चर्या श्रमणों की होती है और गृहस्थों के तो मुख्य होती हैं ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। उसी से गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

तपोधन दूसरे साधुओं की वैयावृत्ति करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावृत्य करते हैं वह पापारंभ व हिंसा से रहित होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के आधीन है, इसलिये वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है किन्तु साधुओं का गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त्त और रौद्रध्यान में परिणमने वाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म वर्तन करें तो खोटे ध्यान से बचते है तथा साधुओं की संगति से गृहस्थों को व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही गृहस्थ परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंग परिचित्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्यजीवाणं।। (2)

दया से विशुद्ध जो धर्म सर्वसंग से रहित प्रवज्या अर्थात् मुनि दीक्षा, मोक्ष से रहित देव भव्य जीवों के लिये उदय कर रहा है।

वर वय तवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।

छायातविट्ठायाणं पडिवातंताण गुरु भेद।। (25) (अट्ठपाहुड)

जब तक रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तब तक व्रत तपों का पालन करके स्वर्ग प्राप्त करना श्रेष्ठ है। परन्तु अव्रती होकर नरक तिर्यंचगति सम्बन्धी दुःख प्राप्त करना श्रेष्ठ नहीं है। जिस प्रकार एक पथिक को पीछे आनेवाले अपने साथी की राह देखने के लिए अत्यन्त उष्ण धूप में बैठने की अपेक्षा शीतल वृक्ष की छाया में बैठना श्रेयस्कर है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो शीतल छाया को छोड़कर अत्यंत उष्ण धूप में बैठेगा।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठतः।

त्यजेत्यान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः।। (84) (समाधिशतक)

हिंसा पापादि अव्रतों को छोड़कर अहिंसादि व्रत में अत्यन्त निष्ठावान् होना चाहिए उस व्रत के माध्यम से जब परमात्मा पद की प्राप्ति हो जायेगी तब उन व्रतों को भी त्यागना चाहिये। जिस प्रकार मंजिल के ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता होती है, बिना सीढ़ी के चढ़ा नहीं जा सकता है, परन्तु मंजिल के ऊपर जाने के बाद सीढ़ी स्वयमेव छूट जाती है, अथवा सीढ़ी की शेष सीमा के बाद उस सीढ़ी को त्यागकर मंजिल में प्रवेश करते हैं। जैसे हम आगे बढ़ जाते है पीछे का रास्ता छूट जाता है उसी प्रकार हम गुणश्रेणी आरूढ़ होकर बढ़ जाते हैं तो पीछे की गुणश्रेणी छूट जाती है। जैसे मुनि होने पर श्रावक के व्रत छूट जाते हैं, उसी प्रकार परमात्म पद को प्राप्त करते हैं तो व्रतादि के विकल्प नहीं रहते हैं, जैसे दूध से दही, घी बनता है। जब तक घी नहीं बनता है तब तक दूध दही का संरक्षण करना आवश्यक है परन्तु घी बनने के बाद दूधादि अवस्था नहीं रहती है। जैसे फूल से फल बनता है फल होने पर स्वयं फूल गिर जाता है।

अशुभाच्छुभमायात् शुद्धः स्यादयमागमात्।
खेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः।।(122)
विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबंधनम्।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः।।(123)
विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविद्वागमागच्छन् पातालतलमृच्छति।। (124) (आत्मानुशासन)

यह आराधक भव्य जीव आगमज्ञान के प्रभाव से अशुभ स्वरूप असंयम अवस्था से शुभ रूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ठीक है-सूर्य जब तक संध्या (प्रभातकाल) को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अंधकार को नष्ट नहीं कर सकता है। अज्ञान रूप अंधकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप एवं शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिए होता है। जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अंधकार को आगे करके जब (अस्त) राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है अर्थात् अस्त हो जाता है। उसी प्रकार जो प्राणी वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ज्ञान रूप प्रकाश को त्यागकर अज्ञान, असंयम को स्वीकार करता हुआ संसार-शरीर-भोग संबंधी राग को प्राप्त होता है तब वह पाताल तल अर्थात् आत्मपतन रूप अवस्था को प्राप्त होता हुआ नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है। आत्मरूपी सूर्य अनादिकाल से अज्ञान, असंयम, मोहरूपी अन्धकार से व्याप्त संसार रूपी रात्रि में संचरण कर रहा है। उसको चिज्ज्योति स्वरूप मुक्ति लोक प्राप्त करना है। उसको पहले अज्ञान असंयम रूपी अंधकार को छोड़कर देव, शास्त्र, गुरु, व्रत, नियम संबंधी राग रूपी दिग्वलय में आना ही होगा। उस समय में पूर्ण अंधकार नहीं तो पूर्ण प्रकाश भी नहीं है परन्तु वह उस आत्मारूपी सूर्योदय के कारण है। जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व पूर्ण प्रकाश नहीं तथा पूर्ण अंधकार नहीं है परन्तु वह लालिमा सूर्योदय रूपी अभ्युदय का सूचक है। जब जीव देवशास्त्र-गुरु-तप-संयम को छोड़कर संसार शरीर के प्रति

अनुराग करता है तब वह राग उसके पतन का ही कारण होता है। जिस प्रकार सायंकालीन राग (लालिमा) पतन का सूचक है अर्थात् प्रभातकालीन और सायंकालीन दोनों राग समान होते हुए भी प्रभातकालीन राग अभ्युदय के सूचक है और सायंकालीन राग पतन के सूचक है। उसी प्रकार देव शास्त्र-गुरु के प्रति और संसार शरीर भोग के प्रति राग समान होते हुए भी एक उत्थान का कारण है तो दूसरा पतन का कारण है।

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्तं णावा हि।

भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिवायेण।। (100) (मूलाचार)

खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है और नौका चारित्र है। इन तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर से तिर जाते हैं।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः।

शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।

नियमितमनोवृत्तिर्भिक्तिर्जिनेषु दयालुता।

भवतिकृतिनः संसारब्धेस्तटे निकटे सति।।(224) (आ.शा.)

इन्द्रियों विषयों से विरक्त, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शान्ति, यम-नियम, इन्द्रिय दमन, सात तत्त्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियंत्रण, जिन भगवान् में भक्ति और प्राणियों पर दया भाव; ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते है जिनके कि संसार रूपी समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है। अर्थात् निकट भव्य सम्यग्दृष्टि जीव उपरोक्त व्रतादि स्वरूप नौका में बैठकर संसार रूपी सागर को शीघ्र रूप से पार करता है।

आत्म परिणाम से मोक्ष मिलता है

यत्रभावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।

यो नयत्यासु गव्यूतिं क्रोशार्धं किं स सीदति।।(4)

The sould that is capable of conferring the divine status when mediated upon, how for can the heavens be from him? can the man who is able to carry a load to a distance of two Koses feel tired when carrying it only half a Kos?

गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।

अनन्तशक्तिरात्मायं भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति।।(196)

ध्यातोऽर्हसिद्धरुपेण चरमांगस्य मुक्तये।

तद्ध्यायानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये।।(197) त.शा.

पुनः विनेय अर्थात् शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा की भक्ति के बिना केवल व्रतादि से चिरभावित मोक्ष सुख नहीं मिलता है किन्तु व्रतों से संसार के सुख सिद्ध हो जाते हैं। संसार के सुख प्राप्त होने पर चिद्रूप स्वरूप आत्मा में भक्ति विशुद्धि भाव और अन्तरंग अनुराग नहीं होगा और यह आत्मा में भक्ति ही मोक्ष के लिए कारण है। व्रत होते हुए और संसार के सुख सद्भाव होते हुए भी मोक्ष के लिए उत्तम साधन स्वरूप सुद्रव्यादि साध्य अभी दूर है। अतः मध्य में मिलने वाले स्वर्गादि सुख व्रतादि के द्वारा ही साध्य है। इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य उसका उत्तर देते हैं कि वह भी नहीं है। व्रतादि का आचरण निरर्थक नहीं होता है। उसी प्रकार आत्मभक्ति आदि जो तेरे द्वारा की जाती है वह भी असाधु अर्थात् अयोग्य नहीं है। इसे ही स्पष्ट करते हैं -

जिसे आत्मा के विषय में प्रणिधान - अर्थात् भक्ति होने पर शिव अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है वही आत्मभक्ति से भव्यों के लिए स्वर्ग क्या दूर हो सकता है? आत्मध्यान, आत्मभक्ति, आत्मअनुराग के फलस्वरूप प्राप्त पुण्य से यदि मोक्षसुख मिल सकता है तब स्वर्गसुख क्या नहीं मिलेगा? अर्थात् अवश्य स्वर्गसुख उसके लिए निकट है, मिलने योग्य है। तत्त्वानुशासन में कहा भी है -

जो गुरु के उपदेश को प्राप्त करके आत्मध्यान को समाहित चित्त से करता है उसे आनन्द शक्ति सम्पन्न यह आत्मा मुक्ति और भुक्ति को प्रदान करता है जो चरम शरीरी है जब वह स्वयं को अरिहन्त-सिद्ध रूप से ध्यान करता है तब उसके पुण्य से मोक्ष मिलता है तथा अन्य अचरम शरीर को स्वर्ग सुखादि मिलता है।

उपर्युक्त विषय को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। यथा - जो भारवाहक जिस भार को लेकर 2 कोश (4 मील) प्रमाण दूरी को शीघ्र ही पार कर लेता है वह क्या उस भार को 1/2 कोश लेने में थक जायेगा अर्थात् नहीं थकेगा। सिद्धान्त है कि महाशक्ति में छोटी शक्ति निहित होती है।

होतिं सुहावसव-संवर-णिज्जरामर सुहाई विउलाई।
ज्झाण वरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्म।।(56)
जह वा घण संघात खणेण परणाहा विलिज्जति।
ज्झाणप्प वणोवहया तह कम्म घणा विलिज्जाति।।(57)

शंका-इस धर्मध्यान का क्या फल है?

समाधानः अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुणश्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है, तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनुप्रेत है वह धर्मध्यान है, यह बात सिद्ध होती है। उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आस्रव संवर निर्जरा और देवों के सुख में शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं। अथवा जैसे मेघपटल तड़ित होकर क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते हैं। (ध.पु.)

मोह सव्वुवसग्गो पुण धम्मज्झाण फलं, सकसायत्तेणेणं धम्मज्झाणिणो सुहम् सांपराइयस्स चरिम समए मोहणीयस्स सव्ववसमुवलम्भादो तिण्णं घादि कम्माणं णिम्मूल विणास फलमे पयत्तविदक्क अविचारज्झाणं मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाण फलं सुहम सांपराय चरिम समए तस्स विणासुवलंभादो।

अर्थ : मोह का सर्वोपशमन करना धर्म ध्यान का फल है; क्योंकि कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्म एवं सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्मों की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाती कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है क्योंकि सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश करना देखा जाता है। (धवला.पृ.) प्राथमिकानां चिन्तामिति करणार्थ विषय दुर्ध्यान वचनार्यं च परंपरया मुक्ति कारणमर्हदादि पर द्रव्यं ध्येयं नास्त्येकांतः एवं साध्य साधक भावं ज्ञात्वा ध्येय विषये विषादो न कर्त्तव्यः इति। (परमात्म प्रकाश)

अर्थ : ध्यान के प्राथमिक साधकों को चित्त के स्थिर करने के लिये और विषय कषाय स्वरूप दुर्ध्यान से बचने के लिए परम्परा मुक्ति के कारण स्वरूप अरिहन्तादि ध्यान करने योग्य है। अर्थात ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर होने पर साक्षात् मुक्ति का कारण जो निज शुद्धात्म तत्त्व है वही ध्यावने योग्य है। परद्रव्य होने से अरिहन्तादि ध्यावने योग्य नहीं है, यह एकान्त से ठीक नहीं है। अतः सविकल्प अवस्था में अरिहन्तादि उपादेय ही हैं। इस प्रकार साध्य साधन जानकर ध्यावने योग्य वस्तु में विवाद नहीं करना। पंचपरमेष्ठी का ध्यान साधक है, और आत्मध्यान साध्य है, यह निःसंदेह जानना।

वीर्यानुवाद का कथन

विज्जाणुवादपुव्वं वज्जं जीवादिवत्थुसामत्थं।
अणुवादो अणुवण्णणमिह तस्स हवेत्ति णंणमह।। (49)

जीवादि पदार्थों के वीर्य (शक्तिसामर्थ्य) का अनुवाद, अनुवर्णन (कथन) जिसमें होता है उसको वीर्यानुवाद कहते हैं। हे भव्य जीवों! उस वीर्यानुवाद को तुम नमस्कार करो।

वीर्यानुवादपूर्वं वीर्यं जीवादिवस्तुसामर्थ्यं।
अनुवादोऽनुवर्णनमिह तस्य भवेदिति नन्नम्यत।।
तंवण्णदि अप्पवलं परविज्जं उहयविज्जमवि णिच्चं।
खेत्तबलं कालबलं भावबलं तवबलं पुण्णं।। (50)
तद्वर्णयति आत्मबलं परवीर्यं उभयवीर्यमति नित्यं।
क्षेत्रबलं कालबलं भावबलं तपोबलं पूर्णं।।
दव्वबलं गुणपज्जयविज्ज विज्जाबलं च सव्ववलं।
सत्तरिलक्खपयेहिं पुण्णं पुव्वं तदीयं खु।। (51)
द्रव्यबलं गुणपर्ययवीर्यं विद्याबलं च सर्वबलं।
सप्ततिलक्षपदैः पूर्णं पूर्वं तृतीयं खलु।।
पयाणि 7000000।
इदि विज्जाणुवाद पुव्वं गदं-इति वीर्यानुवाद पूर्वं गतं।

यह वीर्यानुवाद नामक तृतीय पूर्व आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भाववीर्य, तपवीर्य, द्रव्यवीर्य, गुणवीर्य, पर्यायवीर्य, विद्यावीर्य आदि सर्व वीर्यों का सत्तरलाख पदों के द्वारा वर्णन करता है।

विशेषार्थ

इसमें एक सौ आठ प्राभृत होते हैं और आठ वस्तु होती हैं। द्रव्य की अनन्त अपनी शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं। आत्मीय शक्ति दो प्रकार की क्षायोपशमिकी और क्षायिकी। अन्तराय कर्म के अत्यन्त विनाश से उत्पन्न शक्ति क्षायिकी है, जिसका दूसरा नाम अनन्तवीर्य है। वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली जो शक्ति है वह क्षायोपशमिक शक्ति है। छद्मस्थ जीवों के क्षायोपशमिक शक्ति होती है और केवली भगवान् के क्षायिकी शक्ति होती है। अथवा वीर्य का दूसरा नाम शक्ति है। वह जीव और अजीव दोनों में है। प्रत्येक द्रव्य में ऐसी सामर्थ्य है कि वह कभी पर रूप नहीं होता है। द्रव्य के प्रत्येक गुण अपने में ही रहते हैं उनका पर गुण रूप परिणमन नहीं होता है। आत्मशक्ति आत्मवीर्य पुद्गल की शक्ति परंवीर्य है।

दोनों की मिश्रण शक्ति उभयवीर्य है। जैसे आत्मा में अनन्तशक्ति है परन्तु छद्मस्थ आत्मा को यदि अन्नादि खाने को नहीं मिलता है तो शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाने से आत्मा का उत्साह बुद्धि आदि भी नष्ट हो जाती है अतः क्षायोपशमिक शक्ति उभय शक्ति है।

कुछ कार्य क्षेत्र की अपेक्षा होते हैं जैसे मोक्ष प्राप्ति कर्मभूमि से ही होती है। अन्य क्षेत्र से नहीं। कौन से क्षेत्र में कौन से फल-फूल धान्य उत्पन्न होने की शक्ति है वह सब क्षेत्र शक्ति है।

कोई कार्य काल की अपेक्षा से होते हैं, मोक्ष प्राप्त करने का काल जैसे चतुर्थ काल है, आठ वर्ष की अवस्था है उसके पहले मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अथवा सर्व फल-फूल धान्य शीत, उष्ण आदि काल की अपेक्षा से ही होते हैं। वह काल वीर्य है।

जीव के परिणामों की शक्ति भी विचित्र है, वीतराग मुनिराज के शान्त भावों का निमित्त पाकर जन्मजात वैरी प्राणी भी अपने वैर को छोड़ देते हैं। निर्मल

परिणामों से अशुभ कर्मों का अनुभाग क्षीण हो जाता है। दूसरे प्राणियों के अशुभ भावों के निमित्तवश सामने वाले के भाव भी वैसे हो जाते हैं। वह भाव वीर्य है।

तप शक्ति के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, दुःसाध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाते हैं वह तप शक्ति है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। वह द्रव्यशक्ति है और प्रत्येक परिणमन नहीं करते हैं, वह गुण शक्ति है। पर्यायों की शक्ति निमित्त पाकर कार्य होता है जैसे-नरक, देव पर्याय का निमित्त से अवधिज्ञान होता है। विद्याओं को सिद्ध करके विद्याधर अनेक रूप विमान घर आदि बनाते हैं वह विद्या शक्ति है। इत्यादि सर्व शक्तियों का कथन जिसमें है वह वीर्यानुवाद है। उसके सत्तरलाख पद हैं।

अभ्युदय-मोक्षसुख व कारण

छद्दव्वणवपयत्थे सुदणाणंदुमणिकिरणसत्तीए।

देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण संछण्णा।। (34) ति.प.

अज्ञानरूप अँधेरे से आच्छन्न हुए भव्य जीव श्रुतज्ञानरूपी सुमणि अर्थात् सूर्य की किरणों की शक्ति से छह द्रव्य और नौ पदार्थों को देखें, अर्थात् जानें..(यही ग्रंथ के अवतार का निमित्त है)।

दुविहो हवेदि हेदू तिलोयपण्णत्तिगंथयज्झयणे।

जिणवरवयणुहिट्ठो पच्चक्खपरोक्खभेएहिं।। (35)

त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ के अध्ययन में, जिनेन्द्रदेव के वचनों से उपदिष्ट हेतु, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

सक्खापच्चक्ख परंपच्चक्खा दोण्णि होदि पच्चक्खा।

अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती।। (36)

देवमणुस्सादीहिं संततमब्भच्चणप्पयाराणि।

पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेढिकम्मणिज्जरणं।। (37)

इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरंपरं च णादव्वं।

सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं।। (38)

प्रत्यक्ष हेतु साक्षात् प्रत्यक्ष और परंपरा प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकारका है। अज्ञान का विनाश ज्ञानरूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जानेवाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना अर्थात् पूजा, और प्रत्येक समय में असंख्यात गुणश्रेणीरूप से होनेवाली कर्मो की निर्जरा, इसे साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु समझना चाहिये। और शिष्य प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरंतर अनेक प्रकार से की जानेवाली पूजा को परंपरा प्रत्यक्षहेतु जानना चाहिये।

दोभेदं च परोक्खं अभुदयसोक्खाइं मोक्खसोक्खाइं।
सादादिविविहसुपरसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं।। (39)
इंदपडिंददिगिंदयतेत्तीसामरसमाणपहुदिसुहं।
राजाहिराजमहाराजद्धमंडलिमंडलयाणं।। (40)
महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरितित्थयरसोक्खं।
अट्ठारसमेत्ताणं सामी सेणाण भत्तिजुत्ताणं।। (41)
वररयणमउडधारी सेवयमाणाण वत्ति तह अट्ठं।
देंता हवेदि राजा जितसत्तू संमरसंघट्टे।। (42)

परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का है, एक अभ्युदय सुख और दूसरा मोक्षसुख। सातावेदनीय आदि विविध प्रकार के सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र [लोकपाल] शिव सामानिक आदि देवोंका सुख; तथा राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, मण्डलीक, अर्धचक्री [नारायण-प्रतिनारायण], चक्रधारी [चक्रवर्ती] और तीर्थंकर, इनका सुख अभ्युदयसुख है। जो भक्तियुक्त अठारह प्रकारकी सेनाओं का स्वामी है, उत्कृष्ट रत्नों के मुकुट को धारण करनेवाला है, सेवक जनों को वृत्ति [भूमि आदि] तथा अर्थ [धन] प्रदान करनेवाला है, और समर के संघर्ष में शत्रुओं को जीत चुका है, वह राजा है।

करितुरयराहाहिवई सेणवइपदत्तिसेट्ठिदंडवई।
सुद्दक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा।। (43)

गणरायमंतितलवरपुरोहियामत्तया महामत्ता।

बहुविहपइण्णया य अट्ठारस होंति सेणीओ।। (44)

हस्ति, तुरग [घोड़ा] और रथ, इनके अधिपति, सेनापति, पदाति [पादचारी सेना] श्रेष्ठि [सेठ], 'दण्डपति, 'शूद्र, 'क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर अर्थात् ब्राह्मण, गणराज, मन्त्री, तलवर [कोतवाल], पुरोहित, अमात्य और महामात्य व बहुत प्रकार के प्रकीर्णक, ऐसी अठराह प्रकार की श्रेणियाँ हैं।

पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो।

रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदिं महराजो।। (45)

जो पाँचसौ राजाओंका स्वामी हो वह अधिराज है। उसकी कीर्ति सारी दिशाओं में फैली रहती है। जो एक हजार राजाओं का पालन करता हो वह महाराज है।

दुसहस्समउडबद्धभुववसहो' तत्थ अद्धमंडलिओ।

चउराजसहस्साणं अहिणाओ होइ मंडलिओ।। (46)

जो दो मुकुटबद्ध भूपों में वृषभ अर्थात् प्रधान हो (उनका स्वामी हो) वह अर्धमण्डलीक कहलाता है। जो चार हजार राजाओं का अधिनाथ हो, वह मण्डलीक कहलाता है।

महमंडलिओ णामो अट्ठसहस्साण अहिवई ताणं।

रायाणं अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताणं।। (47)

जो आठ हजार राजाओं का अधिपति हो, उसका नाम महामण्डलीक है। सोलह हजार राजाओं का स्वामी अर्धचक्री कहलाता है।

छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ।

होदि हु सयलंचक्की तित्थयरो सयलभुवणवइ।। (48)

जो छह खण्डरूप भरतक्षेत्रका स्वामी हो और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंका तेजस्वी अधिपति हो वह सकलचक्री होता है; व तीर्थंकर समस्त लोकोंका अधिपति कहलाता है।

सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं।

अतिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं पवरं।। (49)

तीर्थंकर [अरिहन्त], और कल्पातीत अर्थात् सिद्ध, इनके अतीन्द्रिय, अतिशयरूप आत्मोत्पन्न, अनुपम और श्रेष्ठ सुख को निःश्रेयस-सुख कहते हैं।

सुदणाणभावणाए णाणंमत्तंडकिरणउज्जोओ।

आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्त हवेदि भव्वाणं।। (50)

श्रुतज्ञान की भावना से भव्यजीवों का आत्मा ज्ञानरूपी सूर्य की किरणोंसे उद्योतरूप अर्थात् प्रकाशमान होता है, और उनका चरित्र और चित्त चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है।

कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयट्ठमलं।

जायदि पवयणपढणे सम्मइंसणमणुवमाणं।। (51)

प्रवचन अर्थात् परमागम के पढ़ने पर सुमेरु पर्वत के समान निश्चल; लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढता, इन तीन मूढ़ताओं से रहित, और शंका-कांक्षा आदि आठ दोषों से विमुक्त अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सुरखेयरमणुवाणं लब्भंति सुहाइं आरिसब्भासा।

तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदधातु णट्ठमलं।। (52)

आर्ष वचनों के अभ्यास से देव, विद्याधर तथा मनुष्यों के सुखों की प्राप्ति होती है, और अन्त में नोकर्ममल से विहीन, तथा द्रव्यकर्म और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भावकर्मों से भी रहित, इस प्रकार त्रिविध मलवर्जित मोक्षसुखकी भी प्राप्ति होती है।

विविहत्थेहिं अणंतं संखेज्जं अक्खराण गणणाए।

एदं पमाणमुदिदं सिस्साणं मइविकासयरं।। (53)

श्रुत विविध प्रकारके अर्थों की अपेक्षा अनन्त है, और अक्षरों की गणनाकी अपेक्षा संख्यात है। इस प्रकार शिष्यों की बुद्धि को विकसित करनेवाला श्रुत प्रमाण कहा गया है।

भव्वाण जेण एसा तेलोक्क पयासणे परमदीवा।

तेण गुणणाममुदिदं तिलोयपण्णत्ति णामेणं।। (54)

क्योंकि यह शास्त्र भव्यजीवों के लिये तीनों लोकों के स्वरूप के प्रकाशित करने में दीप के समान है, इसलिये 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' नाम से इसका यह गुणनाम कहा गया हैं।

कत्तारो दुवियप्पो णादव्वो अत्थगंथभेदेहिं।

दव्वादिचउपयारेहिं भासिमो अत्थकत्तारं।। (55)

अर्थकर्त्ता और ग्रन्थकर्त्ता के भेद से कर्त्ता दो प्रकार के समझना चाहिये। इनमें से द्रव्यादिक चार प्रकार से अर्थकर्त्ता का निरूपण करते हैं।

सेदरजाइमलेणं रत्तच्छिकडक्खबाणमोक्खेहिं।

इयपहुदिदेहदोसेहिं संततमदूसिदसरीरो।। (56)

आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचारुसंठाणो।

दिव्ववरगंधधारी पमाणठिदरोमणखरूवो।। (57)

णिब्भूसणायुधंबरभीदी सोम्माणणादिदिव्वतणू।

अट्ठब्भहियसहस्सप्पमाणवरलक्खणोपेदों।। (58)

चउविहउवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो।

छुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं।। (59)

जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवणिवहपडिबोहो।

मिदुमधुरगभीरतराविसदविसयसयलभासाहिं।। (60)

अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।

अक्खर अणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ।। (61)

एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं।

परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकंरभासो।। (62)

भावणवेंतरजोइसियकप्पवासेहिं केसवबलेहिं।

विजाहरेहिं चक्किकप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं।। (63)

एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो।
दिट्ठसयलट्ठसारो महवीरो अत्थकत्तारो।। (64)

जिनका शरीर पसीना, रज (धूली) आदि मलसे तथा लाल नेत्र और परको दुःख पहुँचानेवाले कटाक्ष-बाणों का छोड़ना इत्यादि शरीरसम्बन्धी दूषणों से सदा अदूषित है, जो आदिके अर्थात् वज्रर्षभनाराच संहनन से युक्त हैं, समचतुर स्रसंस्थान रूप सुन्दर आकृति से शोभायमान हैं, दिव्य और उत्कृष्ट सुगन्ध के धारक हैं, जिनके रोम और नख प्रमाण से स्थित हैं अर्थात् वृद्धि से रहित हैं, जो भूषण-आयुध, वस्त्र और भीतिसे रहित व सुन्दर मुखादिक से शोभायमान दिव्य देह से विभूषित हैं, शरीर के उत्तम एक हजार आठ लक्षणों से युक्त हैं; देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों से सदा विमुक्त हैं, कषायों से रहित हैं, क्षुधादिक बाईस परीषहों व राग-द्वेष से परित्यक्त हैं; मृदु, मधुर, अति गम्भीर और विषय को विशद करनेवाली भाषाओंसे एक योजनप्रमाण समवसरणसभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करनेवाले हैं, संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षररूप अठारह महाभाषा तथा सातसौ छोटी भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दन्त, ओठ तथा कण्ठ के हलन चलनरूप व्यापारसे रहित होकर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द करनेवाली भाषा (दिव्यध्वनि) के स्वामी हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के द्वारा तथा नारायण, बलभद्र, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि प्रमुख मनुष्य, तिर्यंच और अन्य भी ऋषिमहर्षियों से जिनके चरणारविन्दयुगल की पूजा की गयी है, और जिन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों के सारको देख लिया है, ऐसे महावीर भगवान् [द्रव्य की अपेक्षा] अर्थागम के कर्त्ता हैं।

णाणावरणप्पहुदिअणिच्छयववहारपायअतिसयए।
संजादेण अणंतंणाणेणं दंसणसुहेहिं।। (71)
विरिएण तहा खाइयसम्मत्तेणं पि दाणलाहेहिं।
भोगोपभोगणिच्छयववहारेहिं च परिपुण्णो।। (72)

ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के निश्चय और व्यवहाररूप विनाश के कारणों की प्रकर्षता होने पर उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य, इन चार अनन्तचतुष्टय, तथा क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग और क्षायिक उपभोग, इस प्रकार नव लब्धियों के निश्चय एवं व्यवहारस्वरूपों से परिपूर्ण हुए।

दंसणमोहे णट्ठे घादित्तिदए चरित्तमोहम्मि।

सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ होंति खइयाइं।। (73)

दर्शनमोह, तीन घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) और चारित्रमोह के नष्ट होने पर क्रम से सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और चारित्र, ये पाँच क्षायिक भाव प्राप्त होते हैं।

जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदियम्मि णाणम्मि।

णवविहपदत्थसारा दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थं।। (74)

अनन्तज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की उत्पत्ति और छद्मस्थ अवस्था में रहनेवाले मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्ययरूप चार ज्ञानों का अभाव होने पर नौ प्रकार के पदार्थों के सारको विषय करनेवाली दिव्यध्वनि सूत्रार्थ को कहती है।

अण्णेहिं अणतेहिं गुणेहिं जुत्तो विसुद्धचारित्तो।

भवभयभंजणदच्छो महवीरो अत्थकत्तारो।। (75)

इसके अतिरिक्त और भी अनन्त गुणोंसे युक्त, विशुद्ध चारित्र के धारक और संसार के भय को नष्ट करने में दक्ष श्रीमहावीर प्रभु (भाव की अपेक्षा) अर्थकर्त्ता हैं।

महावीरभासियत्थो तस्सिं खेत्तम्मि तत्थ काले य।

खायोवसमविवड्ढिदचउरमलमईहि' पुण्णेण।। (76)

लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसयेसु।

संदेहणासणत्थं उवगदसिरिवीरचलणमूलेण।। (77)

विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेण।

चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण।। (78)

भावसुदपज्जयेहिं परिणदमयिणा अ बारसंगाणं।

चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदो।। (79)

भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट पदार्थस्वरूप, उसी क्षेत्र और उसी काल में, ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से वृद्धि को प्राप्त निर्मल चार बुद्धियों (कोष्ठ, बीज, संभिन्न श्रोतृ और पदानुसारी) से परिपूर्ण, लोक, अलोक और जीवाजीवादि विविध विषयों में उत्पन्न हुए संदेह को नष्ट करने के लिये श्रीवीर भगवान् के चरण-मूल की शरण में आये हुए, निर्मल गौतम गोत्र में उत्पन्न हुए, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदों में, अथवा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चारों वेदों में पारंगत, विशुद्ध शील के धारक, भावश्रुतरूप पर्याय से बुद्धिकी परिपक्वता को प्राप्त, ऐसे इन्द्रभूतिनामक शिष्य अर्थात् गौतम गणधरद्वारा एक मुहूर्त में बारह अंग और चौदह पूर्वों की रचनारूप से ग्रन्थित किया गया।

इय मूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदिविप्पवरो।

उवतंते कत्तारो अणुतंते सेसआइरिया।। (80)

इस प्रकार श्रीवीरभगवान् मूलतंत्रकर्त्ता, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ इन्द्रभूति गणधर उपतंत्र-कर्त्ता, और शेष आचार्य अनुतंत्र-कर्त्ता हैं।

णिण्णट्ठरायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो।

किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स पामण्णं।। (81)

गणधरदेव राग-द्वेष से रहित होते हुए द्रव्यश्रुत के कर्त्ता हैं, यह कथन यहाँ किस कारण से किया गया है? सूत्र की प्रमाणता का कथन करने के लिये।

जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं।

तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।। (82)

जो नय और प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थका निरीक्षण नहीं करता है, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है।

णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो।

णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं।। (83)

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं। निक्षेप उपायस्वरूप है। युक्ति से अर्थ का प्रतिग्रहण करना चाहिये।

इय णायं अवहारिय आइरियपरंपरागदं मणसा

पुव्वाइरियाआराणुसरणअं तिरयणणिमित्तं।। (84)

इस प्रकार आचार्यपरंपरा से ज्ञात हुए न्याय को मन से अवधारण करके पूर्व आचार्यों के आचार का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है।

मंगलपहुदिच्छक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहिं।

जिणवरमुहणिक्कंतं गणहरदेवेहिं गथितपदमालं।। (85)

सासदपदमावण्णं पवाहरूवत्तणेण दोसेहिं।

णिस्सेसेहिं विमुक्कं आइरियअणुकम्माआदं।। (86)

भव्वजणाणंदयरं वोच्छामि अहं तिलोयपण्णत्तिं।

णिब्भरभत्तिपसादिदवरगुरुचलणाणुभावेण।। (87)

विविध ग्रंथ और युक्तियों से मंगलादि छह अर्थात् मंगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इनका व्याख्यान करके जिनेन्द्र भगवान् के मुखसे निकले हुए, गणधर देवों द्वारा पदों की, अर्थात् शब्दरचनारूप, मालामें गूंथे गये, प्रवाहरूप से शाश्वतपद अर्थात् अनन्तकालीनता को प्राप्त, सम्पूर्ण दोषों से रहित, और आचार्यपरंपरा से आये हुए तथा भव्यजनों को आनन्ददायक 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' शास्त्रको मैं अतिशय भक्ति द्वारा प्रसादित उत्कृष्ट गुरु के चरणों के प्रभाव से कहता हूं।

सामण्णजगसरूवं तम्मि ठियं णारयाण लोयं च।

भावणणरतिरियाणं वेंतरजोइसियकप्पवासीणं।। (88)

सिद्धाणं लोगो त्ति य अहियारे पयदद्दिट्ठणवभेए।

तम्मि णिबद्धे जीवे पसिद्धवरवण्णणासहिए।। (89)

वोच्छामि लयलईए भव्वजणाणंदपसरसंजणणं।

जिणमुहकमलविणिग्गयतिलोयपण्णत्तिणामाए।। (90)

सामान्य जगत् का स्वरूप, उसमें स्थित नारकियों का लोक, भवनवासी, मनुष्य, तिर्यंच, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और सिद्धों का लोक, इस प्रकार प्रकृत में उपलब्ध भेदरूप नौ अधिकारों, तथा उस उस लोकमें निबद्ध जीवोंको, नयविशेषों का आश्रय लेकर उत्कृष्ट वर्णनों से युक्त, भव्यजनों को आनन्द के प्रसार का उत्पादक और जिन भगवान् के मुखरूपी कमल से निकले हुए इस त्रिलोकप्रज्ञप्तिनामक ग्रंथ के द्वारा कहता हूँ।

जगसेढिघणपमाणो लोयायासो सपंचदव्वरिदी।

एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे।। (91)

अनन्तानन्त अलोकाकाश के बहुमध्यभाग में स्थित, जीवादि पांच द्रव्योंसे व्याप्त और जगश्रेणि के घनप्रमाण यह लोकाकाश है।

जीवा पोग्गलधम्माधम्मा काला इमाणि दव्वाणि।

सव्वं लोयायासं आधूइय पंच चिंट्ठति।। (92)

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँचों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं।

खंदं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।

अद्धद्धं च पदेसो अविभागी होदि परमाणू।। (95)

सब प्रकार से समर्थ, अर्थात् सर्वांशपूर्ण स्कंध कहलाता है। उसके अर्धभाग को देश और आधे के आधे भाग को प्रदेश कहते हैं। स्कंध के अविभागी अर्थात् जिसके और विभाग न हो सकें ऐसे अंश को परमाणु कहते हैं।

सत्थेण सुतिक्खेणं छेत्तुं भेत्तुं च जं किरस्सकं।

जलयणलादिहिं णासं ण एदि सो होदि परमाणू।। (96)

जो अत्यंन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदा नहीं जा सकता, तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को भी प्राप्त नहीं होता, वह परमाणु है।

एकरसवण्णगंधं दो पासा सद्दकारणमसद्दं।

खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणुं भणंति बुधा।। (97)

जिसमें पांच रसों में से एक रस, पांच वर्णों मेंसे एक वर्ण, दो गंधों में से एक गंध, और स्निग्धरूक्ष में से एक तथा शीत- उष्ण में से एक ऐसे दो स्पर्श, इस प्रकार कुल पांच गुण हों, और जो स्वयं शब्दरूप न होकर भी शब्दका कारण हो एवं स्कन्ध के अन्तर्गत हो, ऐसे द्रव्य को पण्डितजन परमाणु कहते हैं।

अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहिं ण हु गेज्झं।

जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा।। (98)

जो द्रव्य अन्त, आदि एवं मध्य से विहीन हो, प्रदेशों से रहित अर्थात् एक प्रदेशी हो, इन्द्रियद्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता हो और विभागरहित हो, उसे जिन भगवान् परमाणु कहते हैं।

पूरंति गलंति जदो पूरणगलणेहि पोग्गला तेण।

परमाणु च्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि।। (99)

क्योंकि स्कन्धों के समान परमाणु भी पूरते हैं, और गलते हैं, इसीलिये पूरण-गलन क्रियाओं के रहने से वे भी पुद्गल के अंतर्गत हैं, ऐसा दृष्टिवाद अंग में निर्दिष्ट है।

वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि।

खंदं पिव कुणमाणा परमाणू पुग्गला तम्हा।। (100)

परमाणु स्कन्ध की तरह सब काल में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणोंमें पूरण-गलन को किया करते हैं, इसलिये वे पुद्गल ही हैं।

आदेसमुत्तमुत्तो धातुचउक्कस्स कारणं जादो।

सो णेओ परमाणू परिणामगुणो य खंदस्स।। (101)

जो नयविशेषकी अपेक्षा कथंचित् मूर्त व कथंचित् अमूर्त है, चार धातुरूप स्कन्धका कारण है, और परिणमनस्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिये।

परमाणूहिं अंणतांणतेहिं बहुविहेहि दव्वेहिं।

उवसण्णासण्णो त्ति य सो खंदो होदि णामेण।। (102)

नानाप्रकार के अनन्तानन्त परमाणु-द्रव्यों से उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कंध उत्पन्न होता है।

उवसण्णासण्णो वि य गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण।
सण्णासण्णो त्ति तदो दु इदि खंधो पमाणट्ठं।। (103)
अट्ठट्ठ गुणिदेहिं सण्णासण्णेहिं होदि तुडिरेणू।
तित्तियमेत्तहदेहिं तुडिरेणूहिं पि तसरेणू।। (104)
तसरेणू रथरेणू उत्तमभोगावणीए वालग्गं।
मज्झिमभोगखिदीए वालं पि जहण्णभोगविदिवालं।। (105)
कम्ममहीए वालं लिक्खं जूवं जवं च अंगुलयं।
इगिउत्तरा य भणिदा पुव्वेहिं अट्वगुणिदेहिं।। (106)

उवसन्नासन्न को भी आठ से गुणित करने पर सन्नासन्न नामका स्कंध होता है अर्थात् आठ उवसन्नासन्नों का एक सन्नासन्न नामका स्कंध होता है। आठ से गुणित सन्नासन्नों अथात् आठ सन्नासन्नों से एक त्रुटिरेणु, और इतने ही (आठ) त्रुटिरेणुओं से एक त्रसरेणु होता है। इसप्रकार पूर्वपूर्व स्कन्धोंसे आठ आठ गुणे क्रमशः रथरेणु, उत्तम भोगभूमिका बालाग्र, मध्यमभोगभूमिका बालाग्र, जघन्यभोगभूमिका बालाग्र, कर्मभूमिका बालाग्र, लीख, जूं, जौ और अंगुल, ये उत्तरोत्तर स्कंध कहे गये हैं।

तिवियप्पमंगुलं तं उच्छेहपमाणअप्पअंगुलयं।
परिभासाणिप्पण्णं होदि हु उदिसेहसूचिअंगुलयं।। (107)

अंगुल तीन प्रकार का है-उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। इनमें से जो अंगुल उपर्युक्त परिभाषा से सिद्ध किया गया है, वह उत्सेध सूच्यंगुल है।

तं चिय पंच सयाइं अवसप्पिणिपढमभरहचक्किस्स
अंगुल एकं चेव य तं तु पमाणंगुलं णाम।। (108)

पांचसौ उत्सेधांगुलप्रमाण अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्ती का एक अंगुल होता है, और इसीका नाम प्रमाणांगुल है।

जस्सिं जस्सिं काले भरहेरावदमहीसु जे मणुवा।

तस्सिं तस्सिं ताणं अंगुलमादंगुलं णाम।। (109)

जिस जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र में जो जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल है।

उस्सेहअंगुलेणं सुराण णरतिरियणारयाणं च।

उस्सेहंगुलमाणं चउदेवणिकेदणयराणिं।। (110)

उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण, और चारों प्रकार के देवों के निवासस्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है।

दीवोदहिसेलाणं वेदीण णदीण कुंडजगदीणं।

वस्साणं च पमाणं होदि पमाणंगुलेणेव।। (111)

द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुंड या सरोवर जगती और भरतादिक क्षेत्र इन सबका प्रमाण प्रमाणांगुल से ही हुआ करता है।

भिंगारकलसदप्पणवेणुपडहजुगाण सयणसगदाणं।

हलमुसलसत्तितोमरसिंहासणबाणणालिअक्खाणं।। (112)

चामरदुंदुहिपीढच्छत्ताणं णरणिवासणगराणं।

उज्जाणपहुदियाणं संखा आदंगुलं णेया।। (113)

झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाड़ी), हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुंदुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवासस्थान व नगर और उद्यानादिकों की संख्या आत्मांगुल से समझना चाहिये।

छहिं अंगुलेहि वादो बेवादेहिं विहत्थिणामा य।

दोण्णि विहत्थी हत्थो बेहत्थेहिं हवे रिक्कू।। (114)

बेरिक्कूहिं दंडो दंडसमा जुगधणूणि मुसलं वा।

तस्स तहा णाली वा दोदंडसहस्सयं कोसं।। (115)

छह अंगुलों का पाद, दो पादों का वितस्ति, दो वितस्तियों का हाथ, दो हाथों

का रिक्कू, दो रिक्कूओंका दण्ड, दण्डके बराबर अर्थात् चार हाथप्रमाण ही धनुष, मूसल, तथा नाली, और दो हजार दण्ड या धनुषका एक क्रोश होता है।

चउक्कोसेहिं जोयण तं चिय वित्थारगत्तसमवट्टं।
तत्तियमेत्तं घणफलमाणेज्जं करणकुसलेहिं।। (116)

चार क्रोश का एक योजन होता है। उतने ही अर्थात् एक योजन विस्तार वाले गोल गड्ढे का गणितशास्त्र में निपुण पुरुषों को घनफल ले आना चाहिये।

समवट्टवासवग्गे दहगुणिदे करणिपरिधिओ होदि।
वित्थारतुरिमभागे परिधिहदे तस्स खेत्तफलं।। (117)

समान गोलक्षेत्र के व्यास के वर्ग को दश से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का प्रमाण निकलता है। तथा विस्तार अर्थात् व्यास के चौथे भागसे परिधि को गुणा करने पर उसका क्षेत्रफल निकलता है।

उणवीसजोयणेसुं चउवीसेहिं तहावहरिदेसु।
तिविहवियप्पे पल्ले घणखेत्तफला हु पत्तेकं।। (118)

तथा उन्नीस योजनों को चौबीस से विभक्त करने पर तीन प्रकार के पल्यों में से प्रत्येक का घन क्षेत्रफल होता है।

उदाहरण-1. योजन व्यासवाले गोल क्षेत्र का घनफल-1×1×10=10; 10=19/6=परिधि 19/6×¼12/24=क्षेत्रफल; 19/24×1=19/24 घनफल

उत्तमभोगखिदीए उप्पण्णविजुगलरोमकोडीओ।
एकादिसत्तदिवसावहिम्मि च्छेत्तूण संगहियं।। (119)
अड्ढट्ठेहिं तेहिं रोमग्गेहिं णिरंतरं पढमं।
अञ्चंतं णविदूणं भरियव्वं जाव भूमिसमं।। (120)

उत्तम भोगभूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मैढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रों से उस एक योजन विस्तारवाले प्रथम पल्य को (गड्ढ को) पृथिवी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिये।

दंडपमाणंगुलए उस्सेहंगुल जवं च जूवं च।

लिक्खं तह कादूणं वालग्गं कम्मभूमीए।। (121)

अवरंमज्झिमउत्तमभोगविदीणं च वालअग्गाइं।

एक्केक्कमट्ठघणहदरोमा ववहारपल्लस्स।। (122)

ऊपर जो प्रमाण घनफल आया है उसके दण्ड करके प्रमाणांगुल कर लेना चाहिये। पुनः प्रमाणांगुलों के उत्सेधांगुल करना चाहिये। पुनः जौ, जूं, लीख, कर्मभूमि के बालाग्र, जघन्य भोगभूमि के बालाग्र, मध्यम भोगभूमि के बालाग्र, उत्तम भोगभूमि के बालाग्र, इनकी अपेक्षा प्रत्येकको आठके घनसे गुणा करने पर व्यवहारपल्य के रोमों की संख्या निकल आती है।

अट्ठरसं अंताणे सुण्णाणिं दोणवेक्कदोएका।

पणणवचउक्कासत्ता सगसत्ता एक्कातियसुण्णा।। (123)

दोअटूसुण्णतिअणहतियच्छदोण्णिपणचउतिण्णि य।

एक्कचउकाणिं ते अंक कमेण पल्लस्स।। (124)

अन्त में 18 शून्य, दो, नौ, एक, दो, एक, पांच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य, दो, आठ, शून्य, तीन, शून्य, तीन, छह, दो, पांच, चार, तीन, एक, और चार, ये क्रम से पल्य के अंक हैं।

एक्केकं रोमग्गं वस्ससदे पेलिदम्हि सो पल्लो।

रित्तो होदि स कालो उद्धारणिमित्तववहारो।। (125)

सौ सौ वर्ष में एक एक रोम-खण्ड के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो, उतने काल को व्यवहारपल्योपम कहते हैं। वह व्यवहारपल्य उद्धारपल्य का निमित्त है।

ववहाररोमरासिं पत्तेक्कमसंखकोडिवस्साणं।

समयसमं छेत्तूणं बिदिए पल्लम्हि भरिदम्हि।। (126)

समयं पडि एक्केकं वालग्गं पेलिदम्हि सो पल्लो।

रित्तो होदि स कालो उद्धारं णाम पल्लं तु।। (127)

व्यवहारपल्य की रोमराशि में से प्रत्येक रोमखण्ड को, असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भरकर पुनः एक एक समय में एक एक रोम-खण्ड को निकाले। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली हो जाय उतने काल को उद्धारपल्योपम समझना चाहिये।

चरिमे पढमं विग्घं चउदंसण उदयसत्तवोच्छिणा।

से काले जोगिजिणो सव्वण्हू सव्वदरसी य।। (218) क्ष.सा.

अर्थ-क्षीणकषायगुणस्थान के अन्तसमय में प्रथम अर्थात् ज्ञानावरण, अन्तराय और चारदर्शनावरण, ये कर्मप्रकृतियां सत्त्व से व्युच्छिन्न होती हैं और अनन्तरकाल में सयोगिजिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं।

विशेषार्थ-क्षीणकषायनामक 12वें गुणस्थान के चरम समय में एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा (मति-श्रुत अवधि मनःपर्यय-केवल) पाँच ज्ञानावरण, पांच (दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य) अन्तराय, (चक्षु-अचक्षुअवधि केवली, केवलरूप) चार दर्शनावरण इस प्रकार तीन घातिया कर्मों की 14 प्रकृतियों की उदय व सत्त्वव्युच्छित्ति हो जाती है अर्थात् इन प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है, क्योंकि इनकी बन्धव्युच्छित्ति सूक्ष्मसाम्परायनामक 10 वें गुणस्थान में ही हो जाती है।

शंका-क्षीणकषाय गुणस्थान के चरमसमय में घातियाकर्मों के साथ अघातिया कर्मों का क्षय क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि कर्मत्वकी अपेक्षा घातिया व अघातियाकर्मों में कोई अन्तर नहीं है ?

समाधान-ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विशेषघातभाव की अपेक्षा घातिया और अघातिया कर्मों में अन्तर पाया जाता है। इसीलिए क्षीणकषायगुणस्थान के चरमसमय में अघातियाकर्मों का स्थितिसत्कर्म रहता है, क्योंकि इनकी स्थितियों के विशेषघात का अभाव है। अघातियाकर्मों की स्थिति के विशेषघातका अभाव असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अघातियाकर्म घातियाकर्मों के समान अप्रशस्त नहीं हैं। घातियाकर्मों में मोहनीयकर्म अधिक अप्रशस्त है इसलिए विशेषषातभाव के कारण पूर्व में अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के चरमसमय में क्षय हो जाता है। यद्यपि

कर्मत्वकी अपेक्षा घातिया व अघातियाकर्मों में विशेषता नहीं है तथापि घात की अपेक्षा विशेषता होने से द्वितीय शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा क्षीणकषाय के चरमसमय में घातियाकर्मों का निर्मूल क्षय हो जाता है। क्षीणकषायगुणस्थान के चरमसमय में घातियाकर्मों के नाशका यह कथन उपपादानुच्छेद नय की अपेक्षासे है अन्यथा उस चरमसमय में अन्तिमनिषेक का सत्त्व और उदय पाया जाता है बन्ध की अपेक्षा इन घातियाकर्मों का और जीवप्रदेशोंका एकत्वरूप परिणमन हो रहा था। बन्धके कारणों के प्रतिपक्षी मोक्षके कारणभूत परिणामरूपयन्त्र के द्वारा पेलने पर जीवप्रदेशोंसे कर्मप्रदेशोंका निर्मूल हो जाना क्षय है। जीव से पृथक् हो जाने पर भी अकर्मभाव से परिणत कर्मपुदुगलों का पुद्गलस्वरूप से क्षय नहीं होता, जैसे मलसे व्यावृत्ति होने पर कपड़ा निर्मल हो जाता है, किन्तु मलकी सत्ता का अत्यन्त विनाश नहीं होता वैसे ही आत्मा कर्मों से निवृत्त होने पर परिशुद्ध हो जाता है। पश्चात् अनन्तरसमय में अनन्त केवलज्ञान-केवलदर्शन और अनन्तवीर्य से युक्त जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर सयोगिजिन हो जाते हैं ।

खीणे घादिचउक्के णंतचउक्कस्स होदि उप्पत्ती।

सादी अपज्जवसिदा उक्कस्साणंतपरिसंखा।। (216)

अर्थ-घातियाकर्म चतुष्टयका नाश होने पर अनन्त चतुष्टय की उत्पत्ति होती है, यह अनन्तचतुष्टय सादि व अपर्यवसित (अविनाशी) है तथा उत्कृष्ट अनन्त संख्यावाला है।

विशेषार्थ-सादि अर्थात् उत्पत्तिकाल में आदिसहित है तथापि अपर्यवसिता यानि अवसान अन्तसे रहित होने से अनन्त है अथवा अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा इनकी उत्कृष्ट अनन्तानन्तप्रमाण संख्या है अतः अनन्त कहते हैं।

किस कर्म के नाश से कौनसा गुण होता है-

आवरणदुगाण खये केवलणाणं च दंसणं होदि।

विरियंतरायियस्स य खएण विरियं हवे णंतं।। (220)

अर्थ-दोनों आवरणों के क्षय से केवलज्ञान व केवलदर्शन तथा वीर्यान्तराय-कर्म के क्षय से अनन्तवीर्य होता है।

विशेषार्थ-ज्ञानावरण व दर्शनावरण इन दोनों के नाश से केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है। इनमें केवलज्ञान तो इन्द्रिय, मन व प्रकाशादि की सहायतारहित है इसलिए केवल है। परमाणु आदि सूक्ष्म हैं अतीत अनागतकालसम्बन्धी अन्तरित अर्थात् द्रव्य अनादि अनन्त है, अतीत में भी था और अनागत में भी रहेगा अतः द्रव्य को जानने से अतीत व अनागतका जानना हो जाता है तथा दूरवर्ती क्षेत्र में स्थित 'दूर' कहलाता है इन सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती सर्वपदार्थों को केवलज्ञान युगपत् जानता है एवं केवलदर्शन देखता है। जैसे चन्द्र में शीतस्पर्श व श्वेतवर्णता युगपत् है वैसे जिनेन्द्रभगवान् में केवलज्ञान व केवलदर्शन युगपत् प्रवर्तता है छद्मस्थजीव के समान क्रमवर्ती नहीं है। वीर्यान्तरायकर्म के क्षय से अप्रतिहत सामर्थ्यवाला अनन्तवीर्य होता हैं जिसके सद्भाव में समस्तज्ञेयों को सदाकाल जानते हुए भी खेद उत्पन्न नहीं होता। अनन्तवीर्य के बलाधान विना निरन्तर अवस्थित उपयोगकी वृत्ति नहीं हो सकती। अनन्तवीर्य की सामर्थ्यविना अनवस्थित उपयोगका प्रसंग आ जावेगा।

णवणोकसाय विग्घउक्काणं च य खयादणंतसुहं।
अणुवममव्वावाहं अप्पसमुत्थं णिरोवक्खं।। (221)

अर्थ-नवनोकषाय और दानादि अन्तरायचतुष्क के क्षय से अनन्तसुख होता है और वह सुख अनुपम, अव्याबाध, अन्यकी अपेक्षा से रहित आत्मा से उत्पन्न है।

विशेषार्थ-नव नोकक्षाय और दानादि अन्तरायचतुष्क के क्षय से होनेवाला अनन्तसुख अनुपम है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा सुख नहीं पाया जाता है, किसी के द्वारा बाधित नहीं है अतः अव्याबाध है, आत्मा से उत्पन्न होने से आत्मसमुत्थ है तथा इन्द्रियविषय, प्रकाशादि की अपेक्षासे रहित है इसलिए निरापेक्ष है। इस प्रकार ज्ञान वैराग्य की उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ अनाकुललक्षण अनन्त सुख केवली के पाया जाता है।

सत्तण्हं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मतं।
वरचरणं उवसमदो खयदो दु चरित्तमोहस्स।। (222)

अर्थ-सातप्रकृतियों के क्षय से क्षायिकसम्यक्त्व तथा चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से उत्कृष्ट यथाख्यातचारित्र होता है।

विशेषार्थ-अनन्तानुबन्धी चारकषाय व तीन दर्शनमोह (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) इन 7 प्रकृतियों के क्षय से तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व होता है सो क्षायिक सम्यक्त्व है। चारित्रमोहनीयकर्म की 21 प्रकृतियों के उपशम या क्षयसे उत्कृष्टचारित्र (यथाख्यातचारित्र) होता है जो निष्कषाय आत्माचरणरूप है। यद्यपि यहां क्षायिक यथाख्यात चारित्र का प्रकरण है तथापि उपशान्तकषाय गुणस्थान में भी यथाख्यातचारित्रका प्रसंग होने से उपशमयथाख्यातचारित्र को भी कह दिया है। केवली भगवान् के असातावेदनीयकर्म के उदय से क्षुधादि परीषह पाये जाते हैं अतः उनके भी आहारादिक्रिया होती हैं इस प्रकार की शंका होने पर उसके परिहार स्वरूप गाथा कहते हैं।

जं णोकसायविग्घचउक्काण बलेण दुक्खपहुदीगंणं।
असुहपयडिणुदभवं इंदियखेदं हवे दुक्खं।। (223)

अर्थ-नोकषाय और अन्तरायइंचतुष्क के उदय के बल से दुःखरूप असातावेदनीयादि अशुभप्रकृतियों के उदय से उत्पन्न इन्द्रियों के खेदरूप आकुलता का नाम दुःख है और वह दुःख केवली भगवान् के नहीं पाया जाता है।

जं णोकसाय विग्घं चउक्काण बलेण सादपहुदीणं।
सुहपयडीणुदयभवं इंदियतोसं हवे सोक्ख।। (224)

अर्थ-नोकषाय और अन्तरायचतुष्क के उदय के बल से सातावेदनीयादि शुभप्रकृतियों के उदय से उत्पन्न इन्द्रियों के संतुष्टिरूप कुछ निराकुल सुख भी केवली भगवान् के नहीं पाया जाता है। क्योंकि-

णट्ठा रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं त्थि इंदियजं।। (225)

अर्थ-केवली भगवान् के राग-द्वेष नष्ट हो गए हैं तथा इन्द्रियजनित ज्ञान भी नष्ट हुआ है इसलिए साता असातावेदनीय के उदय से उत्पन्न सुख दुःख नहीं है।

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।

तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणामदि।। (226)

अर्थ-एक समय प्रमाण स्थितिवाला सातावेदनीयकर्म बंधता है जो कि उदयरूप ही है इसलिए उनके (केवली भगवान् के) असाता का उदय भी सातारूप होकर परिणमन करता है।

विशेषार्थ-असाता वेदनीय का वेदन करनेवाले जिनदेव आमय और तृष्णा से रहित कैसे हो सकते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि असातावेदनीय वेदित होकर भी वेदित नहीं है, कारण कि अपने सहकारी कारणरूप घातियाकर्मों का अभाव हो जाने से उसमें दुःख को उत्पन्न करने की शक्ति मानने में विरोध आता है।

शङ्का-निर्बीज हुए प्रत्येकशरीर के समान निर्बीज हुए असातावेदनीयका उदय क्यों नहीं होता?

समाधान-नहीं, क्योंकि भिन्नजातीय कर्मों की समान शक्ति होने का कोई नियम नहीं है।

शङ्का-यदि असातावदनीयकर्म निष्फल ही है तो वहां उसका उदय है, ऐसा क्यों कहा जाता है?

समाधान-नहीं, क्योंकि भूतपूर्व नय की अपेक्षा से वैसा कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि सहकारी कारण रूप घातियाकर्मों का अभाव होने से ही शेषकर्मों के समान असातावेदनीयकर्म न केवल निर्बीजभाव को प्राप्त हुआ है, किन्तु उदयस्वरूप साता वेदनीय का बन्ध होनेसे और उदयागत उत्कृष्ट अनुभागयुक्त सातावेदनीयरूप सहकारीकारण होने से उसका उदय भी प्रतिहत हो जाता है। यदि कहा जाय कि बन्ध के उदयस्वरूप रहते हुए सातावेदनोय कर्मको गोपुच्छ स्तुविकसंक्रमणद्वारा असातावेदनीय को प्राप्त होती होगी, सो बात भी नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है।

शङ्का-यदि यहां स्तुविकसंक्रमणका अभाव मानते हैं तो साता और असातावेदनीय की सत्त्वव्युच्छित्ति अयोगी गुणस्थान के अन्तिम समय में होने का प्रसंग आता है।

समाधान–नहीं, क्योंकि सातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाने पर अयोगीगुणस्थान में सातावेदनीय के उदय का कोई नियम नहीं है।

शङ्का–इस प्रकार तो सातावेदनीय का उदयकाल अन्तमुहूर्त विनष्ट होकर कुछ कम पूर्वकोटिप्रमाण प्राप्त होता है।

समाधान–नहीं, क्योंकि सयोगकेवलि गुणस्थान को छोड़कर अन्यत्र उदयकाल का अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है।

गाथा 216 से 226 सम्बन्धी विशेषकथनः

घातियाकर्मों के क्षय हो जाने के अनन्तरसमय में भ्रष्टबीज के समान चारों अघातियाकर्म शक्तिरहित हो जाने से युगपत् उत्पन्न होनेवाले अनन्त केवलज्ञान-दर्शन व वीर्य से युक्त, स्वयंभूपने को आत्मसात् करके जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं उन्हीं भगवान् अर्हन्तपरमेष्ठी को सयोगोजिन भी कहते हैं, क्योंकि उस अवस्था में ईर्यापथबन्ध का हेतुभूत तथा वचन और काय के परिस्पन्दलक्षणस्वरूप योगविशेष का सद्भाव होता है। केवलज्ञानादिका स्वरूप कहते हैं-केवल का अर्थ असहाय है, जिसमें इन्द्रिय, प्रकाश और मनकी अपेक्षा नहीं हो वह असहाय है। जो ज्ञान केवल (असहाय) हो वह केवलज्ञान है। केवलज्ञान अतीन्द्रिय सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्टपदार्थों को जानता है, करण (इन्द्रिय) क्रम और व्यवधानसे रहित है, ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर उत्पन्न हुआ है, उस प्रकाशसे बढ़कर अन्य कोई प्रकाश नहीं है और उससे अधिक कोई अतिशय नहीं, ऐसा वह केवलज्ञान है। उस केवलज्ञानका जो आनन्त्यविशेषण दिया गया है वह केवलज्ञान अविनश्वरता को बतलाता है। क्षायिकभाव केवलज्ञान के सादि-अपर्यवसित अवस्थानको प्रगट करता है। जैसे घट का प्रध्वंसाभाव सादि- अपर्यवसित है उसी प्रकार केवलज्ञान भी क्षायिक होने से सादि-अपर्यवसित है।

सर्वद्रव्य और उनकी पर्यायों को विषय करनेवाला केवलज्ञान है, इससे यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान परमोत्कृष्टअनन्तपरिणामवाला है। प्रमेय आनन्त्य अविनश्वर हैं अतः उनके जाननेवाली ज्ञानशक्ति के भी आनन्त्यपना सिद्ध हो जाता

है। प्रतिषेधका अभाव होने से केवलज्ञान उपचारमात्र से आनन्त्य नहीं है, किन्तु परमार्थ से आनन्त्य है । समस्त ज्ञेयराशि से केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं, यह आगमसे भलेप्रकार जाना जाता है। कहा भी है कि जो नाशवान नहीं है वह द्रव्य है अतः इसके आनन्त्य अनुपचारित है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

केवलज्ञान क्षायिक है, एक है, अनन्त है, भूत-भविष्यत और वर्तमान, इन तीनों कालों में सर्व अर्थ (ज्ञेयों) को युगपत् जानता है, अतिशयातीत है, अन्त्यातीत है, अच्युत है, व्यवधान से रहित है। इसी प्रकार केवलदर्शन का व्याख्यान करना चाहिए। दर्शनावरणका अत्यन्त रूपसे पूर्ण क्षय होने पर प्रगट होनेवाला दर्शनोपयोग अशेष (समस्त) पदार्थों का अवलोकन जिसका स्वभाव है, उसको भी आनन्त्य विशेषण प्राप्त है और वह केवलदर्शन कहा जाता है। प्रतिबन्ध की अनुपलब्धि मात्र से ही उसके आनन्त्य नहीं मानना चाहिए, किन्तु अविनाशी होने से आनन्त्य है।

शङ्का–सकल कैवल्य अवस्था में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में कोई भेद नहीं है, क्योंकि अशेष पदार्थों को साक्षात् करना दोनों का स्वभाव होने के कारण दोनों का विषय एक होने से दोनों के विषय में कोई भेद नहीं है इसलिए एक से ही समस्त पदार्थों का जानना हो जावेगा दूसरा व्यर्थ है फिर दोनों उपयोगोंका कथन क्यों किया गया?

समाधान–असंकीर्णस्वरूप से केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनों का विषय विभाग अर्थात् विषयभेद असकृत देखा जाता है अतः कैवल्य अवस्था में सकल विमल केवलज्ञान के समान अकलंक केवलदर्शनका भी अस्तित्व है यह सिद्ध हो जाता है अन्यथा आगमविरोधरूप दोषका परिहार नहीं हो सकेगा।

केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों प्रकाश एक हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्यपदार्थ को विषय करनेवाला साकारोपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग है और अन्तरङ्गपदार्थ को विषय करनेवाला अनाकारोपयोग अर्थात् दर्शनोपयोग है।अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादी। तं कथं णव्वदे? अणायारत्तण्णहाणुववत्तीदो। अर्थात् अन्तरङ्गपदार्थको विषय करनेवाले उपयोग को दर्शन स्वीकार किया है। यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरङ्ग पदार्थ न माना जाय तो

वह अनाकार नहीं बन सकता। इस प्रकार विषयभेद होने से दोनों उपयोगों का कार्य भिन्न-भिन्न है अतः कोई भी उपयोग व्यर्थ नहीं है। यदि दर्शन का सद्भाव न माना जावे तो दर्शनावरणकर्म के बिना सात ही कर्म होंगे, क्योंकि आवरण करनेयोग्य दर्शन का अभाव माननेपर उसके आवरक का सद्भाव मानने में विरोध आता है। दर्शन है, क्योंकि सूत्र में आठकर्मों का निर्दोष किया गया है। यह भी नहीं कह सकते कि दर्शनावरण का निर्देश केवल उपचारसे किया गया है, क्योंकि मुख्य वस्तु के अभाव में उपचार की उत्पत्ति नहीं बनती। वीर्यान्तराय कर्म का निर्मूलक्षय हो जाने से अनन्तवीर्य की उत्पत्ति होती है जो परिश्रम से उत्पन्न होनेवाली थकावट का विरोधी है तथा अप्रतिहतसामर्थ्यवाला है, अन्तरायरहित है वह अनन्तवीर्य कहा जाता है। भगवान् अशेष (समस्त) पदार्थों को विषय करनेवाले ध्रुवउपयोगरूप परिणामवाले हैं अर्थात भगवान् निरन्तर ध्रुवरूपसे समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि उनको खेद नहीं होता यह अनन्तवीर्य का उपग्रह (उपकार) है और यही उसकी उपयोगिता है। उस अनन्तवीर्य के बलाधान बिना सान्ततिक उपयोग की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा हम जैसे छद्मस्थों के उपयोग के समान उस उपयोग (केवली के उपयोग) की सामर्थ्य का विरह (अभाव) होने से अनवस्थाका प्रसंग आ जावेगा। कहा भी है-

''तव वीर्यविघ्नविलयेन समभवदनन्तवीर्यता।

तत्र सकल भुवनाधिगमप्रभृति स्वशक्तिभिरवस्थितो भवानिति।।''

हे भगवन्! आपके वीर्यान्तराय कर्म का विलय हो जाने से अनन्तवीर्य हो गया है। अपने वीर्य के द्वारा समस्तभुवन को जानने आदिरूप प्रवृत्ति में अवस्थित हैं अर्थात् आपका उपयोग किंचित् भी चलायमान नहीं होता। इसके द्वारा केवली के आत्यन्तिक सुखका व्याख्यान हो जाता है, क्योंकि अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य उपवृहित सामर्थ्यवाले, वीत मोहस्वरूप, ज्ञान और वैराग्यकी अतिशय पराकाष्ठापर आरूढ़, परमनिर्वाण, लक्षणवाले, सुखकी आत्यन्तिक (अविनाशी) रूपसे उपलब्धि होती है। अतिशय ज्ञान व वैराग्य से उत्पन्न वीतरागसुख से अन्य किंचित् सुख नहीं। सरागसुख तो एकान्ततः दुःख ही है। कहा भी है-

''सपरं बाहासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव सदा।।
विरागहेतु प्रभवं न चेत्सुखं न नाम किंचित्तदिति स्थितावयम्।
स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति तत् त्वदन्यतस्सत्त्वयि येन केवलम्।।''

जो सुख पांचों इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है वह परद्रव्यों की अपेक्षा से होता है इसकारण पराधीन है, क्षुधा तृषा आदि अनेक रोगोंके कारण बाधासहित है, असाता वेदनीय कर्मोदय के कारण नाशवान तथा अन्तरसहित है, देखे सुने व अनुभव किये हुए भोगों की इच्छादि अनेक दुष्परिणामों से नरकगति आदि अशुभकर्म बन्धते हैं जिनका उदय होने पर नरकादि गतियों में जाकर नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं, हानिवृद्धि होने से एकसा नहीं रहता अतः विषम है इन पांच कारणों से यह सांसारिकसुख दुःखरूप ही है।

विराग हेतुसे उत्पन्न हुआ सुख यदि सुख नहीं है तो निश्चयसे कोई सुख है ही नहीं, ऐसा हमें निश्चय हो गया है, विराग हेतु निमित्त है यह स्पष्ट है। आप से अर्थात् केवली से अन्य में वह हेतु नहीं है, क्योंकि वह हेतु केवल आप में ही है। इसलिए जिस सुख में अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य चारित्र प्रधान हैं जो अनुपरतवृत्ति अर्थात् विच्छिन्न नहीं होता, निरतिशय अर्थात् उस सुख से बढ़कर कोई अतिशय नहीं है, आत्मा से उत्पन्न होता है, ऐसा अनन्तसुख अतीन्द्रिय और निष्प्रतिद्वन्द्व (विरोधरहित) है।

किसी वादी को यह दृढ़ निश्चय है कि सयोग केवली के असातावेदनीय का उदय होने से अनन्तसुख का अभाव और यह बात उल्लंघन भी नहीं की जा सकती, क्योंकि सयोगकेवली के कवलाहारवृत्ति पाई जाती है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सयोगकेवली के असाता वेदनीय के उदय में सहकारी कारण का अभाव होने से वह (उदय) अकिंचित्कर (व्यर्थ) है। जैसे सहकारीकारण के अभाव में परघात का उदय अकिंचित्कर है। अतः अनन्तज्ञान दर्शन-वीर्य चारित्र व सुख परिणामी होने से सयोग केवली कवलाहार (भोजन) नहीं करते, जैसे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य चारित्र व सुखपरिणामी होने से कवलाहार नहीं

करते, क्योंकि सयोगकेवली और सिद्धपरमेष्ठी इन दोनों के समस्त अन्तरायकर्म का पूर्णरूप से क्षय हो जाने के कारण अनन्तवीर्य के द्वारा उपलक्षित अनन्तदान-लाभ-भोग व उपभोगलब्धि में कोई विशेषता नहीं है। सयोगकेवली के स्वरूप का निरूपण करनेवाली निम्नलिखित दो गाथाएं हैं-

''केवलणाणदिवायर किरणकलापप्पणासियण्णाणो।
णव केवललदूधुग्गमसुजणिय परमप्पववएसो।।
असहायणाणदंसण सहिओ इदि केवली हु जोएण।
जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उत्तो।।''

केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिसने नव केवललब्धियों के प्रगट होने से 'परमात्मा' इस संज्ञा को प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रियादि की अपेक्षा न रखनेवाले असहायज्ञान व दर्शन से युक्त होने के कारण केवली, तीनों योगों से युक्त होने के कारण सयोगी और घातियाकर्मों को जीत लेने अर्थात् क्षय कर देने से जिन कहे जाते हैं ऐसा अनादि निधन आर्ष में कहा गया है।

भगवत् अर्हत्परमेष्ठी स्वयं पदार्थज्ञान में स्थित है, तथापि परार्थप्रवृत्ति स्वभाव से निकटभव्यों के हित के लिए धर्मामृत की वृष्टि करते हुए अबुद्धिपूर्वक सर्वप्राणियों के उद्धार की भावना के अतिशय से प्रोरित होकर भव्यजनों के पुण्य के कारण तथा शेष कर्मफल के सम्बन्ध से विहार करते हैं। प्रतिसमय कर्मप्रदेशों की असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा करते हुए धर्मतीर्थ प्रवर्तन के लिए यथोचित धर्मक्षेत्र में अतिशयीविभूति के साथ प्रशस्त-विहायोगति नामकर्म के कारण तथा स्वभाव से विहार करते हैं।

शङ्का-अर्हत्भगवान्का व्यापार अर्थात् अतिशयविहार अभिसन्धिपूर्वक (हेतु से) होता है, अन्यथा यत्किंचनकरित्व (यद्वा तद्वा कुछ भी किये जाने पर) के दोष (अनुषंजनात्) का प्रसंग आ जावेंगा। यदि अभिसंधिपूर्वक माना जाता है तो इच्छा होने से असर्वज्ञ हो जावेंगे जो इष्ट नहीं है।

समाधान-ऐसा नहीं है, क्योंकि कल्पतरु के समान इच्छा के बिना भी केवली के परार्थ की सामर्थ्य उत्पन्न होती है अथवा दीपक के समान। जैसे दीपक कृपालु होकर स्व और पर के अन्धकार को दूर नहीं करता, किन्तु स्वभाव से ही स्वपरसम्बन्धी अन्धकार को दूर करता है इसमें कुछ भी बाधा नहीं आती है। कहा भी है-

''जगते त्वया हितमवादि न च विवदिषा जगद्गुरो।
कल्पतरुरनभिसन्धिरपि प्रणयिभ्य ईप्सितफलानि यच्छति।।
कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयों धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम्।।
विवक्षासन्निधानेऽपि वाग्वृत्तिर्जातु नेक्ष्यते।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः।।''

''हे जगद्गुरो! आपके द्वारा जगत् का कल्याण विवाद का विषय नहीं है, क्योंकि इच्छा रखनेवाले प्राणियों के लिए कल्पवृक्ष बिना इच्छा ही वांछित फलों को देता है। हे मुनीश! आपकी मन-वचन-काय की प्रवृत्तियां इच्छापूर्वक नहीं होती, हे धीर! असमीक्षापूर्वक (बिनाविचारे) आपकी प्रवृत्तियां नहीं होती इसलिए आपकी प्रवृत्ति अचिन्त्य है। कहने की इच्छा होने पर भी वचनप्रवृत्ति कदाचित् नहीं देखी जाती, जैसे मन्दबुद्धिलोग शास्त्रों के वक्ता होने की इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धि के कारण कुछ कह नहीं सकते।'' इसलिए परमोपेक्षासंयमविशुद्धि में स्थित केवलीके विशेष अतिशय व्याहार (दिव्यध्वनि) आदि व्यापार स्वाभाविक हैं, पुण्यबन्ध के कारण नहीं हैं। आर्ष में कहा भी है-

''तित्थेयरस्स विहारो लोयसुहो णेव तस्स पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तण्ण लेवेइ।।''

भगवान् का विहाररूप अतिशय भूमि को स्पर्श न करते हुए आकाश में भक्ति से प्रेरित देवों के द्वारा रचित स्वर्णमयी कमलों पर प्रयत्न विशेष के बिना ही अपने माहात्म्यातिशय से होता है ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि उनको योगशक्ति अचिन्त्य है। कहा भी है-

''नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।
पादाम्बुजे पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै।।''

हे जिनेन्द्र! कामदेव के गर्व को नष्ट करने वाले आपने सहस्रदल कमलों के मध्य में चलनेवाले अपने चरणकमलों के द्वारा आकाशतल को पल्लवों से युक्त जैसा करते हुए पृथ्वी पर स्थित प्रजाजनों की विभूतिके लिए विहार किया था।

सयोगिजिन के प्रथमसमय से लेकर केवलीसमुद्घात के अभिमुख केवली के प्रथमतक अवस्थित एकरूप से गुणश्रेणि निक्षेपका क्रम जानना चाहिए, क्योंकि प्रतिसमय परिणाम अवस्थित हैं और परिणामों के निमित्त से होनेवाला कर्मप्रदेशों का अपकर्षण व गुणश्रेणिनिक्षेप का आयाम सदृश अर्थात् अवस्थितरूप को छोड़कर विसदृशरूप परिणमन नहीं करता यानि अपकर्षित कर्मप्रदेशों की संख्या में या गुणश्रेणिआयाम में हीनाधिकता नहीं होती, किन्तु क्षीणकषायगुणस्थान में गुणश्रेणिके निमित्त से जो द्रव्य अपकर्षित किया जाता था उससे असंख्यातगुणा द्रव्य सयोगकेवली अपकर्षित करते हैं। गुणश्रेणिनिक्षेप का आयाम संख्यातगुणा हीन है, क्योंकि छद्मस्थ के परिणामों से केवली के परिणाम विशुध्दतर हैं, ऐसा 11वीं गुणश्रेणिप्ररुपणा में कहा गया है। इस प्रकार आयुकर्म को छोड़कर शेष तीन अघातिया कर्मों के प्रदेशों की असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा करनेवाले तथा धर्मतीर्थ को फैलानेवाले उत्कृष्टरूप से कुछ कम पूर्वकोटि कालतक विहार करते हैं। तीर्थङ्कर केवली के और अन्य केवलियों के जघन्यकाल का उत्कृष्ट कालप्रमाण आगम से जान लेना चाहिए। तीर्थङ्करकेवली समवशरणविभूति के साथ विहार करते हैं।

पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं।
समयपबद्धं बंधादि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी।। (227)

अर्थ-सयोगिजिन प्रतिसमय औदारिकशरीररूप नोकर्मसम्बन्धी आहार-वर्गणारूप समयप्रबद्धको बांधते हैं जिसकी स्थिति सयोगिजिन से पूर्व अवस्था में व्यतीत हुई आयुके बिना शेष बची आयुप्रमाण जानना।

विशेषार्थ-नोकर्मवर्गणा ग्रहणकरना ही आहारमार्गणा है और इसका सद्भाव केवलीभगवान् के है, क्योंकि ओज, लेप, मानसिक, कवल, कर्म और नोकर्म के

भेद से छह प्रकार का आहार है। इन छह प्रकार के आहार में से कर्म व नोकर्मरूप दो प्रकार का आहार पाया जाता है। सातावेदनीय के समयप्रबद्ध को ग्रहण करता है वह कर्म आहार है तथा ओदारिकशरीररूप समयप्रबद्ध को ग्रहण करता है वह नोकर्म आहार है।

णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे।
णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ।। (228)

अर्थ-इतनी विशेषता है कि केवलीसमुद्घात को प्राप्त केवली भगवान् में प्रतर के दो, लोकपूरण के एक इन तीनसमयों में नोकर्म का आहार नहीं है अन्यसर्वकाल में नोकर्म का आहार पाया जाता है।

पश्चिमस्कंधद्वार का कथन-

अंतोमुहुत्तमाऊ परिसेसे केवली समुग्घादं।
दंड कवाटं पदरं लोगस्स य पूरणं कुणदी।। (229)
हेट्ठा दंडस्संतोमुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं।
तं च समुग्घादस्स य अहि मुह भावो जिणिंदस्स।। (230)
सट्ठाणे आवज्जिद करणेवि य णत्थि ठिदिरसाण हदी।
उदयादि अवट्ठिदया गुणसेढी तस्स दव्वं च।। (231)
जोगिस्स सेसकाले गयजोगी तस्स संखभागो य।
जावदियं तावदिया आवज्जिद करणगुणसेढी।। (232)
ठिदिखंडमसंखेज्जे भागे रसखंडमप्पसत्थाणं।
हणदि अणंत भागा दंडादी चउसु समएसु।। (233)
चउसमएसु रसस्स य अणुसमओवट्टणाअसत्थाणं।
ठिदिखंडस्सिगिसमयिगघादो अंतोमुहुत्तुवरिं।। (234)
जगपूरणम्हि एक्का जोगस्स य वग्गणा ठिदी तत्थ।
अंतोमुत्तमेत्ता संखगुणा आउआ होदि।। (235)
एत्तो पदर कवाडं दंड पच्चा चउत्थसमयम्हि।
पाविसिय देहं तु जिणो जोगणिरोधं करेदीदि।। (236)

अर्थ–अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर केवली भगवान् समुदुघातक्रिया दंड, कपाट, प्रतर व लोकपूरणरूप से करते हैं। दंडसमुद्घात करने के समय में अन्त मुहूर्त कालतक अधः (पहले) आवर्जितकरण होता है। जिनेन्द्रभगवान् का समुदुघात करने के सम्मुख होना ही आवर्जितकरण कहलाता है। आवर्जितकरण करने के पहले जो स्वस्थान है उसमें और आवर्जितकरण में सयोगकेवली के स्थिति व अनुभागघात नहीं है तथा उदयादि अवस्थितरूप गुणश्रेणि आयाम है एवं उस गुणश्रेणिआयाम का द्रव्य भी अवस्थित है। आवर्जितकरण करने के पहले समय में जो सयोगकेवलीका अवशिष्टकाल और अयोगकेवली के सर्वकाल का संख्यातवांभाग इन दोनों को मिलाने पर जितना प्रमाण आवे उतने प्रमाण आवर्जितकरणकाल का अवस्थितगुणश्रेणिआयाम जानना। दंडादिसमुदुघात के चार समयों में स्थिति तो असंख्यात बहुभाग प्रमाण और अप्रशस्त कर्मों का अनुभागका अनंत बहुभागप्रमाण घात होता है। इस प्रकार चारसमयों में अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का प्रतिसमय अपवर्तन तथा स्थितिखंडका एक समयवाला घात हुआ। एक-एक समय में जो एक एक स्थिति काण्डकघात किया सो यह समुदुघात क्रिया का माहात्म्य है। लोकपूरण के अनन्तर अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थितिकाण्डक या अनुभागकाण्डक का आयाम (उत्कीरणकाल) होता है। लोकपूरण समुद्घात में योगकी समानता हो जाने पर योगकी एकवर्गणा हो जाती है। यहाँ आयु से संख्यातगुणी अन्तर्मुहूर्त प्रमाणस्थिति को स्थापित करता है। लोकपूरण के अनन्तर प्रथमसमय में लोकपूरण को समेटकर आत्मप्रदेशोंको कपाटरूप करता है तथा तृतीय समय में कपाट को समेटकर दण्डरूप आत्मप्रदेशों को करता है, इसके अनन्तर चतुर्थसमय में दण्ड को समेटकर सर्वआत्म प्रदेश मूलशरीर में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ से अन्तर्मुहूर्त जाकर जिन (अर्हन्त भगवान्) योग का निरोध करते हैं।

विशेषार्थ–केवलज्ञान को उत्पन्नकर के स्वस्थान सयोग केवली होकर उत्कृष्ट से कुछ कम पूर्वकोटिप्रमाण विहार करते हैं। अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहने पर अघातियाकर्मों की स्थितिको समान करने के लिए सर्वप्रथम आवर्जितनामक क्रियान्तर को करता है।

शङ्का–आवर्जितकरण किसे कहते हैं?

समाधान–केवलीसमुद्घात के अभिमुखभाव को आवर्जितकरण कहते हैं। केवली आवर्जितकरणका पालन करते हैं, क्योंकि अन्तर्मुहुर्त प्रमाणवाले आवर्जितकरण के बिना केवली समुदुघातक्रिया के अभिमुखभावकी उत्पत्ति नहीं होती। उससमय नाम-गोत्र व वेदनीय कर्म के प्रदेशपिण्डका अपकर्षण करके उदय स्थिति में स्तोकप्रदेशाग्र देता है उसके अनन्तर असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र को देता है। इस प्रकार शेष सयोगकेवली व अयोगकेवलीकाल से विशेषअधिककालतक असंख्यात गुणी श्रेणिरूप से देता जाता है जबतक अपना गुणश्रेणि शीर्ष प्राप्त नहीं होता। इससे पूर्व समय में स्वस्थान सयोग केवली के गुणश्रेणिआयाम से वर्तमान गुणश्रेणिआयाम संख्यातगुणाहीन है अतः पूर्वके गुणश्रेणिशीर्ष से उपरिम अनन्तर स्थिति में भी असंख्यातगुणे प्रदेशाग्र देता है उससे ऊपर सर्वत्र विशेष (चय) हीन देता है। इस प्रकार आवर्जितकरणकाल में सर्वत्र गुणश्रणिनिक्षेप जानना। यहाँ से लेकर सयोगकेवली के द्विचरम स्थितिकाण्डक की चरम फालिपर्यन्त गुणश्रेणि निक्षेपा यामका अवस्थित आयाम रूप से प्रवृत्ति का नियम देखा जाता है; यह असिद्ध भी नहीं क्योंकि सूत्र अविरुद्ध परमगुरुसम्पदा के बल से सुपरिनिश्चित है।

शङ्का–स्वस्थान केवली के और क्रियाभिमुखकेवली के अवस्थित एकस्वरूप परिणाम होते हुए भी गुणश्रेणिनिक्षेप में विसदृशपना किस कारण से हैं?

समाधान–वीर्यपरिणामों में भेद का अभाव होने पर भी अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने की अपेक्षा अन्तरंगपरिणामों की विशेषता वाले और क्रियाभेद के साधन में प्रवर्तनेवाले के प्रतिबन्ध का अभाव है। अर्थात् स्वस्थान केवली से आवर्जितकरण केवली के गुणश्रेणिआयाम व गुणश्रेणिप्रदेशनिक्षेप समान होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इस प्रकार अन्तमुहूर्त काल तक आवर्जित करणसम्बन्धी व्यापारविशेष का पालनकर के स्थित केवली अनन्तर समय में केवलीसमुद्घात को करता है।

शंका–केवलीसमुदुघात किसे कहते हैं?

समाधान–उद्घामनमुद्घातः, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः। समीचीन उछ्घातः समुद्घातः केवलिनां समुद्घातः केवलीसमुद्घातः उद्गम को उद्घात कहते हैं अर्थात्

जीवप्रदेशका फैलना उद्घात है, समीचन उद्घात समुद्घात है। केवलियोंका समुद्घात केवर्लीसमुद्घात है। अघातियाकर्म की स्थिति का समीकरण करने के लिए केवलीजिन के आत्म प्रदेशों की आगम अविरुद्ध से ऊपर नीचे व तिर्यक्रूप से फलने को केवलीसमुद्घात कहते हैं। अन्य समस्त समुद्घात का निषेध करने के लिये यहाँ पर केवल विशेषण दिया गया है, क्योंकि यहाँ अन्य समुद्घात का अधिकार नहीं है। दण्ड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण के भेद से वह केवलीसमुद्घात चार प्रकार का है। उनमें सर्वप्रथम दंड समुद्घात का स्वरूप कहते हैं, केवलीजिन सर्वप्रथम दंडसमुदुद्घात को ही करते हैं।

शंका–दण्डसमुद्घातका क्या लक्षण है?

समाधान–अन्तर्मुहुर्त प्रमाण आयु शेष रह जाने पर केवलीसमुद्घात को करनेवाले केवलीजिन पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग या पल्यंकान में स्थित होते हैं। कायोत्सर्ग से दण्डसमुद्घात करनेवाले के विस्तार में मूलशरीर की परिधिप्रमाणवाले जीवप्रदेश निकलकर दण्डाकार कुछ कम 14 राजू आयामवाले हो जाते हैं 'देसोरण' से अभिप्राय लोक के ऊपर और नीचे वातवलयों से अविरुद्धक्षेत्र का है क्योंकि स्वभाव से ही उस अवस्था में केवली जिन के प्रदेशों का वातवलय में प्रवेश का अभाव है। इसी प्रकार पल्यंकासन वाले केवलियों के दण्डसमुद्घात का कथन करना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि मूलशरीर की परिधि से दण्डसमुद्घात की परिधि तिगुणी होती है। इस प्रकार की अवस्था विशेषको दण्डसमुद्घात कहते हैं। इसमें जीव प्रदेश दण्डाकार से फैलते हैं अतः यह दण्डसमुद्घात कहलाता है। दण्डसमुद्घात में औदारिककाययोग होता है, क्योंकि अन्ययोग असम्भव है। उसीसमय पल्योपमके असंख्यातवेंभागप्रमाण स्थिति सत्कर्मवाले तीनअघातियाकर्मों की स्थिति के असंख्यातबहुभाग घात करने से सख्यातवेंभागप्रमाण स्थिति शेष रह जाती है। केवलीसमुद्घात के प्रभाव से एक समय में ही स्थितिघात हो जाता है। अप्रशस्तप्रकृतियोंका जो अनुभाग क्षीणकषायगुणस्थान के द्विचरमसमय में था चरमसमय में उसका अनन्तबहुभाग घात होकर अनन्तवेंभागप्रमाण अनुभागसत्कर्म शेष रह जाता है, उसका भी अनन्त

बहुभाग समुद्घातगत केवली के प्रथमसमय में होकर अनन्तवेंभागप्रमाण अनुभागसत्कर्म रह जाता है। प्रशस्तप्रकृतियों का स्थितिघात तो होता है, किन्तु अनुभागघात यहाँ नहीं होता है। आवर्जितकरण में जैसी गुणश्रेणिप्ररुपणा की गई थी वैसी ही प्ररुपरणा यहाँ भी करना चाहिए। (इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वस्थान केवलि व आवर्जितकरणकेवलिके स्थिति व अनुभागघात नहीं होता।)

अनन्तरसमय में अर्थात् केवलीसमुद्घात के द्वितीय समय में कपाटसमुदुघात होता है। जैसे किवाड़ (कपाट) बाहुल्य (मोटाई) में स्तोक होकर भी विषकम्भ और आयाम (लम्बाई चौड़ाई में) बढ़ता है उसी प्रकार विस्तार में जीवप्रदेश मूलशरीरप्रमाण या मूलशरीर से तिगुणे होकर कुछ कम चौदहराजू लम्बे और दोनों पार्श्वभागों में सातराजू या हानि वृद्धिरूप सातराजू चौड़े फैल जाते हैं इसलिए इसको कपाट (किवाड़) समुद्घात कहा है। यहां स्फुट कपाटरूप संस्थान उपलब्ध होता है तथा पूर्व या उत्तरमुख के कारण विष्कम्भ में भेद हो जाता है। कपाटसमुद्घात में औदारिक मिश्र का योग होता है। कार्मण और औदारिक इन दोनों की मिली हुई अवस्थाके अवलम्बन से जीवप्रदेशों की परिस्पन्दरूप पर्याय उत्पन्न होती है। शेषकर्मस्थिति का असंख्यात बहुभाग और अप्रशस्तप्रकृतियों के शेष अनुभाग के अनन्तबहुभाग का घात कपाटसमुद्घात में होता है। यहां गुणश्रेणी की प्ररुपणा आवर्जितकरण में कथित गुणश्रेणिप्ररुपणा के समान ही है।

केवलीसमुद्घात के तृतीय समय में मंथ (प्रतर) समुद्घात होता है, जिसके द्वारा कर्मों का मथन किया जावे वह मन्थ है। अघातिया कर्मों की स्थिति व अनुभाग का हनन होता है और आत्मप्रदेशों की अवस्थाविशेष (प्रतररूप से फैल जाते हैं) को प्रतरसंज्ञावाला मन्थ कहा गया है। इस अवस्थाविशेष में वर्तन करनेवाले केवली के जीवप्रदेश चारों ओर प्रतराकार से फैल जाते हैं, वातवलयों के अतिरिक्त शेष समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में व्याप्त हो जाते हैं, क्योंकि इस अवस्था में वातवलयों में केवलीके जीवप्रदेशों के संचार का अभावरूप स्वभाव है, जीवप्रदेशों की ऐसी अवस्थाको प्रतरसंज्ञा आगमरुढ़ि के बल से जानना। इस अवस्था में केवली कार्मणकाययोगी व अनाहारक हो जाते हैं। मूलशरीरके

अवलम्बन से उत्पन्न जीवप्रदेशों का परिस्पन्दन असम्भव है क्योंकि शरीर के तत्प्रायोग्य नोकर्म पुद्गल पिण्ड के ग्रहण का अभाव है। स्थितिसत्कर्म के असंख्यातबहुभाग और अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभागसत्कर्म के अनन्तबहुभाग का पूर्व के समान ही घात होता है और उसी प्रकार प्रदेश निर्जरा भी होती है। स्वस्थान केवली की गुणश्रेणिनिर्जरा से असंख्यातगुणी गुणश्रेणीनिर्जरा आवर्जितकरण आदि अवस्थाओं में होती है।

तदनन्तर चतुर्थसमय में लोकपूरणसमुद्घात होता है। वातवलय से अविरुद्ध लोकाकाश के प्रदेशों में जीवप्रदेश प्रवेशकर जानेपर जीवप्रदेश व लोकाकाश के प्रदेशों में समानता होने से सम्पूर्ण लोकाकाश में जीव प्रदेश निरन्तर (अन्तररहित) व्याप्त हो जाते हैं इसलिए 'लोकपूरण' संज्ञावाला यह चतुर्थ केवलीसमुद्घात है। यहाँ पर भी कार्मणकाययोग व अनाहारक अवस्था होती है, क्योंकि शरीरनिवृत्ति के लिए औदारिकरूप नोकर्मवर्गणाओं का निरोध देखा जाता है। लोकपूरणसमुद्घात में वर्तन करनेवाले केवली के लोकप्रमाण समस्त जीवप्रदेशों में वृद्धि हानिके बिना योग-अविभागप्रतिच्छेद सदृश होकर परिणमन करते हैं इसलिए सर्वजीवप्रदेशों में एक योगवर्गणा हो जाती है अर्थात् सर्वजीव प्रदेशों में समान योग होता है। सर्वजीवप्रदेशों में सहयोगशक्ति के अतिरिक्त विसदृशयोग शक्तिको अनुपलब्धि है। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके जघन्ययोगसे असंख्यातगुणा तत्प्रायोग्य मध्यमयोग स्वरूप वह सदृशयोग परिणाम होता है। लोकपूरण समुद्घात में असंख्यात बहुभागप्रमाण स्थिति का घात हो जाने पर शेषस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रह जाती है जो शेषआयु से संख्यातगुणी है। लोकपूरणसमुद्घात हो जानेपर भी तीनअघातियाकर्मों का स्थितिसत्कर्म आयुकर्म के समान नहीं हुआ, किन्तु संख्यातगुणा है, परन्तु महावाचक आर्यमंक्षु आचार्य ने क्षपण के उपदेश में यह कहा है कि लोकपूरण समुद्घात में नाम गोत्र व वेदनीयकर्मका स्थितिसत्कर्म अन्तर्मुहूर्तप्रमाण शेषआयु के बराबर हो जाता है। इस व्याख्यान से चूर्णिसूत्र (यतिवृषभाचार्यकृत) विरुद्ध है, क्योंकि चूर्णिसूत्र में मुक्तकण्ठ से कहा गया है कि शेषआयु से संख्यातगुणी अघातियाकर्मोकी स्थिति रह जाती है । इसप्रकार यहां दो उपदेश हैं। प्रवृत्तमान उपदेश की प्रधानताका अवलम्बन

लेकर यहां शेष आयुसे संख्यातगुणी तीन अघातियाकर्मों की स्थिति कही गई है। समुद्घात के इन चारसमयों में प्रतिसमय अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग का अपवर्तनाघात होता है। इनचार समयों में एक-एकसमय में एक-एक स्थितिघात होता है। आवर्जितकरण के अनन्तर केवलीसमुद्घात करके नाम गोत्र व वेदनीयकर्म की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रह जाती है।

शङ्का–लोकपूर्णसमुद्घातक्रिया के पूर्ण होनेपर केवलो समुद्घात क्रिया का उपसंहार (संकोच) करके स्वस्थान को किस प्रकार प्राप्त होते हैं?

समाधान–लोकपूरणसमुद्घात के अनन्तर पुनः मन्थक्रिया होती है, क्योंकि मन्थपरिणाम (पर्याय) के बिना संकोच नहीं हो सकता। लोकपूरणसमुद्घात संकुचित होने पर समयोगपर्यायका नाश होकर आगमके अविरोधसे सर्व पूर्वयोग स्पर्धक उद्घाटित हो जाते हैं। मन्थ (प्रतर) का संकोच होकर कपाटरूप प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कपाटरूप पर्याय के बिना मन्थका संकोच नहीं हो सकता। अनन्तरसमय में दण्डसमुद्घातरूप परिणमन करने पर कपाट का संकोच होता है तथा तदनन्तरसमय में स्वस्थान केवली पर्याय के द्वारा दण्डसमुद्घात का संकोच करके हीनाधिकता से रहित मूलशरीरप्रमाण जीवप्रदेशोंका अवस्थान हो जाता है। इस प्रकार संकोच करनेवाले के तीनसमयप्रमाण काल है, चौथेसमय में स्वस्थानकेवली हो जाते हैं। किन्हीं के व्याख्यानुसार संकोच करनेवाले का चारसमय काल है, क्योंकि जिससमय में दण्डसमुद्घातका संकोच होता है वह समय भी समुद्घात में ही अन्तर्भूत कर लिया है। पूर्ववत् प्रतरसमुद्घात में कार्मणकाययोग, कपाटसमुद्घात में औदारिकमिश्रकाययोग और दण्डसमुद्घात में औदारिककाययोग होता है। कहा भी है-

दण्डं प्रथमे समये कवाटमथ चोत्तरे तथा समये।
मंथानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थेतु।।
संहरति पंचमे त्वन्तराणि मंथानमथ पुनः षष्ठे।
सप्तमके च कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम्।।

प्रथमसमय में दण्ड, अनन्तर अगलेसमय में कपाट, तृतीयसमय में मंथान और चतुर्थसमय में लोकव्यापी, पांचवें समय में संकोचक्रिया, छठे समय में मंथान, सातवें समयमें कपाट तथा उसका संकोच होकर आठवें समय में दण्ड हो जाता है। इसप्रकार समुद्धात प्ररुपणा समाप्त हुई।

लोकपूरणसमुद्धात से उतरनेवाला अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के संख्यातबहुभाग को घातने के लिए स्थितिकाण्डकघात को और अप्रशस्त प्रकृतियों के पूर्वघातित अवशेष अनुभाग के अनन्तबहुभाग को घातने के लिए अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ करता है। यहां स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात का उत्कीरणकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि लोकपूरणसमुद्धाात के अनन्तरसमय से प्रतिसमय एक समयवाला स्थितिघात व अनुभागघात नहीं होता। इस प्रकार से समुद्धात को संकोच करने के काल स्वस्थानकाल में संख्यातहजार स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डकघात हो जाने पर योग निरोध करता है।

वह (पूर्वोक्त) जीवप्रज्ञापना क्या है?

(1) संसार-समापन्न (संसारी) जीवों की प्रज्ञापना और (2) अंससार-समापन्न (मुक्त) जीवों की प्रज्ञापना।

जीव की परिभाषा-जो जीते हैं, प्राणों को धारण करते हैं, वे जीव कहलाते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं-द्रव्यप्राण और भावप्राण। द्रव्यप्राण 10 हैं-पांच इन्द्रियां, तीन बल-मन-वचन-काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्यबल प्राण। भावप्राण चार हैं- ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य। संसारसमापन्न समस्त जीव यथायोग्य भावप्राणों से तथा द्रव्यप्राणों से युक्त होते हैं। जो असंसारसमापन्न-सिद्ध होते हैं, वे केवल भावप्राणों से युक्त हैं।

संसारसमापन्न और असंसारसमापन्न की व्याख्या-संसार का अर्थ है संसार-परिभ्रमण, जो कि नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवभवानुभवरूप है, उक्त संसार को जो प्राप्त हैं, वे जीव संसारसमापन्न हैं, अर्थात् संसारवर्ती जीव हैं। जो संसार-भवभ्रमण से रहित हैं, वे जीव असंसारसमापन्न हैं।

असंसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापनाः स्वरूप और भेद-प्रभेद-

असंसारसमापन्नजीव-प्रज्ञापना दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार-1 अनन्तरसिद्ध-असंसार-समापन्नजीव- प्रज्ञापना और 2 परम्परा सिद्ध-असंसार-समापन्नजीव-प्रज्ञापना।

अनन्तर सिद्ध-असंसारसमापन्नजीव-प्रज्ञापना पन्द्रह प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है-(1) तीर्थसिद्ध, (2) अतीर्थसिद्ध, (3) तीर्थंकरसिद्ध, (4) अतीर्थंकरसिद्ध, (5) स्वयं बुद्धसिद्ध, (6) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (7) बुद्धबोधितसिद्ध, (8) स्त्रीलिंग सिद्ध, (9) पुरुषलिंगसिद्ध, (10) नपुंसकलिंगसिद्ध, (11) स्वलिंगसिद्ध, (12) अन्य लिंगसिद्ध, (13) गृहस्थलिंगसिद्ध, (14) एकसिद्ध और (15) अनेकसिद्ध। यह है-अनन्तरसिद्ध-असंसारसमापन जीवों की प्रज्ञापना (प्ररूपणा)।

परम्परासिद्ध-असंसारसमापन्न-जीव-प्रज्ञापना अनेक प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है-अप्रथमसमयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमयसिद्ध, यावत्-संख्यातसमयसिद्ध, असंख्यात समयसिद्ध और अनन्तसमयसिद्ध। यह हुई-परम्परासिद्ध-असंसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना।

असंसारसमापन्नजीवों का स्वरूप-असंसार का अर्थ है-जहाँ जन्ममरणरूप चातुर्गतिक परिभ्रमण न हो, अर्थात्-मोक्ष। उस मोक्ष को प्राप्त, समस्त कर्मों से मुक्त, सिद्धिप्राप्त जीव असंसार समापन्न जीव कहलाते हैं।

अनन्तरसिद्ध असंसारसमापन्नजीव-जिन मुक्त जीवों के सिद्ध होने में अन्तर अर्थात् समय का व्यवधान न हो, वे अनन्तरसिद्ध होते हैं, अर्थात्-सिद्धत्व के प्रथम समय में विद्यमान जिन जीवों को सिद्ध हुए प्रथम ही समय हो, वे अनन्तरसिद्ध हैं।

अनन्तरसिद्ध असंसारसमापन्न जीवों के 15 भेदों की व्याख्या-(1) तीर्थसिद्ध-जिसके आश्रय से संसार-सागर को तिरा जाए-पार किया जाय, उसे तीर्थ कहते हैं। ऐसा तीर्थ वह प्रवचन है, जो समस्त जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थरूप से प्ररूपक है और परमगुरु-सर्वज्ञ द्वारा प्रणित (प्रतिपादित) है। वह तीर्थ

निराधार नहीं होता। अतः चतुर्विध संघ अथवा प्रथम गणधर को भी तीर्थ समझना चाहिए। आगम में कहा है-(प्र.) भगवन्! तीर्थ को तीर्थ कहते हैं या तीर्थंकर को तीर्थ कहते हैं? (उ.) गौतम! अरिहन्त भगवान् (नियम से) तीर्थंकर होते हैं; तीर्थं तो चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप) अथवा प्रथम गणधर है। इस प्रकार के तीर्थ की स्थापना होने पर जो जीव सिद्ध होते हैं, वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

(2) अतीर्थसिद्ध-तीर्थ का प्रभाव तीर्थ कहलाता है। तीर्थ का प्रभाव दो प्रकार से होता है-या तो तीर्थ की स्थापना ही न हुई हो, अथवा स्थापना होने के पश्चात् कालान्तर में उसका विच्छेद हो गया हो। ऐसे अतीर्थकाल में जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की हो, वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। तीर्थं की स्थापना के प्रभाव में (पूर्व ही) मरुदेवी आदि सिद्ध हुई हैं। मरुदेवी आदि के सिद्धिगमनकाल में तीर्थ की स्थापना नहीं हुई थी। तथा सुविधिनाथ आदि तीर्थंकरों के बीच के समय में तीर्थं का विच्छेद हो गया था। उस समय जातिस्मरणादि ज्ञान से मोक्षमार्ग उपलब्ध करके जो सिद्ध हुए वे तीर्थव्यवच्छेदसिद्ध कहलाए। ये दोनों ही प्रकार के सिद्ध अतीर्थसिद्ध हैं।

(3) तीर्थंकरसिद्ध-जो तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं, वे तीर्थंकरसिद्ध कहलाते हैं। जैसे-इस अवसर्पिणीकाल में ऋषभदेव से लेकर श्री वर्द्धमान स्वामी तक चौबीस तीर्थंकर, तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए।

(4) अतीर्थंकरसिद्ध-जो सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थंकरसिद्ध कहलाते हैं।

(5) स्वयंबुद्ध सिद्ध-जो परोपदेश के बिना, स्वयं ही सम्बुद्ध हो (संसारस्वरूप समझ) कर सिद्ध होते हैं।

(6) प्रत्येक बुद्धसिद्ध-जो प्रत्येकबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं। यद्यपि स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध दोनों ही परोपदेश के बिना ही सिद्ध होते हैं, तथापि इन दोनों में अन्तर यह है कि स्वयम्बुद्ध बाह्यनिमित्तों के बिना ही, अपने जातिस्मरणादि ज्ञान से ही सम्बुद्ध हो जाते (बोध प्राप्त कर लेते) हैं, जबकि प्रत्येकबुद्ध वे कहलाते हैं, जो वृषभ, वृक्ष, बादल आदि किसी भी बाह्य निमित्तकारण से प्रबुद्ध होते हैं। सुना

जाता है कि करकण्डू आदि को वृषभादि बाह्यनिमित्त की प्रेक्षा से बोधि प्राप्त हुई थी। ये प्रत्येकबुद्ध बोधि प्राप्त करके नियमतः एकाकी (प्रत्येक) ही विचरते हैं, गच्छ (गण)-वासी साधुओं की तरह समूहबद्ध होकर नहीं विचरण करते।

नन्दी-अध्ययन की चूर्णि में कहा है-स्वयंबुद्ध दो प्रकार के होते हैं-तीर्थंकर और तीर्थंकर भिन्न। तीर्थंकर तो तीर्थंकरसिद्ध की कोटि में सम्मिलित हैं। अतएव यहाँ तीर्थंकर-भिन्न स्वयम्बुद्ध ही समझना चाहिए। स्वयम्बुद्धों के पात्रादि के भेद से बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) होती है, जबकि प्रत्येकबुद्धों की जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) नौ प्रकार की उपधि आवरण (वस्त्र) को छोड़ कर होती है। स्वयंबुद्धों के श्रुत (शास्त्र) पूर्वाधीत (पूर्वजन्मपठित) होता भी है, नहीं भी होता। भगय होता है तो देवता उन्हें लिंग (वेष) प्रदान करता है, अथवा वे गुरु के सान्निध्य में जा कर मुनिलिंग स्वीकार कर लेते हैं। यदि वे एकाकी विचरण करने में समर्थ हों और उनकी एकाकी-विचरण की इच्छा हो तो एकाकी विचरण करते हैं, नहीं तो गच्छवासी होकर रहते हैं। यदि उनके श्रुत पूर्वाधीत न हो तो वे नियम से गुरु के निकट जा कर ही मुनिलिंग स्वीकार करते हैं और गच्छवासी होकर ही रहते हैं। प्रत्येकबुद्धों के नियमतः श्रुत पूर्वाधीत होता है। वे जघन्यतः ग्यारह अंग और उत्कृष्टतः दस पूर्व से किञ्चित् कम पहले पढ़े हुए होते हैं। उन्हें देवता मुनिलिंग देता है, अथवा कदाचित् वे लिंगरहित भी विचरते हैं।

(7) बुद्धबोधितसिद्ध-बुद्ध अर्थात् बोधप्राप्त आचार्य, उनके द्वारा बोधित होकर जो सिद्ध होते हैं वे बुद्धबोधित सिद्ध हैं।

(8) स्त्रीलिंगसिद्ध-इन पूर्वोक्त प्रकार के सिद्धों में से कई स्त्रीलिंगसिद्ध होते हैं। जिससे स्त्री की पहिचान हो वह स्त्री का लिंग चिह्न स्त्रीलिंग कहलाता है। उपलक्षण से स्त्रीत्व द्योतक होने से तीन प्रकार का हो सकता है-वेद, शरीर की निष्पत्ति (रचना) और वेशभूषा। इन तीन प्रकार के लिंगों में से यहाँ स्त्री-शरीररचना से प्रयोजन है; स्त्रीवेद या स्त्रीवेशरूप स्त्रीलिंग से नहीं, क्योंकि स्त्रीवेद की विद्यमानता में सिद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता और वेश अप्रामाणिक है। अतः ऐसे स्त्रीलिंग में विद्यमान होते हुए जो जीव सिद्ध होते हैं, वे स्त्रीलिंगसिद्ध हैं। इस

शास्त्रीय कथन से स्त्रियों को निर्वाण नहीं होता; इस उक्ति का खण्डन हो जाता है। वास्तव में मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप है। यह रत्नत्रय पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी हो सकता है। इस की साधना में तथा प्रवचनार्थ में रुचि एवं श्रद्धा रखने में स्त्रीलिंग बाधक नहीं है।

(9) **पुरुषलिंगसिद्ध**-पुरुष शरीररचनारूप पुल्लिंग में स्थित होकर सिद्ध होते हैं, वे पुरुषसिद्ध कहलाते हैं।

(10) **नपुंसकलिंगसिद्ध**-जो जीव न तो स्त्री के और न ही पुरुष के, किन्तु नपुंसक के शरीर से सिद्ध होते हैं, वे नपुंसकलिंगसिद्ध कहलाते हैं।

(11) **स्वलिंगसिद्ध**-जो स्वलिंग से, अर्थात्-रजोहरणादिरूप वेष में रहते हुए सिद्ध होते हैं।

(12) **अन्यलिंगसिद्ध**-जो अन्यलिंग से, अर्थात्-परिव्राजक आदि से सम्बन्धित वल्कल (छाल) या काषायादि रंग के वस्त्र वाले द्रव्यलिंग में रहते हुए सिद्ध होते हैं।

(13) **गृहिलिग सिद्ध**-जो गृहस्थ के लिंग (वेष) में रहते हुए सिद्ध होते हैं वे गृहिलिंग सिद्ध होते हैं, जैसे-मरुदेवी आदि।

1. **पत्तेयं**-बाह्य वृषभादिकं कारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः, बहिष्प्रत्ययं प्रति बुद्धानां च पत्तेयं नियमा विहारो तम्हा जम्हा भवइ ते पत्तेयबुद्धा।

पत्तेयबुद्धाणं जहन्नेणं दुविहो, उक्कोसेणं नवविहो नियमा उवही पाउरणवज्जो भवइ।

संयबुद्धस्य पुव्वाहीयं सुयं से हवइ वा न वा, जइ से नत्थि तो लिंगं नियमा गुरुसन्निहे पडिवज्जइ, जइ य एगविहार-विहरणसमत्थो इच्छा वा से तो एक्को चेव विहरइ, अन्यथा गच्छे विहरइ।।

पत्तेयबुद्धाणं पुव्वाहीयं सुयं नियमा हवइ, जहन्नेणं इक्कारस अंगा, उक्कोसेणं भिन्नदसपुव्वा। लिंगं च से देवया पयच्छइ, लिंगवज्जिओ वा हवइ।

इत्थीएं लिंगं इत्थिलिंग उवलक्खणं तिवुत्तं भवइ। तं च तिविहं वेदी सररीनिव्वत्ती नेवत्थं च। इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो, न चेय-नेवत्थेहिं।

दिगम्बराचार्य नेमिन्द्रकृत गोम्मट्टसार में देखिये-अडयाला, पुंवेया, इत्थीवेया हवंति चालीसा। वरस नपुंसकवेया, समएणेगेण सिज्झंति।। (दि.जैन परम्परा में स्त्री शरीर रचना को मान्यता नहीं है।)

(14) एकसिद्ध-जो एक समय में अकेले ही सिद्ध होते हैं, वे एकसिद्ध हैं।

(15) अनेकसिद्ध-जो एक ही समय में एक से अधिक-अनेक सिद्ध होते हैं, वे अनेकसिद्ध कहलाते हैं। सिद्धान्तानुसार एक समय में अधिक से अधिक 108 जीव सिद्ध होते हैं। अन्तर सिद्धों के उपाधि के भेद से ये 15 प्रकार कहे हैं।

परम्परासिद्ध-असंसार समापन्नजीवों के प्रकार-इनके अनेक प्रकार हैं, इसलिए शास्त्रकार ने इनके प्रकारों की निश्चित संख्या नहीं दी है। अप्रथमसमयसिद्ध से लेकर अनन्तसमयसिद्ध तक के जीव परम्परासिद्ध की कोटि में हैं। अप्रथम समय सिद्ध-जिन्हें सिद्ध हुए प्रथम समय न हो, अर्थात् जिन्हें सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो चुके हों, वे अप्रथम समयसिद्ध कहलाते हैं। अथवा जो परम्परासिद्धों में प्रथमसमयवर्ती हों वे प्रथमसमयसिद्ध होते हैं। इसी प्रकार तृतीय आदि समयों में द्वितीय समय सिद्ध आदि कहलाते हैं। अथवा 'अप्रथमसमयसिद्ध' का कथन सामान्य रूप से किया गया है, आगे इसी के विषय में विशेषतः कहा गया है-द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमयसिद्ध आदि यावत् अनन्त समयसिद्ध तक अप्रथमसमयसिद्ध-परंपरासिद्ध समझने चाहिए।

अथवा परम्परासिद्ध का अर्थ इस प्रकार से है-जो किसी भी प्रथम समय में सिद्ध है, उससे एक समय पहले सिद्ध होने वाला 'पर' कहलाता है। उससे भी एक समय पहले सिद्ध होने वाला 'पर' कहलाता है। परम्परसिद्ध का आशय यह है कि जिस समय में कोई जीव सिद्ध हुआ है, उससे पूर्ववर्ती समयों में जो जीव सिद्ध हुए हैं, वे सब उसकी अपेक्षा परम्परसिद्ध हैं। अतीतकाल से सिद्ध होते आ रहे हैं, वे सब किसी भी विवक्षित प्रथम समय में सिद्ध होने वाले की अपेक्षा से परम्परसिद्ध हैं। ऐसे मुक्तात्मा परम्परसिद्ध असंसार समापन्न जीव हैं।

संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना के पाँच प्रकार-

संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना पांच प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है- (1) एकेन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना, (2) द्वीन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना, (3) त्रीन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना, (4) चतुरिन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना और (5) पंचेन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना।

विवेचन-संसारसमापन-जीवप्रज्ञापना के पांच प्रकार-संसारी जीवों की प्रज्ञापना के एकेन्द्रियादि पांच प्रकार क्रमशः इस सूत्र (सू. 18) में प्रतिपादित किये गए हैं।

संसारी जीवों के पांच मुख्य प्रकारों की व्याख्या-(1) एकेन्द्रिय-पृथ्वी कायादि स्पर्शनेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं । **(2) द्वीन्द्रिय**-जिन जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय, ये दो इन्द्रियां होती हैं, वे द्वीन्द्रिय होते हैं। जैसे-शंख, सीप, लट, गिडीला आदि। **(3) त्रीन्द्रिय**-जिन जीवों के स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रिय हों, वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे-जू', खटमल, चींटी आदि। **(4) चतुरिन्द्रिय**-जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय हों, वे चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे-टिड्डी, पतंगा, मक्खी, मच्छर आदि। **(5) पंचेन्द्रिय**-जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पांचों इन्द्रियां हों, वे पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे-नारक, तिर्यञ्च (मत्स्य, गाय, हंस, सर्प), मनुष्य और देव। इन्द्रियां दो प्रकार की हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो रूप-निवृत्तिरूप और उपकरणरूप। इन्द्रियों की रचना को निर्वात्ति-इन्द्रिय कहते हैं और निवृत्ति इन्द्रिय की शक्तिविशेष को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। भावेन्द्रिय लब्धि क्षयोपशम तथा उपयोग रूप है। एकेन्द्रिय जीवों में भी क्षयोपशम एवं उपयोगरूप भावेन्द्रिय पांचों ही सम्भव हैं; क्योंकि उनमें से कई एकेन्द्रिय जीवों में उनका कार्य दिखाई देता है। जैसे-जीवविज्ञान विशेषज्ञ डॉ. जगदीशचन्द्र बोस ने एकेन्द्रिय वनस्पति में भी निन्दा- प्रशंसा आदि भावों को समझने की शक्ति (लब्धि=क्षयोपशम) सिद्ध करके बताई है।

एकेन्द्रिय संसारी जीवों की प्रज्ञापना-

एकेन्द्रिय-संसारसमापन्नजीव-प्रज्ञापना पांच प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है-1 पृथ्वीकायिक, 2 अप्कायिक, 3 तेजस्कायिक, 4 वायुकायिक और 5 वनस्पतिकायिक।

विवेचन-एकेन्द्रियसंसारी जीवों की प्रज्ञापना प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकायिक आदि पांच प्रकार के एकेन्द्रियजीवों की प्ररूपणा की गई है।

एकेन्द्रिय जीवों के प्रकार और लक्षण-(1) पृथ्वी कायिक-पृथ्वी ही जिनका काय=शरीर है, वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। **(2) अप्कायिक**-अप-प्रसिद्ध जल ही जिनका काय=शरीर है, वे अप्काय या अप्कायिक कहलाते हैं। **(3) तेजस्कायिक**-तेज यानी अग्नि ही जिनका काय=शरीर है, वे तेजस्काय या तेजस्कायिक कहलाते हैं। **(4) वायुकायिक**- वायु=हवा ही जिनका काय-शरीर है, वे वायुकाय या वायुकायिक हैं। **(5) वनस्पतिकायिक**-लतादिरूप वनस्पति ही जिनका शरीर (काय) है, वे वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाते हैं।

पृथ्वी समस्त प्राणियो की आधारभूत होने से सर्वप्रथम पृथ्वीकायियों को ग्रहण किया गया। अप्कायिक पृथ्वी के आश्रित हैं, इसलिए तदनन्तर अप्कायिकों का ग्रहण किया गया। तत्पश्चात् उनके प्रतिपक्षी अग्निकायिकों का, अग्नि वायु के सम्पर्क से बढ़ती है, इसलिए उसके बाद वायुकायिकों का और वायु दूरस्थ लतादि के कम्पन से उपलक्षित होता है, इसलिए तत्पश्चात् वनस्पतिकायिकों का ग्रहण किया गया।

पृथ्वीकायिक (मुख्यतया) दो प्रकार के कहे गए हैं-सूक्ष्म पृथ्वीकायिक और बादर पृथ्वीकायिक।

सूक्ष्मपृथ्वीकायिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक। यह सूक्ष्मपृथ्वीकायिक का वर्णन हुआ।

बादर पृथ्वीकायिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-श्लक्ष्ण (चिकने) बादरपृथ्वीकायिक और खरबादरपृथ्वीकायिक।

श्लक्ष्ण बादरपृथ्वीकायिक सात प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-(1) कृष्ण मृत्तिका (काली मिट्टी), (2) नीलमृत्तिका (नीले रंग की मिट्टी), (3) लोहितमृत्तिका (लाल रंग की मिट्टी), (4) हारिद्रमृत्तिका (पीली मिट्टी), (5) शुक्लमृत्तिका (सफेद मिट्टी), (6) पाण्डुमृत्तिका (पाण्डु-मटमैले रंग की मिट्टी) और (7) पनकमृत्तिका (कई-सी हरे रंग की मिट्टी)। खर बादरपृथ्वीकायिक अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-(1) पृथ्वी, (2) शर्करा (कंकर), (3) बालुका (बालू-रेत), (4) उपल (पाषाण =पत्थर), (5) शिला (चट्टान), (6) लवण (सामुद्र, सेंचल आदि नमक), (7) ऊष (ऊषर-क्षार वाली जमीन, बंजरभूमि), (8) अयस् (लोहा), (9) ताम्बा, (10) त्रपुष् (रांगा), (11) सीसा, (12) रौप्य (चांदी), (13) सुवर्ण (सोना), (14) वज्र (हीरा), (15) हड़ताल, (16) हींगलू (17) मैनसिल, (18) सासग (पारदपारा), (19) अंजन (सौवीर आदि), (20) प्रवाल (मूगा), (21) अभ्रपटल (अभ्रक भोड़ल) (22)-अभ्रबालुका (अभ्रक-मिश्रित बालू), बादरकाय में मणियों के प्रकार-(23) गोमेज्जक (गोमेदरत्न), (24) रुचकरत्न, (25) अंकरत्न (26) स्फटिकरत्न, (27)लोहिताक्षरत्न, (28) मरकतरत्न, (26) मसारगल्लरत्न, (30) भुजमोचकरत्न, (31) इन्द्रनीलमणि, (32) चन्दनरत्न, (33) गैरिकरत्न, (34) हंसरत्न (हंसगर्भरत्न), (35) पुलकरत्न, (36) सौगन्धिकरत्न, (37) चन्द्रप्रभ रत्न, (38) वैडूर्यरत्न, (39) जलकान्तमणि और (40) सूर्यकान्तमणि।

इनके अतिरिक्त जो अन्य भी प्रकार के (वैसे) (पद्मराग आदि मणिभेद हैं, वे भी खर बादर पृथ्वी कायिक समझने चाहिए।)

[1] ते समासतो बुविहा पद्मत्ता। तं जहा-पज्जत्तगा य अपज्जतगा य।

वे (पूर्वोक्त सामान्य बादरपृथ्वीकायिक) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-पर्याप्त और अपर्याप्तक।

उनमें से जो अपर्याप्तक हैं, वे (स्वयोग्य पर्याप्तियों को) असम्प्राप्त होते हैं।

उनमें से जो पर्याप्तक हैं, इनके वर्णादेश (वर्ण की अपेक्षा) से, गन्ध की

अपेक्षा से, रस की अपेक्षा से और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों (सहस्रशः) भेद (विधान) हैं। (उनके) संख्यात लाख योनिप्रमुख (योनिद्वार) हैं। पर्याप्तकों के निश्राय (आश्रय) में अपर्याप्तक (आकर) उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक (पर्याप्तक) होता है, वहाँ (उसके आश्रय से) (उत्पन्न होते हैं।) : यह हुआ-वह (पूर्वोक्त) खर बादरपृथ्वीकायिकों का निरूपण। (उसके साथ ही) बादरपृथ्वीकायिकों का वर्णन पूर्ण हुआ। (इसके पूर्ण होते ही) पृथ्वीकायिकों की प्ररूपणा समाप्त हुई।

विवेचन-पृथ्वीकायिक जीवों की प्रज्ञापना-प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. 20 से 25 तक) में पृथ्वीकायिक जीवों के मुख्य दो भेदों तथा उनके अवान्तर भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा की गई है।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक और बादर पृथ्वीकायिक की व्याख्या-जिन जीवों को सूक्ष्मनामकर्म का उदय हो, वे सूक्ष्म कहलाते हैं। ऐसे पृथ्वीकायिक जीव सूक्ष्मपृथ्वीकायिक हैं। जिनको बादरनामकर्म का उदय हो, उन्हें बादर कहते हैं। ऐसे पृथ्वीकायिक बादरपृथ्वीकायिक कहलाते हैं। बेर और आंवले में जैसी सापेक्ष सूक्ष्मता और बादरता है, वैसी सूक्ष्मता और बादरता यहाँ नहीं समझनी चाहिए। यहाँ तो (नाम) कर्मोदय के निमित्त से ही सूक्ष्म और बादर समझना चाहिए। मूल में 'च' शब्द सूक्ष्म और बादर के अनेक अवान्तरभेदों, जैसे-पर्याप्त और अपर्याप्त आदि भेदों तथा शर्करा, बालुका आदि उपभेदों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है।

'सूक्ष्म सर्वलोक में हैं' उत्तराध्ययन सूत्र की इस उक्ति के अनुसार सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समग्र लोक में ऐसे ठसाठस भरे हुए हैं, जैसे किसी पेटी में सुगन्धित पदार्थ डाल देने पर उसकी महक उसमें सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। बादरपृथ्वीकायिक नियत-नियत स्थानों पर लोकाकाश में होते हैं। यह द्वितीयपद में बताया जाएगा।'

सूक्ष्मपृथ्वीकायिकों के पर्याप्त अपर्याप्तक की व्याख्या-जिन जीवों की पर्याप्तियां पूर्ण हो चुकी हों, वे पर्याप्त या पर्याप्तक कहलाते हैं। जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण न कर चुके हों, वे अपर्याप्त या अपर्याप्तक कहलाते हैं। पर्याप्त

और अपर्याप्त के प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं-लब्धिपर्याप्त और करण-पर्याप्त, तथा लब्धि-अपर्याप्तक और करण अपर्याप्तक जो जीव अपर्याप्त कर ही मर जाते हैं, वे लब्धि अपर्याप्त और जिनकी पर्याप्तियां अभी पूरी नहीं हुई हैं, किन्तु पूरी होंगी, वे करण-अपर्याप्त कहलाते हैं। पर्याप्ति-पर्याप्ति आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति की परिपूर्णता है, जिसके द्वारा आत्मा आहार, शरीर आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन्हें आहार, शरीर आदि के रूप में परिणत करता है। वह पर्याप्तिरूप शक्ति पुद्गलों के उपचय से उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिदेश में आए हुए नवीन आत्मा ने पहले जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, उनको तथा प्रतिसमय ग्रहण किये जा रहे अन्य पुद्गलों को, एवं उनके सम्पर्क से जो तद्रूप परिणत हो गए हैं, उनको आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में जिस शक्ति के द्वारा परिणत किया जाता है, उस शक्ति की पूर्णता पर्याप्ति कहलाती है।

पर्याप्तिछह हैं-(1)आहारपर्याप्ति, (2) शरीरपर्याप्ति, (3) इन्द्रियपर्याप्ति, (4) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, (5) भाषापर्याप्ति और (6) मनःपर्याप्ति। जिस शक्ति द्वारा जीव बाह्य हर आहारयोग्य पुद्गलों को लेकर खल और रस के रूप में परिणत करता है, वह आहारपर्याप्ति है। जिस शक्ति के द्वारा रसीभूत (रसरूप परिणत) आहार आहारयोग्य पुद्गलों को रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं के रूप में परिणत किया जाता है, वह शरीरपर्याप्ति है। जिस शक्ति के द्वारा धातुरूप में परिणमित आहार पुद्गलों को इन्द्रियरूप में परिणत किया जाता है, वह इन्द्रियपर्याप्ति है। इसे दूसरी तरह से यों भी समझा जा सकता है-पांचों इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके अनाभोगनिर्वर्तित (अनजाने ही निष्पन्न) वीर्य के द्वारा इन्द्रियरूप में परिणत करने वाली शक्ति इन्द्रियपर्याप्ति है। जिस शक्ति के द्वारा (श्वास तथा) उच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके, उन्हें (श्वास एवं) उच्छ्वासरूप परिणत करके और फिर उनका आलम्बन लेकर छोड़ा जाता है, वह (श्वास) उच्छ्वास पर्याप्त है। जिस शक्ति से भाषा-योग्य (भाषावर्गणा के) पुद्गलों को ग्रहण करके, उन्हें भाषारूप में परिणत करके, वचनयोग का आलम्बन लेकर छोड़ा जाता है, वह भाषापर्याप्ति है। जिस शक्ति के द्वारा मन के योग्य पुद्गलों को

ग्रहण करके मन के रूप में परिणत करके, मनोयोग का आलम्बन लेकर छोड़ा जाता है, वह मनः पर्याप्ति है। इन छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय में चार, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय में पांच और संज्ञीपंचेन्द्रिय में छहों पर्याप्तियां होती हैं।

जीव अपनी उत्पत्ति (जन्म) के प्रथम समय में ही अपने योग्य सम्भावित पर्याप्तियों को एक साथ निष्पन्न करना प्रारम्भ कर देता है। किन्तु वे (पर्याप्तियां) क्रमशः पूर्ण होती हैं। जैसे-सर्वप्रथम आहारपर्याप्ति, तत्पश्चात् शरीरपर्याप्ति, फिर इन्द्रियपर्याप्ति, तदनन्तर श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, उसके बाद भाषापर्याप्ति और सबसे अन्त में मनःपर्याप्ति पूर्ण होती है। आहारपर्याप्ति प्रथम समय में ही निष्पन्न हो जाती है, शेष पर्याप्तियों के पूर्ण होने में प्रत्येक को अन्तर्मुहूर्त्त समय लगता है। किन्तु समस्त पर्याप्तियों के पूर्ण होने में भी अन्तर्मुहूर्त्तकाल ही लगता है। क्योंकि उनके अनेक विकल्प हैं। इस पर से सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादरपृथ्वीकायिक दोनों के पर्याप्त और पर्याप्तक का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

श्लक्ष्ण बादरपृथ्वी कायिक-पीसे हुए आटे के समान मृदु (मुलायम) पृथ्वी श्लक्ष्ण कहलाती है श्लक्षण पृथिव्यात्मक जीव भी उपचार से श्लक्षण कहलाते हैं। जिन बादरपृथ्वी के जीवों का शरीर श्लक्ष्ण-मृदु है, वे श्लक्ष्ण बादरपृथ्वी कायिक हैं। यह मुख्यतया सात प्रकार की होती है। उनमें से पाण्डुमृत्तिका का अर्थ यह भी है कि किसी देश में मिट्टी धूलिरूप में हो कर भी 'पाण्डु' नाम से प्रसिद्ध है। पनकमृत्तिका का अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है-नदी आदि में बाढ़ से डूबे हुए प्रदेश में नदी आदि के पूर के चले जाने के बाद भूमि पर जो श्लक्ष्णमृदुरूप पंक शेष रह जाता है, जिसे 'जलमल' भी कहते हैं, वही पनकमृत्तिका है।

खर बादरपृथ्वीकायिकों की व्याख्या-प्रस्तुत गाथाओं में खर बादरपृथ्वीकायिकों के 40 भेद बताए हैं। अन्त में यह भी कहा है कि ये और इसी प्रकार के अन्य जो भी पद्मरागादि रत्न हैं, वे सब इसी के अन्तर्गत समझने चाहिए। अपर्याप्तकों का स्वरूप-खर बादरपृथ्वीकायिक के पर्याप्तक और पर्याप्तक जो दो भेद

हैं, उनमें से अपर्याप्तक या तो अपनी पर्याप्तियों को पूर्णतया असंप्राप्त हैं अथवा उन्हें विशिष्ट वर्ण आदि प्राप्त नहीं हुए हैं। इस दृष्टि से उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे कृष्ण आदि वर्ण वाले हैं। शरीर आदि पर्याप्तियां पूर्ण हो जाने पर ही बादर जीवों में वर्ण आदि विभाग प्रकट होता है, अपूर्ण होने की स्थिति में नहीं। तथा वे अपर्याप्तक उच्छ्वास पर्याप्ति से अपर्याप्त रह कर ही मर जाते हैं, इसी कारण उनमें स्पष्टतर वर्णादि का विभाग सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से उन्हें असम्प्राप्त कहा है। पर्याप्तकों के वर्णादि के भेद से हजारों भेद इनमें से जो पर्याप्तक हैं, जिनकी अपने योग्य चार पर्याप्तियां पूर्ण हो चुकी हैं, उनके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के भेद से हजारों भेद होते हैं। जैसे-वर्ण के 5, गन्ध के 2, रस के 5 और स्पर्श के भेद होते हैं। फिर प्रत्येक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में अनेक प्रकार की तरतमता होती है। जैसे-भ्रमर, कोयल और कज्जल आदि में कालेपन की न्यूनाधिकता होती है। अतः कृष्ण, कृष्णतर और कृष्णतम आदि अनेक कृष्णवर्णीय भेद हो गए। इसी प्रकार नील आादि वर्ण के विषय में समझना चाहिए। गन्ध, रस और स्पर्श से सम्बन्धित भी ऐसे ही अनेक भेद होते हैं। इसी प्रकार वर्णों के परस्पर मिश्रण से धूसरवर्ण, कर्बुर (चितकबरा) वर्ण आदि अगणित वर्ण निष्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार एक गन्ध में दूसरी गन्ध के मिलने से, एक रस में दूसरा रस मिश्रण करने से, एक स्पर्श के साथ दूसरे स्पर्श के संयोग से हजारों भेद गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से हो जाते हैं। ऐसे पृथ्वीकायिकों की लाखों योनियाँ-उपर्युक्त पृथ्वीकायिक जीवों की लाखों योनियाँ हैं। यही बात मूलपाठ में कही गई है-'**संखेज्जाई जोणिप्पमुहसयसहस्साई**' अर्थात् 'संख्यातलाख योनिप्रमुख योनिद्वार हैं। जैसे कि एकएक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में पृथ्वीकायिकों की संवृत योनि होती है। वह तीन प्रकार की है-सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनके प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं-शीत, उष्ण और शीतोष्ण। इन शीत आदि प्रत्येक के भी तारतम्य के कारण अनेक भेद हो जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार से स्वस्थान में विशिष्ट वर्णादि से युक्त योनियाँ व्यक्ति के भेद से संख्यातीत हो जाती हैं, तथापि वे सब जाति (सामान्य) की अपेक्षा एक ही योनि में परिगणित होती हैं। इस दृष्टि से पृथ्वीकायिक जीवों की

संख्यात लाख योनियाँ होती हैं। और वे सूक्ष्म और बादर सबकी सब मिलकर सात लाख योनियाँ समझनी चाहिए।

अप्कायिक जीवों की प्रज्ञापना-

अप्कायिक जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-सूक्ष्म अप्कायिक और बादर अप्कायिक।

सूक्ष्म अप्कायिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-पर्याप्त सूक्ष्मअप्कायिक और अपर्याप्त सूक्ष्म अप्कायिक (इस प्रकार) यह सूक्ष्म अप्कायिक की प्ररूपणा हुई।

बादर-अप्कायिक अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-ओस, हिम (बर्फ), महिका (गर्भमासों में होने वाली सूक्ष्म वर्षा-धुम्मस या कोहरा), ओले, हरतनु (भूमि को फोड़ कर अंकुरित होने वाले गेहूँ घास आदि के अग्रभाग पर जमा होने वाले जलबिन्दु), शुद्धोदक (आकाश में उत्पन्न होने वाला तथा नदी आदि का पानी), शीतोदक (नदी आदि का शीतस्पर्शपरिणत जल), उष्णोदक (कहीं झरने आदि से स्वाभाविकरूप से उष्णस्पर्शपरिणत जल), क्षारोदक (खारा पानी), खट्टोदक (कुछ खट्टा पानी), अम्लोदक (स्वाभाविकरूप से कांजी-सा खट्टा पानी), लवणोदक (लवण समुद्र का पानी), वारुणोदक (वरुणसमुद्र का या मदिरा जैसे स्वादवाला जल), क्षीरोदक (क्षीरसमुद्र का पानी), घृतोदक (घृतवरसमुद्र का जल), इक्षोदक (इक्षुसमुद्र का जल) और रसोदक (पुष्कर समुद्र का जल)। ये और तथाप्रकार के और भी (रस-स्पर्शादि के भेद से) जितने प्रकार हों, (वे सब बादर अप्कायिक समझने चाहिए।)

ते समासतो दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-पज्जतगा य अपज्जत्तगा य।

वे (ओस आदि बादर अप्कायिक) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता।

उनमें से जो अपर्याप्तक हैं, वे असम्प्राप्त (अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाए) हैं।

उनमें से जो अपर्याप्त है, उनके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों (सहस्रशः) भेद (विधान) होते हैं। उनके संख्यात लाख योनिप्रमुख हैं। पर्याप्तक जीवों के आश्रय से अपर्याप्तक आकर उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक पर्याप्तक है, वहाँ नियम से (उसके आश्रय से) असंख्यात (अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।)

यह हुआ, बादर अप्कायिकों (का वर्णन) (और साथ ही) अप्कायिक जीवों की (प्ररूपणा पूर्ण हुई।)

तेजस्कायिक जीवों की प्रज्ञापना

तेजस्कायिक जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-सूक्ष्म तेजस्कायिक और बादर तेजस्कायिक।

सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्त और अपर्याप्तक। यह हुआ पूर्वोक्त सूक्ष्म तेजस्कायिक का वर्णन।

बादर तेजस्कायिक अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-अंगार, ज्वाला, (जाज्वल्यमान खैर आदि की ज्वाला अथवा अग्नि से सम्बद्ध दीपक की लौ), मुर्मुर (राख में मिले हुए अग्निकण या भोभर), अर्चि (अग्नि से पृथक् हुई ज्वाला या लपट), अलात (जलती हुई मशाल या जलती लकड़ी), शुद्ध अग्नि (लोहे के गोले की अग्नि), उल्का, विद्युत् (आकाशीय विद्युत्), शनि (आकाश से गिरने वाले अग्निकण), निर्घात (वैक्रिय सम्बन्धित अशनिपात या विद्युत्पात), संघर्ष-समुत्थित (अरणि आदि की लकड़ी की रगड़ से पैदा होने वाली अग्नि), और सूर्यकान्तमणि निःसृत (सूर्य की प्रखर किरणों के सम्पर्क से सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न होने वाली अग्नि)। इसी प्रकार की अन्य जो भी (अग्नियां) हैं (उन्हें बादर तेजस्कायिकों के रूप में समझना चाहिए।)

ये (उपर्युक्त बादर तेजस्कायिक) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता।

उनमें से जो अपर्याप्तक हैं, वे (पूर्ववत्) असम्प्राप्त (अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्णतया प्राप्त) हैं।

उनमें से जो पर्याप्तक हैं, उनके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों (सहस्रशः) भेद होते हैं। उनके संख्यात लाख योनि प्रमुख हैं। पर्याप्तक (तेजस्कायिकों) के आश्रय से अपर्याप्त (तेजस्कायिक) उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक पर्याप्तक होता है, वहाँ नियम से असंख्यात अपर्याप्तक (उत्पन्न होते हैं।)

यह हुई बादर तेजस्कायिक जीवों की प्ररूपणा। (साथ ही) तेजस्कायिक जीवों की भी प्ररूपणा पूर्ण हुई।

विवेचन-तेजस्कायिक जीवों की प्रज्ञापना-प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. 26 से 31 तक) में तेजस्कायिक जीवों के मुख्य दो प्रकार तथा उनके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा की गई है।

सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक और अपर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक।

बादर वायुकायिक अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-पूर्वी वात, (पूर्वदिशा से बहती हुई वायु), पश्चिमी वायु, दक्षिणी वायु, उत्तरी वायु, ऊर्ध्ववायु, अधोवायु, तिर्यग्वायु (तिरछी चलती हुई हवा), विदिग्वायु (विदिशा से आती हुई हवा), वातोद्भ्राम (अनियतअवस्थित वायु), वातोत्कलिका (समुद्र के समान प्रचण्ड गति से बहती हुई तूफानी हवा), वातमण्डलिका (वातोली), उत्कलिकावात (प्रचुरतर उत्कलिका-आंधियों से मिश्रित हवा), मण्डलिकावात (मूलतः प्रचुर मण्डलिका-गोल-गोल चक्करदार हवाओं से प्रारम्भ होकर उठने वाली वायु), गुंजावात (गूंजती हुई-सनसनाती हुई-चलने वाली हवा), झंझावात (वृष्टि के साथ चलने वाला अंधड़), संवर्तकवात (खण्ड-प्रलयकाल में चलने वाली वायु अथवा तिनके आदि उड़ाकर ले जाने वाली आंधी), घनवात (रत्नप्रभादि पृथ्वियों के नीचे रही हुई सघन-ठोस वायु), तनुवात (घनवात के नीचे रही हुई पतली वायु) और शुद्धवात (मशक आदि में भरी हुई या धीमी-धीमी बहने वाली हवा)।

अन्य जितनी भी इस प्रकार की हवाएँ हैं, (उन्हें भी बादर वायुकायिक ही समझना चाहिए।)

वे (पूर्वोक्त बादर वायुकायिक) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा-पर्याप्तक और अपर्याप्त।

तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता।

इनमें से जो अपर्याप्त हैं, वे प्राप्त (अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं किये हुए) हैं।

इनमें से जो पर्याप्तक हैं, उनके वर्ण की अपेक्षा से, गन्ध की अपेक्षा से, रस की अपेक्षा से और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों प्रकार (विधान) होते हैं। इनके संख्यात लाख योनिप्रमुख होते हैं। (सूक्ष्म और बादर वायुकायिक की मिला कर 7 लाख योनियाँ हैं।) पर्याप्तक वायुकायिक के आश्रय से, अपर्याप्तक उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक (पर्याप्तक वायुकायिक) होता है वहाँ नियम से असंख्यात (पर्याप्त वायुकायिक) होते हैं।। यह हुआ-बादर वायुकायिक का वर्णन साथ ही, वायुकायिक जीवों की प्ररूपणा पूर्ण हुई।

वनस्पतिकायिकों की प्रज्ञापना-

वनस्पतिकायिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक और बादर वनस्पतिकायिक।

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्तक सूक्ष्मवनस्पतिकायिक और अपर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक यह हुआ सूक्ष्म वनस्पतिकायिक का निरूपण।

बादर वनस्पतिकायिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-प्रत्येकशरीर बादरवनस्पतिकायिक और साधारणशरीर बादरवनस्पतिकायिक।

प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक जीव बारह प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार से हैं-(1) वृक्ष (आम, नीम आदि), (2) गुच्छ (बैंगन आदि के पौधे), (3) गुल्म (नवमालिका आदि), (4) लता (चम्पकलता आदि), (5) वल्ली (कूष्माण्डी त्रपुषी आदि बेलें), (6) पर्वग (इक्षु आदि पर्व-पोर-गांठ वाली वनस्पति), (7) तृण (कुश, कास, दूब आदि हरी घास), (8) वलय (जिनकी छाल वलय के आकार की गोल होती है, ऐसे केतकी, कदली आदि), (9) हरित

(बथुआ ग्रादि हरी लिलोती), (10) औषधि (गेहूँ आदि धान्य, जो फल (फसल) पकने पर सूख जाते हैं।), (11) जलरुह (पानी में उगने वाली कमल, सिंघाड़ा, उदकावक आदि वनस्पति) और (12) कुहण (भूमि को फोड़ कर उगने वाली वनस्पति), ये बारह प्रकार के प्रत्येकशरीर-बादरवनस्पतिकायिक जीव समझने चाहिए।

वृक्ष दो प्रकार के कहे गए हैं-एकास्थिक (प्रत्येक फल में एक गुठली या बीज वाले) और बहुबीजक (जिनके फल में बहुत बीज हों)।

णिबंब जंबु कोसंब साल अंकोल्ल पीलु सेलू य।
सल्लइ मोयइ मालुय बउल पलासे करंजे य।। (13)
पुत्तंजीवयऽरिट्ठे बिभेलए हरडए य भल्लाए।
उंबेभरिया खीरिणि बोधव्वे धायइ पियाले।। (14)
पूई करंज सेण्हा (सण्हा) तह सोसवा य असणेय।
पुण्णाग जागरुक्खे सोवण्णि तहा असोगे य।। (15)

एकास्थिकवृक्ष अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-

[गाथार्थ-] नीम, आम, जामुन, कोशम्ब (कोशाम्र=जंगली श्रम), शाल अंकोल्ल (अखरोट या पिश्ते का पेड़), पीलू, शेलु (लिसोड़ा), सल्लकी (हाथी को प्रिय), मोचकी, मालुक, बकुल, (मौलसरी), पलाश (खाखरा या ढाक), करंज (नक्तमाल)।

पुत्रजीवक (पितौझिया), अरिष्ट (अरीठा), बिभीतक (बहेड़ा), हरड या जियापोता, भल्लातक (भिलावा), उम्बेभरिया, खीरणि (खिरनी), धातकी और प्रियाल। पूतिक (निम्ब-निम्बौली), करञ्ज, श्लक्ष्ण (या प्लक्ष) तथा शींशपा, प्रशन और पुन्नाग (नागकेसर), नागवृक्ष, श्रीपर्णी और अशोक; (ये एकास्थिक वृक्ष हैं।)

इसी प्रकार के अन्य जितने भी वृक्ष हों, (जो विभिन्न देशों में उत्पन्न होते हैं तथा जिनके फल में एक ही गुठली हो; उन सबको एकास्थिक ही समझना चाहिए।)

इन (एकास्थिक वृक्षों) के मूल असंख्यात जीवों वाले होते हैं, तथा कन्द भी, स्कन्ध भी, त्वचा (छाल) भी, शाखा (साल) भी और प्रवाल (कोंपल) भी (असंख्यात जीवों वाले होते हैं), किन्तु इनके पत्ते प्रत्येक जीव (एक-एक पत्ते में एक-एक जीव) वाले होते हैं। इनके फल एकास्थिक (एक ही गुठली वाले) होते हैं। यह हुआ-उस (पूर्वोक्त) एकास्थिक वृक्ष का वर्णन।

बहुबीजक वृक्ष अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार से हैं-

अत्थिय तिंदु कविट्ठे अंबाडग माउलिंग बिल्ले य।
आमलग फणस दाडिम आसोत्थे उंबर वडे य।। (16)

अस्थिक, तेन्दु (तिन्दुक), कपित्थ (कवीठ), अम्बाडग, मातुलिंग बिजौरा, बिल्व (बेल), आमलक (आँवला), पनस (अन्नास), दाड़िम (अनार), अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर (गुल्लर), वट (बड़), न्यगोध (बड़ा बड़)।

णग्गोह णंदिरुषखे पिप्परि सयरी पिलुक्खरुक्खे य।
काउंबरि कुत्थुं भरि बोधव्वा देवदाली य।। (17)

नन्दिवृक्ष, पिप्पली (पोंपल), शतरी (शतावरी), प्लक्षवृक्ष, कादुम्बरी, कस्तुम्भरी और देवदाली (इन्हें बहुबीजक) जानना चाहिए।

तिलए लउए छत्तोह सिरीसे सत्तिवण्ण दहिवन्ने।
लोद्ध्र धव चंदणऽज्जुण णीमे कुडए कथंबे य।। (18)

तिलक लवक (लकुच-लीची), छत्रोपक, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुरज (कुटक) और कदम्ब। इसी प्रकार के और भी जितने वृक्ष हैं, (जिनके फल में बहुत बीज हों; वे सब बहुबीजक वृक्ष समझने चाहिए ।) इन (बहुबीजक वृक्षों) के मूल असंख्यात जीवों वाले होते हैं। इनके कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा और प्रवाल भी असंख्यात जीवात्मक होते हैं। इनके पत्ते प्रत्येक जीवात्मक (प्रत्येक पत्ते में एक-एक जीव वाले) होते हैं। पुष्प अनेक जीवरूप (होते हैं) और फल बहुत बीजों वाले (हैं।) यह हुआ बहुबीजक (वृक्षों का वर्णन।) (साथ ही) वृक्षों की प्ररूपणा (भी पूर्ण हुई।)

वाइंगण सल्लई बोंडई य तह कच्छुरी य जासुमणा।

रूवी आढइ नीली तुलसी तह माउलिंगी य।। (19)

गुच्छ अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-बैंगन, शल्यकी (अथवा थुण्डकी) तथा कच्छुरी, जासुमना, रूपी, आढकी, नीली, तुलसी तथा मातुलिंगी।

कत्थुं भरि पिप्पलिया अतसी बिल्ली य कायमाई या।

चुच्चु पडोला कंदलि बाउच्चा वस्थुले बदरे।। (20)

कस्तुम्भरी (धनिया), पिप्पलिका, अलसी, बिल्वी, कायमादिका, चुच्चू (बुच्चु), पटोलाबाउच्चा (विकुर्वा), बस्तुल तथा बादर।

पत्तउर सीयउरए हवति तहा जवसए य बोधव्वे।

पिग्गुंडि अक्क तूवरि अट्टइ चेव तलऊडा।। (21)

पत्रपूर, शीतपूरक तथा जवसक, एवं (निल्गु), अर्क (मृगांक), तूवरी (तबरी), अट्टकी (अस्तकी) और तलपुटा (तलउडादा) भी समझना चाहिए।

सण वाण कास मद्दग अग्घाडग साम सिंदुवारे य।

करमद्द अद्दरूसग करीर एरावण महित्थे।। (22)

तथा सण (शण), वाण (पाण), काश (कास), मद्रक (मुद्रक), आघातकसिन्दुवार और करमर्दे, डूसक (अडूसा) करीर (कैर), ऐरावण तथा महित्थ।

जाउलग माल परिली गयमारिणि कुच्चकारिया भंडी।

जावइ केयइ तह गंज पाडला दासी अंकोल्ले।। (23)

पोल, परिली, गजमारिणी, कुर्च्चकारिका (कुर्व्वकारिका), भंडी (भंड), जावकी (जीवकी तथा गंज, पाटला, दासी और अंकोल्ल।

वे (पूर्वोक्त) गुल्म किस प्रकार के हैं?

सेरियए णोमालिय कोरंटय बंधुजीवग मणोज्जे।

पोईय पाण कणइर कुज्जय तह सिंदुवारे य।। (24)

गुल्म अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-सेरितक नवमालती (सेनतक), कोरण्टक, बन्धुजीवक, मनोद्य, पीतिक (पितिक), पान, कनेर (कर्णिकार), कुर्जक (कुर्जक) तथा सिन्दुवार।

जाई मोग्गर तह जूहिया य तह मल्लिया य वासंती।

वस्थुल कच्छुल सेवाल गंठि मगदंतिया चेव।। (25)

जाती (जाई), मोगरा, जूही (यूथिका), तथा मल्लिका और वासन्ती वस्तुल कच्छुल (कस्थल), शैवाल, ग्रन्थि एवं मृगदन्तिका।

चंपगजीती णवणीइया य कुंदो तहा महाजाई।

एवमणेगागारा हवंति गुम्मा मुणेयवा।। (26)

चम्पक, जीती, नवनीतिका, महाजाति; इस प्रकार अनेक प्रकार प्रकार के होते हैं, (उन सबको) गुल्म समझना चाहिए यह हुई गुल्मों की प्ररूपणा।

वे (पूर्वोक्त) लताएँ किस प्रकार की होती है?

पउमलता नागलता असोग चंपयलता य चूतलता।

वणलय वासंतिलया धइमुत्तय-कुंद-सामलता।। (27)

लताएँ अनेक प्रकार की कही गई है। यथा-पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, और चूतलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता, कुन्दलता और श्यामलता।

पूसफली कालिंगी तुंबी तउसो य एलवालुंकी।

घोसाडई पडोला पंचंगुलिया य णालीया।। (28)

[गाथार्थ-] पूसफली, कालिंगी (जंगली तरबूज की बेल) तुम्बी, त्रपुषी (ककड़ी), एलवालुकी (एक प्रकार की ककड़ी), घोषातकी, पटोला, पंचांगुलिका और नालीका (आयनीली)।

कंगूया कदुइया कक्कोडइ कारियल्लई सुभगा।

कुवधा (या) य वागली पाववल्लि तह देवदारू य।। (29)

कंगूका, कुकिका (कण्डकिका), कर्कोटकी (कंकोड़ी या ककड़ी),

कारवेल्लकी (कारेली), सुभगा, कुवधा (कुवया कुयवाया) और वागली, पापवल्ली, तथा देवदारु (देवदाली)।

अप्फोया अहमुत्तय णागलया कण्ह-सूरवल्ली य।
संघट्ट सुमणसा वि य जासुवण कुविंदवल्ली य।। (30)

अफ्फोया (अफेया), अतिमुक्तका, नागलता और कृष्णसूरवल्ली, संघट्टा और सुमनसा भी तथा जासुवन और कुविन्दवल्ली।

मुद्दिय अप्पा भल्ली छीरविराली जियंति गोवाली।
पाणी मासावल्ली गुंजावल्ली य बच्छाणी।। (31)

मुद्वीका, अप्पा, भल्ली (अम्बावली), क्षीरविराली (कृष्णक्षीराली), जीयंती (जयन्ती), गोपाली, पाणी, मासावल्ली, गुजावल्ली, (गुजीवल्ली) और वच्छाणी (विच्छणी)।

ससबिंदु गोत्तफुसिया गिरिकण्णइ मालुयाय अंजणई।
दहफुल्लइ कागणि मोगली य तह अकबोंदी य।। (32)

शशबिन्दु, गोत्रस्पृष्टा (ससिवी, द्विगोत्रस्पृष्टा), गिरिकर्णकी, मालुका और अंजनकी, दहस्फोटकी (दधिस्फोटकी), काकणी (काकली) और मोकली तथा अर्कबोन्दी।

इसी प्रकार की अन्य जितनी भी वनस्पतियां हैं, उन सबको वल्लियां समझना चाहिए। यह हुई, वल्लियों की प्ररूपणा।

इक्खू य इक्खुवाडी वीरण तह एक्कडे भमासे य।
सुंठे (सुंबे) सरेय वेत्ते तिमिरे सतपोरग णले य।। (33)
वंसे वेलू कणए कंकावंसे य चाववंसे य।
उदए कुडए विमए कंडावेलू य कल्लाणे।। (34)

इक्षु और इक्षुवाटी, वीरण (वीरुणी) तथा एक्कड़, भमास (माष), सूठ (सुम्ब), शर और वेत्र (बेंत), तिमिर, शतपर्वक और नल। वंश (बांस), वेलू (वेच्छू), कनक, कंकावंश और चापवंश, उदक, कुटज, विमक (विसक), कण्डा, वेलू (वेल्ल) और कल्याण।

सेडिय भत्तिय होत्तिय डब्भ कुसे पव्वए य पोडइला।

अज्जुण असाढए रोहियंसे सुयवेय खोरतुसे।। (35)

[गाथार्थ-] सेटिक (सेंडिक), भक्तिक (मांत्रिक), होत्रिक, दर्भ, कुश और पर्वक, पोटकिला (पाटकिला-पोटलिका), अर्जुन, आषाढ़क, रोहितांश, शुकवेद और क्षीरतुष (क्षीरभुसा)।

एरंडे कुरुविदे कक्खड सुंठे तहा विभंगू य।

महुरतण लुणय सिप्पिय बोधग्व्वे सुंकलितणा य।। (36)

एरण्ड, कुरुविन्द, कक्षट (करकर), सूठ (मुट्ठ), विभंगू और मधुरतृण, लवणक (क्षुरक), शिल्पिक (शुक्तिक) और सुंकलीतृण (सुकलीवृण), (इन्हें) तृण जानना चाहिए। जो अन्य इसी प्रकार के हैं (उन्हें भी तृण समझना चाहिए।) यह हुई उन (पूर्वकथित) तृणों की प्ररूपणा।

ताल तमाले तक्कलि तेयलि सारे य सारकल्लाणे।

सरले जावति केयइ कदली तह धम्मरुक्खे य।। (37)

[गाथार्थ-] ताल (ताड़), तमाल, तर्कली (तक्कली) तेतली (तोतली) सार (शाली), सारकल्याण (सारकत्राण), सरल, जावती (जावित्री), केतकी (केवड़ा), कदली (केला) और धर्मवृक्ष (चर्मवृक्ष)।

भुयरुक्ख हिगुरुक्खे लवंगरुक्खे य होति बोधव्वे।

पूयफली खज्जूरी बोधव्वा नालिएरी य।। (38)

भुजवृक्ष (मुचवृक्ष), हिंगुवृक्ष, और (जो) लवंगवृक्ष होता है, (इसे वलय) समझना चाहिए। पूगफली (सुपारी), खजूर और नालिकेरी (नारियल), (इन्हें भी वलय) समझना चाहिए।

अज्जोह वोडाणे हरितग तह तंदुलेज्जग तणे य।

वत्थुल पारग मज्जार पाइ बिल्ली य पालक्का।। (39)

[गाथार्थ-] अद्यावरोह, व्युदान, हरितक तथा तान्दुलेयक (चन्दलिया) तृण, वस्तुल (बथुआ), पारक (पर्वक), मार्जार, पाती, बिल्वी और पाल्यक (पालक)।

दगपिप्पली य दव्वी सोत्थियसाए तहेव मंडुक्की।

मूलग सरिसव अंबिलसाए य जियंतए चेव।। (40)

दकपिप्पली और दर्वी, स्वस्तिक शाक (सौत्रिक शाक), तथा माण्डुकी मूलक, सर्षप (सरसों का साग), अम्लशाक (अम्ल साकेत) और जीवान्तक।

तुलसी कण्ह उराले फणिज्जए अज्जए य भूयणए।

चोरग दमणग मरुयग सयपुप्फिदीवरे य तहा।। (41)

तुलसी, कृष्ण, उदार, फानेयक और आर्यक, भुजनक (भूसनक), चोरक (वारक), दमनक, मरुचक, शतपुष्पी तथा इन्दीवर।

[गाथार्थ-] 1. शाली (धान), 2. व्रीहि (चावल), 3. गोधूम (गेहूँ), 4. जौ (यवयव), 5. कलाय, 6. मसूर, 7. तिल, 8. मूंग, 6. माष (उड़द), 10. निष्पाव, 11. कुलत्थ (कुलथ), 11. अलिसन्द, 13. सतीण, 14. पलिमन्थ । 15. अलसी, 16. कुसुम्भ, 17 कोदों (कोद्रव), 18. कंगू, 19. राल (रालक), 20 वरश्यामाक (सांवा धान) और 21 कोदूस (कोद्दंश), 22. शण - सन, 23. सरसों (दाने), 24. मूलक बीज; ये और इसी प्रकार की अन्य जो भी (वनस्पतियां) हैं, (उन्हें भी श्रोषधियों में गिनना चाहिए)।

जल में उत्पन्न होने वाली (जलरुह) वनस्पतियां अनेक प्रकार की कही गई हैं। वे इस प्रकार है-उदक, अवक, पनक, शैवाल, कलम्बुका हढ (हठ), कसेरुका (कसेरू), कच्छा, भाणी, उत्पल, पद्म, कुमुद नलिन, सुभग सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस कमल, भिस, भिसमृणाल, पुष्कर और पुष्करास्तिभज (पुष्करास्तिभुक्) इसी प्रकार की और भी (जल में उत्पन्न होने वाली जो वनस्पतियां हैं, उन्हें जलरुह के अन्तर्गत समझना चाहिए।) यह हुआ, जलरूहों का निरूपण।

कुहण वनस्पतियां अनेक प्रकार की कही गई हैं। वे इस प्रकार-आय, काय, कुहण, कुनक्क , द्रव्यहलिका, शफाय, सद्यात (स्वाध्याय), सित्राक (छत्रोक) और वंशी, नहिता, कुरक (वशीन, हिताकुरक)। इसी प्रकार की जो अन्य वनस्पतियां उन सबको कुहण के अन्तर्गत समझना चाहिए।

णाणाविहसंठाणा रुक्खाणं एगजीविया पत्ता।

खंधो वि एगजीवो ताल-सरल-नालिएरीणं।। (44)

वृक्षों (उपलक्षण से गुच्छ, गुल्म आदि) की आकृतियां नाना प्रकार की होती हैं। इनके पत्ते एकजीवक (एक जीव से अधिष्ठित) होते हैं, और स्कन्ध भी एक जीव वाला होता है। (यथा-) ताल, सरल, नारिकेल वृक्षों के पत्ते और स्कन्ध एक-एक जीव वाले होते हैं।

जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी।

पत्तेयसरीराणं तह होति सरीरसंघाया।। (45)

जैसे श्लेष द्रव्य से मिश्रित किये हुए समस्त सर्षपों (सरसों के दोनों) की वट्टी (में सरसों के दाने पृथक्-पृथक् होते हुए भी) एकरूप प्रतीत होती है, वैसे ही (रागद्वेष से उपचित विशिष्टकर्मश्लेष से) एकत्र हुए प्रत्येक शरीरी जीवों के (शरीर भिन्न होते हुए भी) शरीरसंघात रूप होते हैं।

जह वा तिलपप्पडिया बहुएहि तिलेहि संहता संती।

पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया।। (46)

जैसे तिलपपड़ी (तिलपट्टी) में (प्रत्येक तिल अलग-अलग प्रतीत होते हुए भी) बहुत-से तिलों के संहत (एकत्र) होने पर होती है, वैसे ही प्रत्येकशरीरी जीवों के शरीरसंघात होते हैं।

वे (पूर्वोक्त) साधारणशरीर बादरवनस्पतिकायिक जीव किस प्रकार हैं?

साधारणशरीर बादरवनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-

अवए पणए सेवाले लोहिणी मिहू स्थिहू त्थिभगा।

असकण्णी सीहकण्णी सिउंढि तत्तो मुसुंढी य।। (47)

[गाथार्थ-] अवक, पनक, शैवाल, लोहिनी, स्निहूपुष्प (थोहर का फूल), मिहू स्तिहू (मिहूत्थु), हस्तिभागा और अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सिउण्डी (शितुण्डी), तदनन्तर मुसुण्ढी।

रुरु कंडुरिया जारू छीरविराली तहेव किट्टीया।

हलिद्दा सिंगबेरे य आलूगा मूलए इ य।। (48)

रुरु, कण्डुरिका (कुण्डरिका या कुन्दरिका), जीरु (जारु) , क्षीरविरा (डा) ली; तथा किट्टिका, हरिद्रा (हल्दी), शृंगबेर (आदा या अदरक) और आलू एवं मूला।

कंबू य कण्हकडबू महओ वलई तहेव महसिंगी।

णिरुहा सप्पसुगंधा छिण्णरुहा चेव बीयरुहा।। (49)

कम्बू (काम्बोज) और कृष्णकटबू (कर्णोत्कट), मधुक (सुमात्रक), वलकी तथा मधुश्रृंगी, नीरूह, सर्पसुगन्धा, छिन्नरह, और बीजरुह।

पाढा मियवालुंकी महररसा चेव रायवल्ली य।

पउमा य माढरी दंती चंडी किट्टि त्ति यावरा।। (50)

पाढा, मृगवालुं की, मधुररसा और राजपत्री, तथा पद्मा, माठरी, दन्ती, इसी प्रकार चण्डी और इसके बाद किट्टी (कृष्टि)।

मासपण्णी मुग्गपण्णी जीवियरसमेय रेणुया चेव।

काओली खोरकाओली तहा भंगी णही इ य।। (51)

माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवित, रसभेद, (जीवितरसह) और रेणुका, काकोली (काचोली), क्षीरकाकोली तथा भृंगी, (भंगी), इसी प्रकार नखी।

किमिरासि भद्दमुत्था जंगलई पलुगा इय।

किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी।। (52)

कृमिराशि, भद्रमुस्ता (भद्रमुक्ता), नांगलकी, पलुका (पेलुका), इसी प्रकार कृष्णप्रकुल, और हड, हरतनुका तथा लोयाणी।

कण्हे कंदे वज्जे सूरणकंदे तहेव खल्लूडे।

एए अणंतजोवा, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (53)

कृष्णकन्द, वज्रकन्द, सूरणकन्द, तथा खल्लूर, ये (पूर्वोक्त) अनन्तजीव वाले हैं। इनके अतिरिक्त और जितने भी इसी प्रकार के हैं, (वे सब अनन्त जीवात्मक हैं।)

तणमूल कंदमूले वंसमूले ति यावरे।

संखेज्जमसंखेज्जा बोधग्वाडणंतजीवा यः।। (54)

सिंघाडगस्स गुच्छो अणेगजीवो उ होति नायव्वो।

पत्ता पत्तेयजिया, दोण्णि य जीवा फले भणिता।। (55)

तृणमूल, कन्दमूल और वंशी मूल, ये और इसी प्रकार के दूसरे संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त जीव वाले समझने चाहिए। सिंघाड़े का गुच्छ अनेक जीव वाला होता है, यह जानना चाहिए और इसके पत्ते प्रत्येक जीव वाले होते हैं। इसके फल में दो-दो जीव कहे गए हैं।

जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसए।

अणंतजीवे उ से मूले, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (56)

जिस मूल को भंग करने (तोड़ने) पर समान (चक्राकार) दिखाई दे, वह मूल अनन्त जीव वाला है। इसी प्रकार के दूसरे जितने भी मूल हों, उन्हें भी अनन्तजीव समझना चाहिए।

जस्स कंदस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसए।

अणंतजीवे उ से कंदे, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (57)

जिस टूटे या तोड़े हुए कन्द का भंग समान दिखाई दे, वह कन्द अनन्तजीव वाला है। इसी प्रकार के दूसरे जितने भी कन्द हों, उन्हें अनन्तजीव समझना चाहिए।

जस्स खंधस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसई।

अणंतजीवे उ से खंधे, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (58)

जिस टूटे हुए स्कन्ध का भंग समान दिखाई दे, वह स्कन्ध (भी) अनन्तजीव वाला है। इसी प्रकार के दूसरे स्कन्धों को (भी अनन्तजीव समझना चाहिए)।

जोसे तयाए भग्गाए समो भंगो पदीसए।

अणंतजीवा तथा सा उ, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (59)

जिस छाल (त्वचा) के टूटने पर उसका भंग सम दिखाई दे, वह छाल भी अनन्तजीव वाली है। इसी प्रकार की अन्य छाल भी (अनन्तजीव वाली समझनी चाहिए)।

जस्स सालस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसई।

अणंतजीवे उ से साले, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (60)

जिस टूटी हुई शाखा (साल) का भंग समान दृष्टिगोचर हो, वह शाखा भी अनन्तजीव वाली है। इसी प्रकार की जो अन्य (शाखाएँ) हों, (उन्हें भी अनन्तजीव वाली समझो)।

जस्स पवालस्स भग्गस्सं समो भंगो पदीसई।

अणंतजीवे पवाले से, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (61)

टूटे हुए जिस प्रवाल (कोंपल) का भंग समान दीखे, वह प्रवाल भी अनन्तजीव वाला है। इसी प्रकार के जितने भी अन्य (प्रवाल) हों, (उन्हें अनन्तजीव वाले समझो)।

जस्स पत्तस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसई।

अणंतजीवे उ से पत्ते, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (62)

टूटे हुए जिस पत्ते का भंग समान दिखाई दे, वह पत्ता (पत्र) भी अनन्तजीव वाला है। इसी प्रकार जितने भी अन्य पत्र हों, उन्हें अनन्तजीव वाले समझने चाहिए।

जस्स पुप्फस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसई।

अणंतजीवे उ से पुप्फे, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (63)

टूटे हुए जिस फूल (पुष्प) का भंग समान दिखाई दे वह भी अनन्तजीव वाला है। इसी प्रकार के अन्य जितने भी पुष्प हों, उन्हें अनन्तजीव वाले समझने चाहिए।

जस्स फलस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसती।

अणंतजीवे फले से उ, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (64)

जिस टूटे हुए फल का भंग सम दिखाई दे, वह फल भी अनन्त जीव वाला है। इसी प्रकार के अन्य जितने भी फल हों, उन्हें अनन्तजीव वाले समझने चाहिए।

जस्स बीयस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसई।

अणंतजीवे उ से बीए, यावऽण्णे तहाविहा।। (65)

जिस टूटे हुए बीज का भंग समान दिखाई दे, वह बीज भी अनन्तजीव वाला है। इसी प्रकार के अन्य जितने भी बीज हों, उन्हें अनन्तजीव वाले समझने चाहिए।

जस्स मूलस्स भग्गस्स हीरो भंगे पदीसई।

परित्तजीवे उ से मूले, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (66)

टूटे हुए जिस मूल का भंग (प्रदेश) हीर (विषमछेद) दिखाई दे, वह मूल प्रत्येक (परित्त) जीव वाला है। इसी प्रकार के अन्य जितने भी मूल हों, (उन्हें भी प्रत्येकजीव वाले समझने चाहिए)।

जस्स कंदस्स भग्गस्स हीरो भंगे पदीसई।

परित्तजीवे उ से कंदे, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (67)

टूटे हुए जिस कन्द के भंग प्रदेश में हीर (विषमछेद) दिखाई दे, वह कन्द प्रत्येक जीव वाला है। इसी प्रकार के अन्य जितने भी (कन्द हों, उन्हें प्रत्येकजीव वाले समझो)।

जस्स खंधस्स भग्गाए हीरो भंगे पदीसई।

परित्तजीवे उ से खंधे, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (68)

टूटे हुए जिस स्कन्ध के भंगप्रदेश में हीर दिखाई दे, वह स्कन्ध है प्रत्येकजीव वाला है। इसी प्रकार के और भी जितने स्कन्ध हों, (उन्हें भी प्रत्येकजीव वाले समझो)।

जीसे तयाए भग्गाए हीरो भंगे पदीसई।

परित्तजीवा तय सा उ जा, यावऽण्णे तहाविहा।। (69)

जिस छाल के टूटने पर उसके भंग (प्रदेश) में हीर दिखाई दे, वह छाल प्रत्येक जीव वाली है। इसी प्रकार की अन्य जितनी भी छालें (त्वचाएँ) हों, (उन्हें भी प्रत्येकजीव वाले समझो)।

जीस्स सालस्स भग्गस्स हीरो भंगे पदीसती।

परित्तजीवे उ स साले, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (70)

जिस शाखा के टूटने पर उसके भंग (प्रदेश) में विषम छेद दिखे, वह शाखा प्रत्येक जीव वाली है। इसी प्रकार की अन्य जितनी भी शाखाएँ हों, (उन्हें भी प्रत्येकजीव वाली समझनी चाहिए)।

जस्स पवालस्स भग्गस्स हीरो भंगे पदीसति।

परित्तजीवे पवाले उ, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (71)

जिस प्रवाल के टूटने पर उसके भंगप्रदेश में विषमछेद दिखाई दे, वह प्रवाल भी प्रत्येकजीव वाला है। इसी प्रकार के और भी जितने प्रवाल हों, (उन्हें प्रत्येकजीव वाले समझो।)।

जस्स पत्तस्स भग्गाए हीरो भंगे पदीसति।

परित्तजीवे उ से पत्ते, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (72)

जिस टूटे हुए पत्ते के भंगप्रदेश में विषमछेद दिखाई दे, वह पत्ता प्रत्येकजीव वाला है। इसी प्रकार के और भी जितने पत्ते हों, (उन्हें भी प्रत्येकजीव वाले समझो।)।

जस्स पुप्फस्स भग्गस्स हीरो भंगे पदीसति।

परित्तजीवे उ से पुप्फे, जे यावडण्णे तहाविहा।। (73)

जिस पुष्प के टूटने पर उसके भंगप्रदेश में विषमछेद दिखाई दे, वह पुष्प प्रत्येकजीव वाला है। इसी प्रकार के और भी जितने (पुष्प हों, उन्हें प्रत्येकजीवी समझना चाहिए)।

जस्स फलस्य भग्गस्स हीरो भंगे पदीसति।

परित्तजीवे फले से उ, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (74)

जिस फल के टूटने पर उसके भंगप्रदेश में विषमछेद दृष्टिगोचर हो, वह फल भी प्रत्येकजीव वाला है। ऐसे और भी जितने (फल हों, उन्हें प्रत्येकजीव वाले समझने चाहिए।)

जस्स वीयस्स भग्गस्स हीरो भंगे पदीसति।

परित्तजीवे उ से बीए, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (75)

जिस बीज के टूटने पर उसके भंग में विषमछेद दिखाई दे, वह बीज प्रत्येकजीव वाला है। ऐसे अन्य जितने भी बीज हों, (वे भी प्रत्येकजीव वाले जानने चाहिए)।

जस्स मूलस्स कट्ठाओ छल्ली बहलतरी भवे।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (76)

जिस मूल के काष्ठ (मध्यवर्ती सारभाग) की अपेक्षा छल्ली (छाल) अधिक मोटी हो, वह छाल अनन्तजीव वाली है। इस प्रकार की जो भी अन्य छालें हों, उन्हें अनन्तजीव वाली समझनी चाहिए।

जस्स कंदस्स कट्ठाओ छल्ली बहलतरी भवे।

अणंतजीवा तु सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (77)

जिस कन्द के काष्ठ से छाल अधिक मोटी हो, वह अनन्तजीव वाली है। इसी प्रकार की जो भी अन्य छालें हों, उन्हें अनन्तजीव वाली समझना चाहिए।

जस्स खंधस्स कट्ठामो छल्ली बहलतरी भवे।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (78)

जिस स्कन्ध के काष्ठ से छाल अधिक मोटी हो, वह छाल अनन्तजीव वाली है। इसी प्रकार की अन्य जितनी भी छालें हों, (उन सबको अनन्तजीव वाली समझनी चाहिए।)

जोसे सालाए कट्ठाओ छल्ली बहलतरी भवे।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (79)

जिस शाखा के काष्ठ की अपेक्षा छाल अधिक मोटी हो, वह छाल

अनन्तजीव वाली है। इस प्रकार जितनी भी छालें हों, उन सबको अनन्तजीव वाली समझना चाहिए।

जस्स मूलस्स कट्ठाओ छल्ली तणुयतरी भवे।

परित्तजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (80)

जिस मूल के काष्ठ की अपेक्षा उसकी छाल अधिक पतली हो, वह छाल प्रत्येक जीव वाली है। इस प्रकार जितनी भी अन्य छालें हों, (उन्हें प्रत्येकजीव वाली समझो।)

जस्स कंदस्स कट्ठाओ छल्ली तणुयतरी भवे।

परित्तजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (81)

जिस कन्द के काष्ठ से उसकी छाल अधिक पतली हो, वह छाल प्रत्येकजीव वाली है। इस प्रकार की जितनी भी अन्य छाले हों, उन्हें प्रत्येकजीव वाली समझना चाहिए।

जस्स खंधस्स कट्ठाओ छल्ली तणुयतरी भवे।

परित्तजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (82)

जिस स्कन्ध के काष्ठ की अपेक्षा उसकी छाल अधिक पतली हो, वह छाल प्रत्येकजीव वाली है। इस प्रकार की अन्य जो भी छालें हों, उन्हें प्रत्येकजीव वाली समझना चाहिए।

जीसे सालाए कट्ठाओ छल्ली तणुयतरीभवे।

परित्तजीवा उ सा छल्ली, जा यावऽण्णा तहाविहा।। (83)

जिस शाखा के काष्ठ की अपेक्षा, उसकी छाल अधिक पतली हो, वह छाल प्रत्येकजीव वाली है। इस प्रकार की अन्य जो भी छालें हों, उन्हें, प्रत्येकजीव वाली समझना चाहिए।

चक्कागं भज्जमाणस्स गंठी चुण्णघणो भवे।

पुढविसरिसेण भएण अणंतजीवं वियाणाहि।। (84)

जिस (मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, पत्र और पुष्प आदि) को तोड़ने

पर (उसका भंगस्थान) चक्राकार अर्थात् सम हो, तथा जिसकी गांठ (पर्व, गांठ या भंगस्थान) चूर्ण (रज) से सघन (व्याप्त) हो, उसे पृथ्वी के समान भेद से अनन्तजीवों वाला जानो।

गूढछिरागं पत्तं सच्छीरं जं च होति णिच्छीरं।
जंपि य पणट्ठसंधि अणंतजीवं वियाणाहि।। (85)

जिस (मूलकन्दादि) की शिराएँ गूढ़ (प्रच्छन्न या अदृश्य) हों, जो (मूलादि) दूध वाला हो अथवा जो दूध-रहित हो तथा जिस (मूलादि) की सन्धि नष्ट (अदृश्य) हो, उसे अनन्तजीवों वाला जानो।

पुप्फा जलया थलया य वेंटबद्धा य णालबद्धा य।
संखेज्जमसंखेज्जा बोधव्वाडणंतजीवा य।। (86)

पुष्प जलज (जल में उत्पन्न होने वाले) और स्थलज हों, वृन्तबद्ध हों या नालबद्ध संख्यात जीवों वाले, असंख्यात जीवों वाले और कोई कोई अनन्त जीवों वाले समझने चाहिए।

जे केइ नालियाबद्धा पुप्फा संखेज्जजीविया भणिता।
णिहुया अणंतजीवा, जे यावऽण्णे तहाविहा।। (87)

जो कोई नालिकाबद्ध पुष्प हों, वे संख्यात जीव वाले कहे गए हैं। थूहर (स्निहका) के फूल अनन्त जीवों वाले हैं। इसी प्रकार के (थूहर के फूलों के सदृश) जो अन्य फूल हों, (उन्हें भी अनन्त जीवों वाले समझने चाहिए।)

पउमुप्पलिणीकंदे अंतरकंदे तहेव झिल्ली य।
एते अणंतजीवा एगो जीवो भिस-मुणाले।। (88)

पद्मकन्द, उत्पलिनीकन्द और अन्तरकन्द, इसी प्रकार झिल्ली (नामक वनस्पति), ये सब अनन्त जीवों वाले हैं; किन्तु (इनके) भिस और मृणाल में एक-एक जीव है।

पलंडू-ल्हसणकंदे य कंदली य कुसुंबए।
एए परित्तजीवा जे यावडण्णे तहाविहा।। (89)

पलाण्डुकन्द (प्याज), लहसुनकन्द, कन्दली नामक कन्द और कुसुम्बक कुस्तुम्बक या कुटुम्बक) (नामक वनस्पति) ये प्रत्येकजीवाश्रित हैं। अन्य जो भी इस प्रकार हैं, (उन्हें प्रत्येकजीव वाली समझो।)

पउमुप्पल-नलिणाणं सुभग-सोगंधियाण य
अरविंद कोकणाणं सतवत्त-सहस्सवत्ताणं।। (90)
बेंट बाहिरपत्ता य कण्णिया चेव एगजीवस्स।
अब्भिंतरगा पत्ता पत्तेयं केसरा मिजा।। (91)

पद्म, उत्पल, नलिन, सुभग सौगन्धिक अरविन्द, कोकनद, शतपत्र और सहस्रपत्र-कमलों के वृत्त (डंठल), बाहर के पत्ते और कर्णिकाये सब एकजीवरूप हैं। इनके भीतरी पत्ते, केसर और मिजा (अर्थात्-फल) भी प्रत्येक जीव वाले होते हैं।

वेणु णल इक्खुवाडियमसमासइक्खू य इक्कडेरंडे।
करकर सुठि विहुंगं तणाण तह पव्वगाणं च।। (92)
अच्छिं पव्वं बलिमोडओ य एगस्स होंति जीवस्स।
पत्तेयं पत्ताइं पुप्फाइं अणेगजीवाइं।। (93)

वेणु (बांस), नल (नड), इक्षुवाटिक, समासेक्षु और इक्कड़, रंड, करकर, सुंठी (सोंठ), विहुंगु (विहंगु) एवं दूब आदि तृणों तथा पर्व (पोर=गांठ) वाली वनस्पतियों के जो अक्षि, पर्व तथा बलिमोटक (गाठों को परिवेष्टन करने वाला चक्राकार भाग) हों, वे सब एकजीवत्मक हैं। इनके पत्र (पत्ते) प्रत्येकजीवात्मक होते हैं, और इनके पुष्प अनेकजीवात्मक होते हैं।

पुस्सफलं कालिंगं तुं बं तउसेलवालु वालुंकं।
घोसाडगं पडोलं तिंदूयं चेव तेदूसं।। (94)
विटं गिरं कडाहं एयाहं होंति एगजीवस्स।
पत्तेयं पत्ताइं सकेसरमकेसरं मिंजा।। (95)

पुष्यफल, कालिंग, तुम्ब, त्रपुष, एलवालुक (चिर्भट-चीभड़ा-ककड़ी),

वालुक (चिर्भट-ककड़ी) तथा घोषाटक (घोषातक), पटोल, तिन्दूक, तिन्दूस फल, इनके सब पत्ते प्रत्येक जीव से (पृथक्-पृथक्) अधिष्ठित होते हैं। तथा वृन्त (डंठल), गुद्दा और गिर (कटाह) के सहित तथा केसर (जटा) सहित या अकेसर (जटारहित) मिजा (बीज), ये सब एक-एक जीव से अधिष्ठित होते हैं।

सप्फाए सज्जाए उव्वेहलिया य कुहण कंदुक्के।
एए अणंतजीवा कंडुक्के होति भयणा उ।। (96)

सप्फाक, सद्यात (सध्यात), उव्वेहलिया और कुहण तथा कन्दुक्य ये सब वनस्पतियां अनन्तजीवात्मक होती हैं; किन्तु कन्दुक्य वनस्पति में भजना (विकल्प) है, (अर्थात्-कोई कन्दुक्य अनन्तजीवात्मक और कोई असंख्यातजीवात्मक होती है।)

जोणिब्भूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा।
जो विय मूले जीवो सो वि य पत्ते पढमताए।। (97)

योनिभूत बीज में जीव उत्पन्न होता है, वह जीव वही (पहले वाला बीज का जीव हो सकता है,) अथवा अन्य कोई जीव (भी वहाँ आकर उत्पन्न हो सकता है।) जो जीव मूल (रूप) में (परिणत) होता है, वही जीव प्रथम पत्र के रूप में भी (परिणत होता) है। (अतः मूल और वह प्रथमपत्र दोनों एकजीवकर्तृक भी होते हैं।)

सव्वो वि किसलयो खलु उग्गममाणो अनंतओ भणिओ।
सो चेव विवड्ढंतो होइ परित्तो अणंतो वा।। (98)

सभी किसलय (कोंपल) ऊगता हुआ अवश्य ही अनन्तकाय कहा गया है। वही (किसलयरूप अनन्तकायिक) वृद्धि पाता हुआ प्रत्येकशरीरी या अनन्तकायिक हो जाता है।

समयं वक्कंताणं समयं तेसि सरीरनिव्वत्ती।
समयं श्राणुग्गहणं समयं ऊसास-नीसासे।। (99)

एक साथ उत्पन्न (जन्मे) हुए उन (साधारण वनस्पतिकायिक जीवों की शरीरनिष्पत्ति (शरीररचना) एक ही काल में होती (तथा) एक साथ ही (उनके द्वारा) प्राणापान (के योग्य पुद्गलों का) ग्रहण होता है, (तत्पश्चात्) एक काल में ही (उनका) उच्छ्वास और निःश्वास होता है।

एक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि एगस्स।। (100)

एक जीव का जो (आहारादि पुद्गलों का) ग्रहण करना है, वही बहुत से (साधारण) जीवों का ग्रहण करना (समझना चाहिए।) और जो (आहारादि पुद्गलों का) ग्रहण बहुत-से (साधारण) जीवों का होता है, वही एक का ग्रहण होता है।

साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं सहारणलक्खणं एयं।। (101)

(एक शरीर में अश्रित) साधारण जीवों का आहार भी साधारण (एक) ही होता है, प्राणापान (के योग्य पुद्गलों) का ग्रहण (एवं श्वासोच्छ्वास भी) साधारण होता है। यह (साधारण जीवों का) साधारण लक्षण (समझना चाहिए।)।

जह प्रयगोलो धंतो जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो।
सव्वो प्रगणिपरिणतो निगोयजीवे तहा जाण।। (102)

जैसे (अग्नि में) तपाया हुआ लोहे का गोला, तपे हुए (सोने) के समान सारा का सारा अग्नि में परिणत (अग्निमय) हो जाता है, उसी प्रकार (अनन्त) निगोद जीवों का निगोदरूप एक शरीर में परिणमन होना समझ लो।

एगस्स दोण्ह तिण्ह व संखेज्जाण व न पासिउं सक्का।
दोसंति सरीराइं णिोयजीवाणऽणताणं।। (103)

एक, दो, तीन, संख्यात अथवा (असंख्यात) निगोदों (के पृथक्-पृथक् शरीरों) का देखना शक्य नहीं है। (केवल) (अनन्त) निगोद-जीवों के शरीर ही दिखाई देते हैं।

साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं।। (104)

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में यदि एक-एक निगोदजीव को स्थापित किया जाए और उनका माप किया जाए तो ऐसे-ऐसे अनन्त लोकाकाश हो जाते हैं, (किन्तु लोकाकाश तो एक ही है, वह भी असंख्यातप्रदेशी है।)

लोगागासपसएसे णिओयजीवं ठवेहि एक्केक्कं।

एवं मवेज्जमाणा हवंति लोया अणंता उ।। (105)

एक-एक लोकाकाश प्रदेश में प्रत्येक वनस्पति काय के, एक-एक जीव को स्थापित किया जाए और उन्हें मापा जाए तो ऐसे-ऐसे असंख्यातलोकाकाश हो जाते हैं।

लोगागासपएसे परित्तजीवं ठवेहि एक्केक्कं।

एवं मविज्जमाणा हवंति लोया असंखेज्जा।। (106)

प्रत्येक वनस्पतिकाय के पर्याप्तक जीव घनीकृत प्रतर के असंख्यातभाग मात्र (अर्थात्-लोक के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने) होते हैं। तथा अपर्याप्तक प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों का प्रमाण असंख्यात लोक के बराबर है; और साधारण जीवों का परिमाण अनन्तलोक के बराबर है।

पत्तेया पज्जत्ता पयरस्स असखेंभागमेत्ता उ।

लोगाऽसंखाऽपज्जत्तगाण साहारणमणंता।। (107)

[प्रक्षिप्त गाथार्थ] इन (पूर्वोक्त) शरीरों के द्वारा स्पष्टरूप से उन बादरनिगोद जीवों की प्ररूपणा की गई है। सूक्ष्म निगोदजीव केवल आज्ञा ग्राह्य (तीर्थंकरवचनों द्वारा ही ज्ञेय) हैं। क्योंकि ये (सूक्ष्मनिगोद जीव) आँखों से दिखाई नहीं देते।

एएहिं सरीरेहिं पच्चक्खं ते परूविया जीवा।

सुहुमा आणागेज्झा चक्खुप्फासं ण ते एंति।। (108)

अन्य जो भी इस प्रकार की (न कही गई) वनस्पतियां हों, (उन्हें साधारण या प्रत्येक वनस्पतिकाय में लक्षणानुसार यथायोग्य समझ लेनी चाहिए।)

ते समासनो दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-पज्जतगा य ग्रपज्जत्तगा य।

वे (पूर्वोक्त सभी प्रकार के वनस्पतिकायिक जीव) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्त और अपर्याप्तक।

उनमें से जो अपर्याप्तक हैं, वे असम्प्राप्त (अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं किये हुए) हैं।

उनमें से जो पर्याप्तक हैं, उनके वर्ण की अपेक्षा से, गन्ध की अपेक्षा से, रस की अपेक्षा से और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों प्रकार (विधान) हो जाते हैं। उनके संख्यात लाख योनिप्रमुख होते हैं। पर्याप्तकों के आश्रय से अपर्याप्तक उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक (बादर) पर्याप्तक जीव होता है, वहाँ (नियम से उसके आश्रय से) कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त (प्रत्येक) अपर्याप्तक जीव उत्पन्न होते हैं। (साधारण जीव तो नियम से अनन्त ही उत्पन्न होते हैं)

इन (साधारण और प्रत्येक वनस्पति विशेष) के विषय में विशेष जानने के लिए इन (आगे कही जाने वाली) गाथाओं का अनुसरण करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं-

[गाथार्थ-] 1. कन्द (सूरण आदि कन्द), 2. कन्दमूल और 3. वृक्षमूल (ये साधारण-वनस्पति-विशेष हैं।) 4. गुच्छ, 5. गुल्म, 6. वल्ली और 7. वेणु (बांस) और 8. तृण (अर्जुन आदि हरी घास), 6. पद्म, 10. उत्पल, 11. शृंगाटक (सिंघाड़ा), 12. हढ (जलज वनस्पति), 13. शैवाल, 14. कृष्णक, 15. पनक, 16. अवक, 17. कच्छ, (नामक साधारण वनस्पति) 18. भाणी, और 19. कन्दक्य।

इन उपर्युक्त उन्नीस प्रकार की वनस्पतियों की त्वचा, छल्ली (छाल), प्रवाल (कोंपल), पत्र, पुष्प, फल, मूल, अग्र, मध्य और बीज (इन) में से किसी की योनि कुछ और किसी की कुछ कही गई है। यह हुआ साधारणशरीर वनस्पतिकायिक का स्वरूप। (इसके साथ ही) उस पूर्वोक्त) बादर वनस्पतिकायिक का वक्तव्य पूर्ण हुआ। (साथ ही) वह (पूर्वोक्त) वनस्पतिकायिकों का वर्णन भी समाप्त हुआ; और इस प्रकार उन एकेन्द्रियसंसारसमापन्न जीवों की प्ररूपणा पूर्ण हुई।

विवेचन-समस्त वनस्पतिकायिकों की प्रज्ञापना-प्रस्तुत इक्कीस सूत्रों (सू. 35 से 55 तक) में वनस्पतिकायिक जीवों के भेद-प्रभेदों तथा प्रत्येकशरीर बादरवनस्पतिकायिकों के वृक्ष, गुच्छ आदि सुविवरण बारह भेदों तथा साधारणशरीर बादरवनस्पतिकायिकों की विस्तृत प्ररूपणा की गई है।

क्रम सर्वप्रथम वनस्पतिकाय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद तदनन्तर सूक्ष्म के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो प्रकार, फिर बादर के दो भेद-प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर, तत्पश्चात् प्रत्येकशरीर के वृक्ष, गुच्छ आदि 12 भेद, क्रमशः प्रत्येक भेद के अन्तर्गत विविध वनस्पतियों के नामों का उल्लेख, तदनन्तर साधारणवनस्पतिकायिकों के अन्तर्गत अनेक नामों का उल्लेख तथा लक्षण एवं अन्त में उनके पर्याप्तक-अपर्याप्तक भेदों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

वृक्षादि बारह भेदों की व्याख्या-वृक्ष-जिसके आश्रित मूल, पत्ते, फूल, फल, शाखाप्रशाखा, स्कन्ध, त्वचा आदि अनेक हों, ऐसे आम, नीम, जामुन, आदि वृक्ष कहलाते हैं। वृक्ष दो प्रकार के होते हैं-एकास्थिक (जिसके फल में एक ही बीज या गुठली हो) और बहुबीजक (जिसके फल में अनेक बीज हों)। आम, नीमआदि वृक्ष एकास्थिक के उदाहरण हैं तथा बिजौरा, वट, दाड़िम, उदुम्बर आदि बहुबीजक वृक्ष हैं। ये दोनों प्रकार के वृक्ष तो प्रत्येकशरीरी होते हैं, लेकिन इन दोनों प्रकार के वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा और प्रवाल, असंख्यात जीवों वाले तथा पत्ते प्रत्येक जीव वाले और पुष्प अनेक जीवों वाले होते हैं। **गुच्छ**-वर्तमान युग की भाषा में इसका अर्थ है-पौधा। इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं-वृन्ताकी (बैंगन), तुलसी, मातुलिंगी आदि पौधे। **गुल्म**-विशेषतः फूलों के पौधों को गुल्म कहते हैं।

जैसे-चम्पा, जाई, जूही, कुन्द, मोगरा, मल्लिका आदि पुष्पों के पौधे। **लता**-ऐसी बेलें जो प्रायः वृक्षों पर चढ़ जाती हैं, वे लताएँ होती हैं। जैसे-चम्पकलता, नागलता, अशोकलता आदि। **वल्ली**-ऐसी बेलें जो विशेषतः जमीन पर ही फैलती हैं, वे वल्लियां कहलाती हैं। उदाहरणार्थ-कालिंगी (तरबूज की बेल), तुम्बी (तूम्बे की बेल), कर्कटिकी (ककड़ी की बेल), एला (इलायची की बेल) आदि।

पर्वकजिन वनस्पतियों में बीच-बीच में पर्व-पोर या गांठे हों, वे पर्वक वनस्पतियां कहलाती हैं। जैसे-इक्षु, सूंठ, बेंत, आदि। तृण-हरी घास आदि को तृण कहते हैं, जैसे-कुश, अर्जुन, दूब आदि। वलय-वलय के आकार की गोल-गोल पत्तों वाली वनस्पति 'वलय' कहलाती है। जैसेताल (ताड़), कदली (केले) आदि के पौधे। **ओषधि**-जो वनस्पति फल (फसल) के पक जाने पर दानों के रूप में होती है, वह ओषधि कहलाती है। जैसे-गेहूँ, चावल, मसूर, तिल, मूंग आदि हरित-विशेषतः हरी सागभाजी को हरित कहते हैं-जैसे-चन्दलिया, वथुआ, पालक आदि **जलरुह**-जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पति जलरुह कहलाती है। जैसे-पनक, शैवाल, पद्म, कुमुद कमल आदि। **कुहण**-भूमि को फोड़ कर निकलने वाली वनस्पतियां कुहण कहलाती हैं। जैसे-छत्राक हैं। जैसे- (कुकुरमुत्ता) आदि।

प्रत्येकशरीरी अनेक जीवों का एक शरीराकार कैसे? प्रथम दृष्टान्त जैसे-पूर्ण सरसों के दानों को किसी श्लेषद्रव्य से मिश्रित कर देने पर वे बट्टी के रूप में एकरूप-एकाकार हो जाते हैं। यद्यपि वे सब सरसों के दाने परिपूर्ण शरीर वाले होने के कारण पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी अवगाहना में रहते हैं; तथापि श्लेषद्रव्य से परस्पर चिपक जाने पर वे एकरूप प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक शरीरी जीवों के शरीरसंघात भी परिपूर्ण शरीर होने के कारण पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी अवगाहना में रहते हैं, परन्तु विशिष्ट कर्मरूपी श्लेषद्रव्य से मिश्रित होने के कारण वे जीव भी एकशरीरात्मक एकरूप एवं एकशरीराकार प्रतीत होते हैं।

द्वितीय दृष्टान्त-जैसे तिलपपड़ी बहुत-से तिलों के एकमेक होने से (गुड़ आदि श्लेषद्रव्य से मिश्रित करने से) बनती है। उस तिलपपड़ी में तिल अपनी-अपनी अवगाहना में स्थित होकर अलगअलग रहते हैं, फिर भी वह तिलपट्टी एकरूप प्रतीत होती है। इसी प्रकार प्रत्येक शरीरीजीवों के शरीरसंघात पृथक्-पृथक् होने पर भी एकरूप प्रतीत होते हैं। '

अनन्तजीवों वाली वनस्पति के लक्षण-(1) टूटे हुए या तोड़े हुए जिस मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पुष्प, फल, बीज का भंगप्रदेश

समान अर्थात्-चक्राकार दिखाई दे, उन मूल आदि को अनन्तजीवों वाले समझने चाहिए। (2) जिस मूल, कन्द, स्कन्ध और शाखा के काष्ठ यानी मध्यवर्ती सारभाग की अपेक्षा छाल अधिक मोटी हो, उस छाल को अनन्तजीव वाली समझनी चाहिए। (3) जिस मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, पत्र और पुष्प आदि के तोड़े जाने पर उसका भंगस्थान चक्र के आकार का एकदम सम हो, वह मूल, कन्द आदि अनन्तजीव वाला समझना चाहिए। (4) जिस मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, पत्र और पुष्प आदि के तोड़े जाने पर पर्व-गांठ या भंगस्थान रज से व्याप्त होता है, अथवा जिस पत्र आदि को तोड़ने पर चक्राकार का भंग नहीं दिखता और भंग (ग्रन्थि) स्थान भी रज से व्याप्त नहीं होता, किन्तु भंगस्थान का पृथ्वीसदृश भेद हो जाता है। अर्थात् सूर्य की किरणों से अत्यन्त तपे हुए खेत की क्यारियों के प्रतरखण्ड का-सा समान भंग हो जाता है, तो उसे अनन्तजीवों वाला समझना चाहिए। (5) क्षीरसहित (दूधवाले) या क्षीररहित (बिना दूध के) जिस पत्र की शिराएँ दिखती न हों उसे, अथवा जिस पत्र की (पत्र के दोनों भागों को जोड़ने वाली) सन्धि सर्वथा दिखाई न दे, उसे भी अनन्तजीवों वाला समझना चाहिए। (6) पुष्प दो प्रकार के होते हैं-जलज और स्थलज। ये दोनों भी प्रत्येक दो-दो प्रकार के होते हैं-वृन्तबद्ध (अतिमुक्तक आदि) और नालबद्ध (जाई के फूल आदि), इन पुष्पों में से पत्रगत जीवों की अपेक्षा से कोई-कोई संख्यात जीवों वाले, कोई-कोई असंख्यात जीवों वाले और कोई-कोई अनन्त जीवों वाले भी होते हैं। आगम के अनुसार उन्हें जान लेना चाहिए।

विशेष यह है कि जो जाई आदि नालबद्ध पुष्प होते हैं, उन सभी को तीर्थंकरों तथा गणधरों ने संख्यातजीवों वाले कहे हैं; किन्तु स्निहूपुष्प अर्थात्-थोहर के फूल या थोहर के जैसे अन्य फूल भी अनन्तजीवों वाले समझने चाहिए। (7) पद्मिनीकन्द, उत्पलिनीकन्द, अन्तरकन्द (जलज वनस्पतिविशेषकन्द) एवं झिल्लिका नामक वनस्पति, ये सब अनन्तजीवों वाले होते हैं। विशेष यह है कि पद्मिनीकन्द आदि के विस (भिस) और मृणाल में एक जीव होता है। (8) सफ्फाक, सज्जाय, उव्वेहलिया, कूहन और कन्दू का (देशभेद से) अनन्त जीवात्मक होती

हैं। (9) सभी किसलय (कोंपल) ऊगते समय अनन्तकायिक होते हैं। प्रत्येकवनस्पतिकाय, चाहे वह प्रत्येकशरीरी हो या साधारण, जब किसलय अवस्था को प्राप्त होता है, तब तीर्थंकरों और गणधरों द्वारा उसे अनन्तकायिक कहा गया है। किन्तु वही किसलय बढ़ता-बढ़ता, बाद में पत्र रूप धारण कर लेता है तब साधारणशरीर या अनन्तकाय अथवा प्रत्येकशरीरी जीव हो जाता है।

प्रत्येकशरीर जीव वाली वनस्पति के लक्षण-(1) जिस मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प अथवा फल या बीज को तोड़ने पर उसके टूटे हुए (भंग) प्रदेश (स्थान) में हीर दिखाई दे, अर्थात् उसके टुकड़े समरूप न हों, विषम हों, दंतीले हों, उस मूल, कन्द या स्कन्ध आदि को प्रत्येक (शरीरी) जीव समझना चाहिए। (2) जिस मूल, कन्द, स्कन्ध या शाखा के काष्ठ (मध्यवर्ती सारभाग) की अपेक्षा उसकी छाल अधिक पतली हो, वह छाल प्रत्येकशरीर जीव वाली समझनी चाहिए। (3) पलाण्डुकन्द, लहसुनकन्द, कदलीकन्द प्रौर कुस्तुम्ब नामक वनस्पति, ये सब प्रत्येकशरीरजीवात्मक समझने चाहिए। इस प्रकार की सभी अनन्त जीवात्मकलक्षण से रहित वनस्पतियां प्रत्येकशरीरजीवात्मक समझनी चाहिए। (4) पद्म, उत्पल, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, अरविन्द, कोकनद, शतपत्र और सहस्रपत्र, इन सब प्रकार के कमलों के वृन्त (डण्ठल), बाह्य पत्र और पत्तों की आधारभूत कणिका, ये तीनों एकजीवात्मक हैं। इनके भीतरी पत्ते, केसर (जटा) और मिजा भी एकजीवात्मक हैं। (5) बांस, नड नामक घास, इक्षुवाटिका, समासेक्षु, इक्कड घास, करकर, सुंठि, विहंगु और दूब आदि तृणों तथा पर्ववाली वनस्पतियों की अक्षि, पर्व, बलिमोटक (पर्व को परिवेष्ठित करने वाला चक्राकार भाग) ये सब एकजीवात्मक हैं। इनके पत्ते भी एक जीवाधिष्ठित होते हैं। किन्तु इनके पुष्प अनेक जीवों वाले होते हैं। (6) पुष्यफल, कालिंग आदि फलों का प्रत्येक पत्ता (पृथक्-पृथक्), वृन्त, गिरि और गूदा और जटावाले या बिना जटा के बीज एक-एक जीव से अधिष्ठित होते हैं।

बीज का जीव मूलादि का जीव बन सकता है या नहीं?-बीज की दो अवस्थाएँ होती हैं-योनि-अवस्था और अयोनि अवस्था। जब बीज योनि अवस्था

का परित्याग नहीं करता किन्तु जीव के द्वारा त्याग दिया जाता है, तब वह बीज योनिभूत कहलाता है। जीव के द्वारा बीज त्याग दिया गया है, यह छद्मस्थ के द्वारा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अतः आजकल चेतन या अचेतन, जो अविध्वस्तयोनि है, उसे योनिभूत कहते हैं। जो विध्वस्तयोनि है, वह नियमतः अचेतन होने से अयोनिभूत बीज है। ऐसा बीज उगने में समर्थ नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि योनि कहते हैं-जीव के उत्पत्तिस्थान को। अविध्वस्तशक्ति सम्पन्न बीज ही योनिभूत होता है, उसी में जीव उत्पन्न होता यह है। प्रश्न यह है कि ऐसे योनिभूत बीज में वही पहले के बीज वाला जीव आकर उत्पन्न होता है अथवा दूसरा कोई जीव आकर उत्पन्न होता है?

उत्तर है दोनों ही विकल्प हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि बीज में जो जीव था, उसने अपनी आयु का क्षय होने पर बीज का परित्याग कर दिया। वह बीज निर्जीव हो गया किन्तु उस बीज को पुनः पानी, काल और जमीन के संयोगरूप सामग्री मिले तो कदाचित् वही पहले वाला बीज मूल आदि का नाम गोत्र बांध कर उसी पूर्व-बीज में आकर उत्पन्न हो जाता है, और कभी कोई अन्य पृथ्वीकायिक आदि नया जीव भी उस बीज में उत्पन्न हो जाता है।

साधारणशरीर बादरवनस्पतिकायिकजीवों का लक्षण-साधारण वनस्पतिकायिक जीव एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, एक साथ ही उनका शरीर बनता है, एक साथ ही वे प्राणापान के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और एक साथ ही उनका श्वासोच्छ्वास होता है। एक जीव का आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करना ही (उस शरीर के आश्रित बहुत से जीवों का ग्रहण करना है, इसी प्रकार बहुत से जीवों का आहारादि-पुद्गल ग्रहण करना भी एक जीव का आहारादि-पुद्गल-ग्रहण करना है; क्योंकि वे सब जीव एक ही शरीर में अश्रित होते हैं। एक शरीर में आश्रित साधारण जीवों का आहार, प्राणापानयोग्य पुद्गलग्रहण एवं श्वासोच्छ्वास साधारण ही होता है। यही साधारणजीवों का साधारणरूप लक्षण है। एक निगोदशरीर में अनन्तजीवों का परिणमन कैसे होता है? इसका समाधान यह है-अग्नि में प्रतप्त लोहे का गोला जैसे सारा-का-सारा अग्निमय बन जाता है, वैसे ही निगोदरूप

एकशरीर में अनन्त जीवों का परिणमन समझ लेना चाहिए। एक, दो, तीन, संख्यात या असंख्यात निगोद जीवों के शरीर हमें नहीं दिखाई दे सकते, क्योंकि उनके पृथक्-पृथक् शरीर ही नहीं हैं, वे तो अनन्तजीवों के पिण्डरूप ही होते हैं। अर्थात् अनन्तजीवों का एक ही शरीर होता है। हमें केवल अनन्तजीवों के शरीर ही दिखाई देते हैं, वे भी बादर निगोदजीवों के ही; सूक्ष्म निगोदजीवों के नहीं; क्योंकि सूक्ष्म निगोदजीवों के शरीर अनन्त जीवात्मक होने पर भी वे अदृश्य (दृष्टि से अगोचर) ही होते हैं। स्वाभाविकरूप से उसी प्रकार के सूक्ष्मपरिणामों से परिणत उनके शरीर होते हैं। अनन्त निगोदजीवों का एक ही शरीर होता है, इस विषय में वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् के वचन ही प्रमाणभूत हैं। भगवान् का कथन है -'सूई की नोंक के बराबर निगोदकाय में असंख्यात गोले होते हैं, एक-एक गोले में असंख्यात असंख्यात निगोद होते हैं और एक-एक निगोद में अनन्त अनन्त जीव होते हैं। अनन्त निगोदिया जीवों का शरीर एक ही होता है, यह कथन औदारिकशरीर की अपेक्षा जानना चाहिए। उन सब के तैजस और कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न ही होते हैं।

द्वीन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना

द्वीन्द्रिय (द्वीन्द्रिय संसारसमापन्न जीव-प्रज्ञापना) अनेक प्रकार के कहे गए हैं। (अनेक प्रकार की कही गई है।) वह इस प्रकार-पुलाकृमिक कुक्षिकृमिक, गण्डूयलग, गोलोम, नूपर, सौमंगलक, वंशीमुख, सूचीमुख गौजलोका, जलोका, जलोयुक (जालायुष्क), शंख, शंखनक, घुल्ला, खुल्ला, गुडज, स्कन्ध, वराटा (वराटिका = कौडी), सौक्तिक, मौक्तिक (सौत्रिक मूत्रिक), कलुकावास, एकतोवृत्त, द्विधातोवृत्त, नन्दिकावर्त्त, शम्बूक, मातृवाह, शुक्तिसम्पुट, चन्दनक, समुद्र लिक्षा। अन्य जितने भी इस प्रकार के हैं, (उन्हें द्वीन्द्रिय समझना चाहिए।) ये (उपर्युक्त प्रकार के) से भी (द्वीन्द्रिय) समूच्छिम और नपुंसक हैं। ये (द्वीन्द्रिय) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक द्वीन्द्रियों के सात लाख जाति-कुलकोटि-योनिप्रमुख होते हैं, ऐसा कहा गया है। यह हुई द्वीन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना।

कुछ शब्दों के विशेष अर्थ-'पुलाकिमिया'=पुलाकृमिक एक प्रकार के कृमि होते हैं, जो मलद्वार (गुदाद्वार) में उत्पन्न होते हैं। कुच्छकिमिया-कुक्षिकृमिक एक प्रकार के कृमि, जो उदरप्रदेश में उत्पन्न होते हैं। संखणगा=शंखनक-छोटे शंख, शंखनी। चंदणा-चन्दनक-अक्ष। गंडूयलगा=गिंडोला। संबुक्का=शम्बूक=घोंघा। घुल्ला=घोंघरी। खुल्ला=समुद्री शंख के आकार के छोटे शंख। सिप्पिसंपुटा=शुक्तिसंपुट-संपुटाकार सीप। जलोया=जौंक।

सव्वेते सम्मुच्छिमा-इसी प्रकार के मृतकलेवर में पैदा होने वाले कृमि, कीट आदि सब द्वीन्द्रिय औौर सम्मूच्छिम समझने चाहिए। क्योंकि सभी अशुचिस्थानों में पैदा होने वाले कीड़े सम्मूच्छिम ही होते हैं, गर्भज नहीं। और तत्त्वार्थसूत्र के 'नारक-सम्मूच्छिनो नपुंसकानि' इस सूत्रानुसार सभी समूच्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं।

जाति, कुलकोटि एवं योनि शब्द की व्याख्या-पूर्वाचार्यों ने इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है-जातिपद से तिर्यञ्चगति समझनी चाहिए। उसके कुल हैं-कृमि, कीट, वृश्चिक आदि। ये कुल योनि-प्रमुख होते हैं, अर्थात्-एक ही योनि में अनेक कुल होते हैं। जैसे-एक ही छगण (गोबर या कंडे) की योनि में कृमिकुल, कीटकुल और वृश्चिककुल आदि होते हैं। इसी प्रकार एक ही योनि में अवान्तर जातिभेद होने से अनेक जातिकुल के योनिप्रवाह होते हैं। द्वीन्द्रियों के सात लाख जातिकुलकोटिरूप योनियां हैं।

त्रीन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना-

वह (पूर्वोक्त) त्रीन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना किस प्रकार की है?

त्रीन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना अनेक प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है-औपयिक, रोहिणीक, कंथु (कुंथुआ), पिपीलिका (चींटी, कीड़ी), उद्देशक, उद्देहिका (उदई-दीमक), उत्कलिक, उत्पाद, उत्कट, उत्पट, तृणाहार, काष्ठाहार (घुन), मालुक, पत्राहार, तृणवृत्तिक, पत्रवृन्तिक, पुष्पवृन्तिक, फलवृन्तिक, बीजवृन्तिक, तेदुरणमज्जिक (तेवुरणमिजिक या तम्बुरुण-उमज्जिक), त्रपुषमिजिक

कार्पासास्थिमिजिक, हिल्लिक, झिल्लिक, भिंगिरा (झींगूर), किंगिरिट, बाहुक, लघुक, सुभग सौवस्तिक, शुकवृन्त, इन्द्रिकायिक (इन्द्रकायिक), इन्द्रगोपक (इन्द्रगोप-बीरबहूटी), उरुलुं चक (तुरुतुम्बक), कुस्थलवाहक, यूका (जूं), हालाहल, पिशुक (पिस्सू-खटमल), शतपादिका (गजाई), गोम्ही (गोम्मयी), और हस्तिशौण्ड। इसी प्रकार के जितने भी अन्य (जीव हों, उन्हें त्रीन्द्रिय संसारसमापन्न समझना चाहिए।) ये (उपर्युक्त) सब सम्मूच्छिम और नपुंसक हैं।

ये (पूर्वोक्त त्रीन्द्रिय जीव) संक्षेप में, दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इन पर्याप्त और अपर्याप्त त्रीन्द्रियजीवों के सात लाख जाति कुलकोटि-योनिप्रमुख (योनिद्वार) होते हैं, ऐसा कहा है। यह हुई उन त्रीन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना।

गोम्ही का अर्थ-वृत्तिकार ने इसका अर्थ-'कर्ण सियालिया' किया है। हिन्दी भाषा में इसे कनसला या कानखजूरा भी कहते हैं।

चतुरिन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना

अंधिय णेत्तिय मच्छिय मगमिगकीडे तहा पयंगे य।
ढिंकुण कुक्कुड कुक्कुह णंदावत्ते य सिंगिरिडे।। (110)

वह (पूर्वोक्त) चतुरिन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना किस प्रकार की है?

चतुरिन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना अनेक प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है-[गाथार्थ] अंधिक, नेत्रिक (या पत्रिक), मक्खी, मगमृगकीट (मशक-मच्छर, कीड़ा अथवा टिड्डी) तथा पतंगा, ढिकुण (ढंकुण), कुक्कड (कुर्कुट), कुक्कड नन्द्यावर्त और शृंगिरट (शृंगिरट)।

कृष्णपत्र (कृष्णपक्ष), नीलपत्र (नीलपक्ष), लोहितपत्र (लोहितपक्ष), हारिद्रपत्र (हारिद्रपक्ष), शुक्लपत्र (शुक्लपक्ष), चित्रपक्ष, विचित्रपक्ष, अवभांजलिक (ओहांजलिक), जलचारिक, गम्भीर, नीनिक (नीतिक), तन्तव, अक्षीरोट, अक्षिवेध, सारंग, नेवल (नूपुर), दोला, भ्रमर, भरिली, जरुला, तोट्ट, बिच्छू, पत्रवृश्चिक, छाणवृश्चिक (गोबर का बिच्छू), जलवृश्चिक, (जल का बिच्छू), प्रियंगाल,

कनक और गोमयकीट (गोबर का कीड़ा)। इसी प्रकार के जितने भी अन्य (प्राणी) हैं, (उन्हें भी चतुरिन्द्रिय समझना चाहिए। ये (पूर्वोक्त) सभी चतुरिन्द्रिय सम्मूच्छिम और नपुंसक हैं।

वे दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा-पर्याप्तक और अपर्याप्तक इस प्रकार के चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तकों और पर्याप्तकों के नौ लाख जाति-कुलकोटि-योनिप्रमुख होते हैं, ऐसा (तीर्थंकरों ने) कहा है। यह हुई उन चतुरिन्द्रिय संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना।

चतुर्विध पंचेन्द्रिय संसारसमापन्न जीवप्रज्ञापना-

वह पंचेन्द्रिय-संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना किस प्रकार की है? पंचेन्द्रिय-संसारसमापन्न जीवों की प्रज्ञापना चार प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है-(1) नैरयिक-पंचेन्द्रिय-संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना, (2) तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना, (3) मनुष्य पंचेन्द्रिय संसारसमापन्न-जीवप्रज्ञापना प्रौर (4) देव-पंचेन्द्रिय संसारसमापन्न जीवप्रज्ञापना।

नैरयिक सात प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिक, (2) शर्कराप्रभापृथ्वी-नैरयिक (3) वालुकाप्रभा पृथ्वी नैरयिक, (4) पंकप्रभा पृथ्वी नैरयिक, (5) धूमप्रभा पृथ्वी-नैरयिक, (6) तमः प्रभापृथ्वी-नैरयिक और (7) तमस्तमः प्रभापृथ्वी नैरयिक। वे-(उपर्युक्त सातों प्रकार के नैरयिक) संक्षेप से दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। यह नैरयिकों की प्ररूपणा हुई।

'नैरयिक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ-निर्+अय का अर्थ है-जिससे अय अर्थात् इष्टफल देने वाला (शुभ कर्म) नि र्अर्थात् निर्गत हो गया हो-निकल गया हो, जहाँ इष्टफल की प्राप्ति न होती हो, वह निरय अर्थात् नाराकावास है। निरय में उत्पन्न होने वाले जीव नैरयिक कहलाते हैं। ये नैरयिक (नारक) जीव संसारसमापन्न अर्थात्-जन्ममरण को प्राप्त हैं तथा पांचों इन्द्रियों से युक्त होते हैं, अतएव पंचेन्द्रिय-संसारसमापन्न कहलाते हैं।

समग्र पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों की प्रज्ञापना-

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक तीन प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार है-(1) जलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्योनिक, (2) स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक और (3) खेचर-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक।

जलचर-पंचेन्दिय-तिर्यञ्चयोनिक पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-(1) मत्स्य, (2) कच्छप, (कछुए), (3) ग्राह, (4) मगर और (5) सुं सुमार।

मत्स्य अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-श्लक्ष्णमत्स्य, खवल्लमत्स्य, युगमत्स्य (जुंगमत्स्य), विज्झिडिय (विज्झडिय) मत्स्य, हलिमत्स्य, मकरीमत्स्य, हलीसागर, गागर, वट, वटकर, (तथा गर्भज उसगार), तिमि, तिमिंगल, नक्र, तन्दुलमत्स्य कणिक्कामत्स्य, शालिशस्त्रिक मत्स्य, लंभनमत्स्य, पताका और पताकातिपताका। इसी प्रकार के जो भी अन्य प्राणी हैं, वे सब मत्स्यों के अन्तर्गत समझने चाहिए। यह मत्स्यों की प्ररूपणा हुई।

कच्छप दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-अस्थिकच्छप (जिनके शरीर में हड्डियां अधिक हों, वे) और मांसकच्छप (जिनके शरीर में मांस की बहुलता हो, वे)। इस प्रकार कच्छप की प्ररूपणा पूर्ण हुई।

वे (पूर्वोक्त) ग्राह कितने प्रकार के हैं?

ग्राह (घड़ियाल) पांच प्रकार के होते हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) दिली, (2) वेढल या (वेटक)(3) मूर्धज, (4) पुलक और (5) सीमाकार। यह हुई ग्राह की वक्तव्यता।

मगर (मगरमच्छ) दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-शौण्डमकर और मृष्टमकर। यह हुई (पूर्वोक्त) मकर की प्ररूपणा।

सुंसुमार (शिशुमार) एक ही आकार-प्रकार के कहे गए हैं। यह हुआ (पूर्वोक्त सुंसुमार का निरूपण। अन्य जो इस प्रकार के हों।

वे (उपर्युक्त सभी प्रकार के जलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) संक्षेप में दो प्रकार के हैं। यथा-सम्मूर्च्छिम और गर्भज (गर्भव्युत्क्रान्तिक)।

तत्थ णं जे ते सम्मुच्छिमा ते सव्वे नपुंसगा।

इनमें से जो सम्मूर्च्छिम हैं, वे सब नपुंसक होते हैं।

इनमें से जो गर्भज हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं-स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

इस प्रकार (मत्स्य) इत्यादि इन (पांचों प्रकार के) पर्याप्तक और अपर्याप्तक जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के साढ़े बारह लाख जाति-कुलकोटि-योनिप्रमुख होते हैं, ऐसा कहा है। यह हुई जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों की प्ररूपणा।

स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार चतुष्पद-स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक और परिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक।

चतुष्पद-स्थलचर पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-1. एकखुरा (एक खुर वाले), 2. द्विखुरा (दो खुर वाले), 3. गण्डीपद (सुनार की एरण जैसे पैर वाले) और 4. सनखपद (नखसहित पैरों वाले)।

एकखुरा अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं, जैसे कि-अश्व, अश्वतर, (खच्चर), घोटक (घोड़ा), गधा (गर्दभ), गोरक्षर, कन्दलक, श्रीकन्दलक और आवर्त (आवर्त्तक)। इसी प्रकार के अन्य जितने भी प्राणी हैं, उन्हें एकखुर-स्थलचर-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के [अन्तर्गत समझना चाहिए।) यह हुआ एकखुरों का प्ररूपण। द्विखुर (दो खुर वाले) अनेक प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि-उष्ट्र (ऊँट), गाय (गो और वृषभ आदि), गवय (नील गाय), रोज, पशुक, महिष (भैंस-भैंसा), मृग, सांभर, वराह (सूअर) अज (बकरा बकरी), एलक (बकरा या भेड़ा), रुरु, सरभ, चमर (चमरी गाय), कुरंग, गोकर्ण आदि। यह दो खुर वालों की प्ररूपणा हुई। गण्डीपद अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-हाथी, हस्तिपूतनक, मत्कुणहस्ती, (बिना दांतों का छोटे कद का हाथी), खड्गी और गंडा (गेंडा)। इसी प्रकार के जो भी अन्य प्राणी हों, उन्हें गण्डीपद में जान

लेने चाहिए। यह हुई गण्डीपद जीवों की प्ररूपणा। सनखपद अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-सिंह, व्याघ्र, द्वीपिक (दीपड़ा), रीछ (भालू), तरक्ष, पाराशर, शृगाल (सियार), विडाल (बिल्ली), श्वान, कोलश्वान, कोकन्तिक (लोमड़ी), शशक (खरगोश), चीता और चित्तलग (चिल्लक)। इसी प्रकार के अन्य जो भी प्राणी हैं, वे सब सनखपदों के अन्तर्गत समझने चाहिए। यह हुआ पूर्वोक्त सनखपदों का निरूपण।

ते समासतो दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-सम्मुच्छिमा य गब्भवक्कतिया य।

वे (उपर्युक्त सभी प्रकार के चतुष्पद-स्थलचर पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा-समूर्च्छिम और गर्भज।

तत्थ णं जे ते सम्मुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा।

उनमें जो सम्मूर्च्छिम हैं, वे सब नपुंसक हैं।

उनमें जो गर्भज हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं। यथा-1. स्त्री, 2. पुरुष और 3. नपुंसक।

इस प्रकार (एकखुर) इत्यादि इन स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों के पर्याप्तक अपर्याप्तकों के दस लाख जाति-कुल-कोटि-योनिप्रमुख होते हैं, ऐसा कहा है। यह हुआ चतुष्पदस्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों का निरूपण।

परिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-उरः परिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक एवं भुजपरिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक।

उरःपरिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-1. अहि (सर्प), 2. अजगर, 3. सालिक और 4. महोरग।

अहि दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-दर्वीकर (फन वाले), और मुकुली (बिना फन वाले)।

दर्वीकर (फन वाले) सर्प अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-आशीविष (दाढ़ों में विष वाले), दृष्टिविष (दृष्टि में विष वाले), उग्रविष (तीव्र

विष वाले), भोगविष (फन या शरीर में विष वाले), त्वचाविष (चमड़ी में विष वाले), लालाविष (लार में विष वाले), उच्छ्वासविष (श्वास लेने में विष वाले), निःश्वासविष (श्वास छोड़ने में विष वाले), कृष्णसर्प, श्वेतसर्प, काकोदर, दह्यपुष्प (दर्भपुष्प), कोलाह, मेलिभिन्द और शेषेन्द्र। इसी प्रकार के और भी जितने सर्प हों, वे सब दर्वीकर के अन्तर्गत समझना चाहिए। यह हुई दर्वीकर सर्प की प्ररूपणा।

मुकुली सर्प अनेक प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि-दिव्याक, गोनस, कषाधिक, व्यतिकुल, चित्रली, मण्डली, माली, अहि, अहिशलाका और वातपताका (वासपताका)। अन्य जितने भी इसी प्रकार के सर्प हैं, (वे सब मुकुली सर्प की जाति के समझने चाहिए।) यह हुआ मुकुली (सर्पों का वर्णन।) (साथ ही), अहि सर्पों की (प्ररूपणा पूर्ण हुई)।

अजगर एक ही आकार-प्रकार के कहे गए हैं। यह अजगर की प्ररूपणा हुई।

गौतम! वे (आसालिक उरःपरिसर्प) मनुष्य क्षेत्र के अन्दर ढाई द्वीपों में, निर्व्याघातरूप से (बिना व्याघात के) पन्द्रह कर्मभूमियों में, व्याघात की अपेक्षा से पांच महाविदेह क्षेत्रों में, अथवा चक्रवर्ती के स्कन्धावारों (सैनिकशिविरों-छावनियों) में, या वासुदेवों के स्कन्धावारों में, बलदेवों के स्कन्धावारों में, माण्डलिकों (अल्पवैभव वाले छोटे राजाओं) के स्कन्धावारों में, महामाण्डलिकों (अनेक देशों के अधिपति नरेशों) के स्कन्धावारों में, ग्रामनिवेशों में, नगरनिवेशों में, निगम (वणिक्-निवास)-निवेशों में, खेटनिवेशों में, कर्बटनिवेशों में, मडम्बनिवेशों में, द्रोणमुखनिवेशों में, पट्टणनिवेशों में, आकरनिवेशों में, आश्रमनिवेशों में, सम्बाधनिवेशों में और राजधानीनिवेशों में इन (चक्रवर्ती स्कन्धावार आदि स्थानों) का विनाश होने वाला हो तब इन (पूर्वोक्त स्थानों में घासालिक सम्मूर्च्छिमरूप से उत्पन्न होते हैं। वे (आसालिक) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग-मात्र को अवगाहना से और उत्कृष्ट बारह योजन की अवगाहना से (उत्पन्न होते हैं।) उस (अवगाहना) के अनुरूप ही उसका विष्कम्भ (विस्तार) और बाहुल्य (मोटाई) होता है। वह

(आसालिक) चक्रवर्ती के स्कन्धावार आदि के नीचे की भूमि को फाड़ (विदारण) कर प्रादुर्भूत (समुत्थित) होता है। वह असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होता है, तथा अन्तर्मुहूर्त्त काल की आयु भोग कर मर (काल कर) जाता है। यह हुई उक्त आसालिक की प्ररूपणा।

महोरग अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-कई महोरग एक अंगुल के भी होते हैं, कई अंगुलपृथक्त्व (दो अंगुल से नौ अंगुल तक) के, कई वितस्ति (बीता = बारह अंगुल) के भी होते हैं; कई वितस्तिपृथक्त्व (दो से नौ वितस्ति) के, कई एक रत्नि (हाथ) भर के, कई रत्निपृथक्त्व (दो हाथ से नौ हाथ तक) के भी, कई कुक्षिप्रमाण (दो हाथ के) होते हैं; कई कुक्षिपृथक्त्व (दो कुक्षि से नौ कुक्षि तक) के भी, कई धनुष (चार हाथ) प्रमाण भी, कई धनुषपृथक्त्व (दो धनुष से नौ धनुष तक) के भी, कई गव्यूति-(गाऊ=दो कोसदो हजारधनुष) प्रमाण भी, कई गव्यूति-पृथक्त्व के भी, कई योजनप्रमाण (चार गाऊ भर) भी, कई योजन पृथक्त्व के भी कई सौ योजन के भी, कई योजनशतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ योजन तक) के भी और कई हजार योजन के भी होते हैं। वे स्थल में उत्पन्न होते हैं, किन्तु जल में विचरण (संचरण) करते हैं, स्थल में भी विचरते हैं। वे यहाँ नहीं होते, किन्तु मनुष्यक्षेत्र के बाहर के द्वीप-समुद्रों में होते हैं। इसी प्रकार के अन्य जो भी उरः परिसर्प हों, उन्हें भी महोरगजाति के समझने चाहिए। यह हुई उन (पूर्वोक्त) महोरगों की प्ररूपणा।

वे (चारों प्रकार के पूर्वोक्त उरःपरिसर्प स्थलचर) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं-सम्मूच्छिम और गर्भज।

इनमें से जो समूच्छिम हैं, वे सभी नपुंसक होते हैं।

इनमें से जो गर्भज हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं। 1. स्त्री, 2. पुरुष और 3. नपुंसक।

इस प्रकार (अहि) इत्यादि इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक उरः परिसर्पों के दस लाख जाति-कुलकोटि-योनि-प्रमुख होते हैं, ऐसा कहा है। भुजपरिसर्प अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-नकुल (नेवले), गोह, सरट (गिरगिट),

शल्य, सरंठ (सरठ), सार, खार (खोर), गृहकोकिला (घरोली=छिपकली), विषम्भरा (विसभरा), मूषक (चूहे), मंगुसा (गिलहरी), पयोलातिक, क्षीरविडालिका; जैसे चतुष्पद (चौपाये) स्थलचर (का कथन किया, वैसे ही इनका समझना चाहिए।) इसी प्रकार के अन्य जितने भी (भुजा से चलने वाले प्राणी हों, उन्हें भुजपरिसर्प समझना चाहिए।)

वे (नकुल आदि पूर्वोक्त भुजपरिसर्प) संक्षेप में दो प्रकार के होते हैं। जैसे कि-सम्मूर्च्छिम और गर्भज।

इनमें से जो सम्मूर्च्छिम हैं, वे सभी नपुंसक होते हैं।

इनमें से जो गर्भज हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं । (1) स्त्री, (2) पुरुष और (3) नपुंसक।

इस प्रकार (नकुल) इत्यादि इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक भुजपरिसर्पों के नौ लाख जाति-कुलकोटि-योनि-प्रमुख होते हैं, ऐसा कहा है। यह हुआ पूर्वोक्त भुजपरिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों (का वर्णन।) (साथ ही) परिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों (की प्ररूपणा भी पूर्ण हुई।)

खेचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं(1) चर्मपक्षी (जिनकी पांखें चमड़े की हों), (2) लोम (रोम) पक्षी (जिनकी पांखें रोंएदार हों), (3) समुद्गकपक्षी [जिनकी पांखें उड़ते समय भी समुद्गक (डिब्बे या पेटी) जैसी रहें), और (4) विततपक्षी (जिनके पंख फैले हुए रहें, सिकुड़ें नहीं)।

चर्मपक्षी अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-वल्गुली (चमगीदड़=चमचेड़), जलौका, अडिल्ल, भारण्डपक्षी, जीवंजीव (चक्रवाक-चकवे), समुद्रवायस (समुद्री कौए), कर्णत्रिक और पक्षिविडाली। अन्य जो भी इस प्रकार के पक्षी हों, (उन्हें चर्मपक्षी समझना चाहिए।) यह हुई चर्मपक्षियों (की प्ररूपणा।)

रोमपक्षी अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-ढंक, कंक, कुरल, वायस (कौए), चक्रवाक (चकवा), हंस, कलहंस, राजहंस (लाल चोंच एवं पंख वाले हंस), पादहंस, आड (अड), सेडी, बक (बगुले), बलाका (बकपंक्ति),

पारिप्लव, क्रौंच, सारस, मेसर, मसूर, मयूर (मोर), शतवत्स (सप्तहस्त), गहर, पौण्डरीक, काक, कामंजुक (कामेज्जुक), वंजुलक, तित्तिर (तीतर), वर्त्तक (बतक), लावक, कपोत, कपिजल, पारावत (कबूतर), चिटक, चास, कुक्कुट (मुर्गे), शुक (सुग्गे-तोते), बर्हीं (मोर विशेष), मदनशलाका (मैना), कोकिल (कोयल), सेह और वरिल्लक आदि । यह है (उक्त) रोमपक्षियों (का वर्णन।)

समुद्गपक्षी एक ही आकार-प्रकार के कहे गए हैं। वे यहाँ (मनुष्यक्षेत्र में) नहीं होते। वे (मनुष्यक्षेत्र से) बाहर के द्वीप-समुद्रों में होते हैं। यह समुद्गपक्षियों की प्ररूपणा हुई।

विततपक्षी एक ही आकार-प्रकार के होते हैं। वे यहाँ (मनुष्यक्षेत्र में) नहीं होते। (मनुष्यक्षेत्र से) बाहर के द्वीप-समुद्रों में होते हैं। यह विततपक्षियों की प्ररूपणा हुई।

ये (पूर्वोक्त चारों प्रकार के खेचरपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) संक्षेप में दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-सम्मूर्च्छिम और गर्भज।

इनमें से जो समूच्छिम हैं, वे सभी नपुंसक होते हैं।

इनमें से जो गर्भज हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि-(1) स्त्री, (2) पुरुष और (3) नपुंसक।

सत्तट्ठ जातिकुल कोडिलक्ख नव अद्धतेरसाइं च।

दस दस य होंति णवगा तह बारस चेव बोद्धव्वा।। (111)

इस प्रकार चर्मपक्षी इत्यादि इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक खेचर पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों के बारह लाख जाति-कुलकोटि-योनिप्रमुख होते हैं, ऐसा कहा है।

[संग्रहणी गाथार्थ-] (द्वीन्द्रियजीवों की) सात लाख जातिकुलकोटि, (त्रीन्द्रियों की) आठ लाख, (चतुरिन्द्रियों की) नौ लाख, (जलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों की) साढ़े बारह लाख, (चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रियों की) दस लाख, (उरः परिसर्प-स्थलचर पंचेन्द्रियों की) दस लाख, (भुजपरिसर्पस्थलचर-पंचेन्द्रियों की) नौ लाख तथा (खेचर-पंचेन्द्रियों की) बारह लाख, (यों द्वीन्द्रिय से लेकर खेचर पंचेन्द्रिय तक की क्रमशः) समझनी चाहिए।

यह खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों की प्ररूपणा हुई। इसकी समाप्ति के साथ ही पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों की प्ररूपणा भी समाप्त हुई और इसके साथ ही समस्त तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों की प्ररूपणा भी पूर्ण हुई।

गर्भज और सम्मूर्च्छिम की व्याख्या-जो जीव गर्भ में उत्पन्न होते हैं, वे माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाले गर्भव्युत्क्रान्तिक या गर्भज कहलाते हैं। जो जीव माता-पिता के संयोग के बिना ही, गर्भ या उपपात के बिना, इधर-उधर के अनुकूल पुद्गलों के इकट्ठे हो जाने से उत्पन्न होते हैं, वे सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। सम्मूर्च्छिम सब नपुंसक ही होते हैं; किन्तु गर्भजों में स्त्री पुरुष और नपुंसक, ये तीनों प्रकार के होते हैं।

तिर्यञ्चयोनिक शब्द का निर्वचन-जो 'तिर्' अर्थात् कुटिल-टेढ़े-मेढ़े या वक्र, 'अञ्चन' अर्थात् गमन करते हैं, उन्हें तिर्यञ्च कहते हैं। उनकी योनि अर्थात्-उत्पत्तिस्थान को 'तिर्यग्योनि' कहते हैं। तिर्यग्योनि में जन्म ले ने-उत्पन्न होने वाले तैर्यग्योनिक हैं।

'उरःपरिसर्प' और 'भुजपरिसर्प' का अर्थ-जो अपनी छाती (उर) से रेंग (परिसर्पण) करके चलते हैं, वे सर्प आदि स्थलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय 'उर : परिसर्प' कहलाते हैं और जो अपनी भुजाओं के सहारे चलते हैं, ऐसे नेवले, गोह आदि स्थलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय प्राणी 'भुजपरिसर्प' कहलाते हैं।

आसालिक (उर परिसर्प) की व्याख्या-'आसालिया' शब्द के संस्कृत में दो रूपान्तर होते हैं-आसालिका और असालिगा। असालिका या असालिक किसे कहते हैं, वे किस-किस प्रकार के होते हैं और कहाँ उत्पन्न होते हैं? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में प्रज्ञापना सूत्रकार श्री श्यामार्य वाचक ने अन्य ग्रन्थ में भगवान् द्वारा गौतम के प्रति प्ररूपित कथन को यहाँ उद्धृत किया है।

आसालिया कहि संमुच्छइ? इस वाक्य में प्रयुक्त 'संमुच्छइ' क्रियापद से स्पष्ट सूचित होता है कि 'आसालिका' या 'आसालिक गर्भज नहीं, किन्तु समूर्च्छिम हैं।

आसालिका की उत्पत्ति मनुष्यक्षेत्र के अन्दर अढाई द्वीपों में होती है; वस्तुतः

मनुष्यक्षेत्र, अढाई द्वीप को ही कहते हैं, किन्तु यहाँ जो अढाई द्वीप में इनकी उत्पत्ति बताई है, वह यह सूचित करने के लिए है कि आसालिका की उत्पत्ति अढाई द्वीपों में ही होती है, लवणसमुद्र में या कालोदधिसमुद्र में नहीं। किसी प्रकार के व्याघात के अभाव में वह 15 कर्मभूमियों में उत्पन्न होता है, इसका रहस्य यह है कि अगर 5 भरत एवं 5 ऐरवत क्षेत्रों में व्याघातहेतुक सुषम-सुषम आदि रूप या दुःषमदुःषम आदिरूप काल व्याघातकारक न हों, तो 15 कर्मभूमियों आसालिका की उत्पत्ति होती है। यदि 5 भरत और 5 ऐरवत क्षेत्र में पूर्वोक्त रूप का कोई व्याघात हो तो फिर वहाँ वह उत्पन्न नहीं होता। ऐसी (व्याघातकारक) स्थिति में वह पांच महाविदेहक्षेत्रों में उत्पन्न होता है। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि तीस अकर्मभूमियों में आसालिका की उत्पत्ति नहीं होती तथा 15 कर्मभूमियों एवं महाविदेहों में भी इसकी सर्वत्र उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु चक्रवर्ती, बलदेव आदि के स्कन्धावारों (सैनिक छावनियों) में वह उत्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त ग्राम-निवेश से लेकर राजधानी निवेश तक में से किसी में भी इसकी उत्पत्ति होती है; और वह भी जब चक्रवर्ती आदि के स्कन्धावारों या नामादि-निवेशों का विनाश होने वाला हो। स्कन्धावारों या निवेशों के विनाशकाल में उनके नीचे की भूमि को फाड़कर उसमें से वह आसालिका निकलती है। यही आसालिका की उत्पत्ति की प्ररूपणा है। आसालिका की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उत्कृष्ट बारह योजन की होती है। उसका विस्तार और मोटाई अवगाहना के अनुरूप होती है। आसालिका असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होता है। इसकी आयु सिर्फ मुहूर्त भर की होती है।

महोरगों का स्वरूप और स्थान-महोरग एक अंगुल की अवगाहना से लेकर एक हजार योजन तक की अवगाहना वाले होते हैं। ये स्थल में उत्पन्न होकर भी जल में भी संचार करते हैं, स्थल में भी; क्योंकि इनका स्वभाव ही ऐसा है। महोरग इस मनुष्यक्षेत्र में नहीं होते, किन्तु इससे बाहर के द्वीपों और समुद्रों में, तथा समुद्रों में भी पर्वत, देवनगरी आदि स्थलों में उत्पन्न होते हैं। अत्यन्त स्थूल होने के कारण ये जल में उत्पन्न नहीं होते। इसी कारण ये मनुष्यक्षेत्र में नहीं दिखाई

देते। मूलपाठ में उक्त लक्षण वाले दस अंगुल आदि की अवगाहना वाले जो उरः परिसर्प हों, उन्हें महोरग समझना चाहिए।

'दर्वीकर' और 'मुकुली' शब्दों का अर्थ-दर्वी कहते हैं-कुडछी या चाटु को, उसकी तरह दर्वी यानी फणा करने वाला दवकर है। मुकुली अर्थात्-फन उठाने की शक्ति से विकल, जो बिना फन का हो।

ग्राम आदि के विशेष अर्थ-ग्राम-बाड़ से घिरी हुई बस्ती। **नगर**-जहाँ अठारह प्रकार के कर न लगते हों। **निगम**-बहुत से वणिक्जनों के निवास वाली बस्ती। **खेट**-खेड़ा, धूल के परकोटे से घिरी हुई बस्ती। **कर्बट**-छोटे-से प्राकार से वेष्टित बस्ती। **मडम्ब**-जिसके आसपास ढाई कोस तक दूसरी बस्ती न हो। **द्रोणमुख**-जिसमें प्रायः जलमार्ग से ही आवागमन हो या बन्दरगाह। **पट्टण**-जहाँ घोड़ा, गाड़ी या नौका से पहुँचा जाए अथवा व्यापार की मंडी, व्यापारिक केन्द्र **आकर**-स्वर्णादि की खान। **आश्रम**-तापसजनों का निवासस्थान। **संबाध**-धान्यसुरक्षा के लिए कृषकों द्वारा निर्मित दुर्गम भूमिगत स्थान या यात्रिकों के पड़ाव का स्थान। **राजधानी**-राज्य का शासक जहाँ रहता हो।

समग्र मनुष्य जीवों की प्रज्ञापना-

मनुष्य किस (कितने) प्रकार के होते हैं?

मनुष्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार सम्मूर्च्छिम मनुष्य और गर्भज मनुष्य।

गौतम! मनुष्य क्षेत्र के अन्दर, पैंतालीस लाख योजन विस्तृत द्वीप-समुद्रों में, कर्मभूमियों में, तीस अकर्मभूमियों में एवं छप्पन अन्तर्द्वीपों में गर्भज मनुष्यों के-(1) उच्चारों (विष्ठाओं-मलों) में, (2) पेशाबों (मूत्रों) में, (3) कफों में, (4) सिंघाण-नाक के मैलों (लींट) में, (5) बमनों में, (6) पित्तों में, (7) मवादों में, (8) रक्तों में, (9) शुक्रों-वीर्यों में, (10) पहले सूखे हुए शुक्र के पुद्गलों को गीला करने में, (11) मरे हुए जीवों के कलेवरों (लाशों) में, (12) स्त्री-पुरुष के संयोगों में या (13) ग्राम की गटरों या मोरियों में अथवा (14) नगर की गटरों-मोरियों में, अथवा सभी अशुचि (अपवित्र-गंदे) स्थानों में-इन

सभी स्थानों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य (माता-पिता के संयोग के बिना स्वतः) उत्पन्न होते हैं। इन समूच्छिम मनुष्यों की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र की होती है। ये असंज्ञी मिथ्यादृष्टि एवं सभी पर्याप्तियों से अपर्याप्त होते हैं। ये अन्तमुहूर्त्त की आयु भोग कर मर जाते हैं। यह सम्मूच्छिम मनुष्यों की प्ररूपणा हुई।

गर्भज मनुष्य किस प्रकार के होते हैं?

गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-1. कर्मभूमिक, 9. अकर्मभूमिक और 3 अन्तरद्वीपक।

अन्तरद्वीपक अट्ठाईस प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-(1) एकोरुक, (2) आभासिक, (3) वैषाणिक, (3) नांगोलिक, (5) हयकर्ण, (6) गजकर्ण, (7) गोकर्ण, (8) शकुलिकर्ण, (6) आदर्शमुख, (10) मेण्डमुख, (11) अश्वमुख, (12) गोमुख, (13) अदोंमुख, (14) हस्तिमुख, (15) सिंहमुख, (16) व्याघ्रमुख, (17) अश्वकर्ण, (18) सिंहकर्ण (हरिकर्ण), (13) अकर्ण, (20) कर्णप्रावरण, (21) उल्कामुख, (22) मेघमुख, (23) विद्युन्मुख, (24) विद्युद्दन्त, (25) घनदन्त, (26) लष्टदन्त, (27) गूढ़दन्त और (28) शुद्धदन्त। यह अन्तरद्वीपकों की प्ररूपणा हुई।

अकर्मभूमक मनुष्य तीस प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-पांच हैमवत क्षेत्रों में, पांच हैरण्यवत क्षेत्रों में पांच हरिवर्ष क्षेत्रों में पांच रम्यकवर्ष में, पांच देवकुरुक्षेत्रों में और पांच उत्तरकुरु क्षेत्रों में। इस प्रकार यह अकर्मभूमक मनुष्य की प्ररूपणा हुई।

कर्मभूमक मनुष्य पन्द्रह प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-पांच भरत क्षेत्रों में, पांच ऐरवतक्षेत्रों में और पांच महाविदेहक्षेत्रों में।

वे (पन्द्रह प्रकार के कर्मभूमक मनुष्य) संक्षेप में दो प्रकार के हैं-आर्य और म्लेच्छ।

म्लेच्छ मनुष्य किस-किस प्रकार के हैं?

म्लेच्छ मनुष्य अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-शक, यवन, किरात, शबर, बर्बर, काय, मरुण्ड, उड्ड, भण्डक, (भडक), निन्नक (निण्णक),

पक्कणिक, कुलाक्ष, गोंड, सिंहल, पारस्य (पारसक) आन्ध्र (क्रौंच), उंडम्ब (अम्बडक), तमिल (दमिल द्रविड़), चिल्लल (चिल्लस या चिल्लक) पुलिन्द, हारोस, डोंब (डोम), पोक्काण (वोक्काण), गन्धाहारक (कन्धारक), बहलिक (बाल्हीक), अज्जल (अज्झल), रोम, पास (मास), प्रदुष (प्रकुष), मलय (मलयाली) और चंचूक (बन्धुक) तथा मूयली (चूलिक), कोंकणक, मेद (मेव), पल्हव, मालव, गग्गर (मग्गर), आभाषिक, णक्क (कणवीर), चीना, ल्हासिक (लासा के), खस, खासिक (खासी जातीय), नेडूर (नेदूर), मंढ (मोंढ), डोम्बिलक, लओस, बकुश, कैकय, अरबाक (अक्खाग), हूण, रोसक (रूसवासी या रोमक), मरुक, रुत (भ्रमरस्त) और विलात (चिलात) देशवासी इत्यादि। यह म्लेच्छों का (वर्णन हुआ।)

आर्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-ऋद्धिप्राप्त आर्य और अऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्त आर्य कौन-कौन-से हैं?

ऋद्धिप्राप्त आर्य छह प्रकार के हैं। वे इस प्रकार हैं-1. अर्हन्त (तीर्थंकर), 2. चक्रवर्ती, 3. बलदेव, 4. वासुदेव, 5. चारण और 6 विद्याधर। यह हुई ऋद्धिप्राप्त आर्यों की प्ररूपणा।

ऋद्धि-अप्राप्त आर्य किस प्रकार के हैं?

ऋद्धिअप्राप्त आर्य नौ प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) क्षेत्रार्य, (2) जात्यार्य, (3) कुलार्य, (4) कर्मार्य, (5) शिल्पार्य, (6) भाषार्य, (7) ज्ञानार्य, (8) दर्शनार्य और (9) चारित्रार्य।

रायगह मगह 1, चंपा अंगा 2, तह तामलित्ति बंगा य 3।
कंचेणपुरं कलिंगा 4, वाणारसि चेव कासी य 5।। (112)

[गाथाओं का अर्थ-] (1) मगध (देश में) राजगृह (नगर), (2) अंग (देश में) चम्पा (नगरी), तथा (3) बंग (देश में) ताम्रलिप्ती (तामलूक नगरी), (4) कलिंग (देश में) काञ्चनपुर और (5) काशी (देश में) वाराणसी (नगरी)।

साएय कोसला 6, गयपुरं च कुरु 7, सोरियं कुसट्टा य 8।

कंपिल्लं पंचाला 6, अहिछत्ता जंगला चेव 10।। (113)

(6) कौशल (देश में) साकेत (नगर), (7) कुरु (देश में) गजपुर (हस्तिनापुर), (8) कुशार्त्त (कुशावर्त्त देश में) सौरियपुर (सौरीपुर), (9) पंचाल (देश में) काम्पिल्य, (10) जांगल (देश में) अहिच्छत्रा (नगरी)।

बारवती य सुरट्ठा 11, मिहिल विदेहा य 12, वच्छ कोसंबी 13।

णंदिपुरं संडिल्ला 14, भद्दिलपुरमेव मलया य 15।। (114)

(11) सौराष्ट्र में द्वारावती (द्वारिका), (12) विदेह (जनपद में) मिथिला (नगरी), (13) वत्स (देश में) कौशाम्बी (नगरी), (14) शाण्डिल्य (देश में) नन्दिपुर, (15) मलय (देश में) भद्दिलपुर।

वइराड़ मच्छ 3 16, वरणा अच्छा 17, तह मत्तियावइ दसण्णा

सुत्तीमई य चेदी 19 वीइभयं सिंधुसोवीरा 20।। (115)

(16) मत्स्य (देश में) वैराट नगर, (17) वरण (देश में) अच्छा (पुरी), तथा (18) दशार्ण (देश में) मृत्तिकावती (नगरी), (19) चेदि (देश में) शुक्तिमती (शौक्तिकावती), (20) सिन्धु-सौवीर देश में वीतभय नगर।

महुरा य सूरसेणा 21, पावा भंगी य 22, मास पुरिवट्टा 23।

सावस्थी कुणाला 24, कोडीवरिसं च लाढा य 25।। (116)

(21) शूरसेन (देश में) मथुरा (नगरी), (22) भंग (नामक जनपद में) पावापुरी (अपापा नगरी), (23) पुरिवर्त्त (परावर्त्त) (नामक जनपद में) मासा पुरी (माषा नगरी), (24) कुणाल (देश में) श्रावस्ती (सेहटमेहट), (255) लाढ (देश में) कोटिवर्ष (नगर)।

सेयविया वि य णयरी केयइअध्दं च 25 आरियं भणितं।

एत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं राम-कण्हाणं।। (117)

और (253) केकयार्द्ध (जनपद में) श्वेताम्बिका (नगरी) ; (ये सब-

25। देश) आर्य (क्षेत्र) कहे गए हैं। इन (क्षेत्रों) में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, राम और कृष्ण (बलदेवों और वासुदेवों) का जन्म (उत्पत्ति) होता है।

यह हुआ उक्त क्षेत्रार्यों का वर्णन)

अंबट्ठा 1 य कलिंदा 2 विदेहा 3 वेदगा 4 इय।

हरिया 5 चुंचुणा 6 चेव, छ एया इब्भजातिओ।। (118)

जात्यार्य किस प्रकार के हैं ?

जात्यार्य छह प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-

[गाथार्थ]-(1) प्रम्बष्ठ, (2) कलिन्द, (3) वैदेह , (4) वेदग (वेदंग) आदि और (5) हरित एवं (5) चुंचुण; ये छह इभ्य (अर्चनीय माननीय) जातियां हैं।

कुलार्य छह प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) उग्र (2) भोग, (3) राजन्य, (4) इक्ष्वाकु, (5) ज्ञात और (6) कौरव्य। यह हुआ उक्त कुलार्यों का निरूपण।

कर्मार्य कौन-कौन से हैं?

कर्मार्य अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-दोषिक (दूष्यक), सौत्रिक, कार्पासिक, सूत्रवैतालिक, भाण्डवैतालिक, कौलालिक और नरवाहनिक। इसी प्रकार के अन्य जितने भी (आर्यकर्म वाले हों, उन्हें कर्मार्य समझना चाहिए)। यह हुई उक्त कर्मार्यों (की प्ररूपणा)।

शिल्पार्य कौन-कौन से हैं?

शिल्पा (भी) अनेक प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-तुन्नाक-(रफ्फूगर) दर्जी, तन्तुवाय-जुलाहे, पट्टकार (पटवा), दृतिकार (चमड़े की मशक बनाने वाले), वरण (या वरुट्ट=पिच्छिक पिछी बनाने वाले), छविक (चटाई आदि बनाने वाले), काष्ठपादुकाकार (लकड़ी की खडाऊँ बनाने वाले), मुंजपादुकार (मूज की खडाऊँ बनाने वाले), छत्रकार (छाते बनाने वाले) वज्र वाह्यकार (वाहन बनाने वाले), (अथवा बहकार=मोरपिच्छी बनाने वाले), पुच्छकार या खड़ाऊँ बनाने वाले), मुजपादुकाकार (मूज की खड़ाऊँ बनाने वाले), छत्रकार

(छाते बनाने वाले), पुस्तकार (पूछ के बालों से झाड़ू आदि बनाने वाले), या पुस्तककार-जिल्दसाज अथवा मिट्टी के पुतले बनाने वाले, लेप्यकार (लिपाई-पुताई करने वाले, अथवा मिट्टी के खिलौने आदि बनाने वाले, चित्रकार, शंखकार, दन्तकार (दांत बनाने वाले या दांती), भाण्डकार (विविध बर्तन बनाने वाले), जिज्झकार (जिह्वाकार=नकली जीभ बनाने वाले), सेल्लकार (शैल्यकार-शिला तथा पाषाण आदि घड़कर वस्तु बनाने वाले अथवा सैलकर भाला बनाने वाले) और कोडिकार (कोडियों की माला आदि बनाने वाले), इसी प्रकार के अन्य जितने भी आर्य शिल्पकार हैं, उन सबको शिल्पार्य=समझना चाहिए। यह हुई उन शिल्पार्यों की प्ररूपणा। भाषार्य वे हैं, जो अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं, और जहाँ भी ब्राह्मी लिपि प्रचलित है। (अर्थात्-जिनमें ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया जाता है।) ब्राह्मी लिपि में अठारह भाषार्य वे हैं, जो अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं, और जहाँ भी ब्राह्मी प्रकार का लेखविधान (लेखन प्रकार) बताया गया है जैसे कि-1. ब्राह्मी, 2. यवनानी, 3. दोषापुरिका, 4. खरौष्ट्री, 5. पुष्करशारिका, 6. भोगवतिका, 7. प्रहरादिका, 5. अन्ताक्षरिका, 6. अक्षरपुष्टिका, 10. वैनयिका, 11. निह्नविका, 12 अंकलिपि, 13. गणितलिपि, 14. गन्धर्वलिपि, 25. आदर्श लिपि, 16. माहेश्वरी, 17. तामिली-द्राविड़ी, 18. पौलिन्दी। यह हुआ उक्त भाषार्य का वर्णन।

ज्ञानार्य पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-1. आभिनिवोधिक ज्ञानार्य, 2. श्रुतज्ञानार्य, 3. अवधिज्ञानार्य, 4 मनः पर्ययज्ञानार्य और 5. केवलज्ञानार्य। यह है उक्त ज्ञानार्यों की प्ररूपणा।

वे दर्शनार्य कौन-कौन से हैं?

दर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-सरागदर्शनार्य और वीतरागदर्शनार्य।

सरागदर्शनार्य किस-किस प्रकार के होते हैं?

सरागदर्शनार्य दस प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-

निस्सग्गुवएसरुई 1-2 आणारूइ 3 सुत्त 4-बीयरुइ 5 मेव।
अहिगम 6-वित्थाररुई 7 किरिया 8-संखेव 9-धम्मरुई।। (119)

[गाथाओं का अर्थ-] 1. निसर्गरुचि, 2. उपदेशरुचि, 3. आज्ञारुचि, 4. सूत्ररुचि और बोजरुचि, 6. अभिगमरुचि, 7 विस्ताररुचि, 8. क्रियारुचि, 9. संक्षेपरुचि, और 10. धर्मरुचि।

भूअत्थेणाधिगया जीवाऽजीवं च पुण्ण-पावं च।
सहसम्मुइयाऽऽसव-संवरे य रोएइ उ णिसग्गो।। (120)

1. जो व्यक्ति (परोपदेश के बिना) स्वमति (जातिस्मरणादि) से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और संवर आदि तत्त्वों को भूतार्थ (तथ्य) रूप से जान कर उन पर रुचि-श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-(रुचि सराग-दर्शनार्य) है।

जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव णऽण्णहत्तिय णिस्सग्गरुइ त्ति णायव्वो।। (121)

जो व्यक्ति तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट भावों (पदार्थों) पर स्वयमेव (परोपदेश के बिना) चार प्रकार से (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) श्रद्धान करता है, तथा (ऐसा विश्वास करता है कि जीवादि तत्त्वों का स्वरूप जैसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है,) वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं, उसे निसर्गरुचि जानना चाहिए।

एते चेवउ भावे उवदिट्ठे जो परेण सद्दहइ।
छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो 2।। (122)

2. जो व्यक्ति छद्मस्थ या जिन (केवली) किसी दूसरे के द्वारा उपदिष्ट इन्हीं (जीवादि) पदार्थों पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेशरुचि जानना चाहिए।

जो हेउमयाणंतो प्राणाए रोयए पवयणं तु।
एमेव णऽण्णह ति य एसो अणारुई नाम 3।। (123)

3. जो (व्यक्ति किसी अर्थ के साधक) हेतु (युक्ति या तर्क) को नहीं जानता हुआ, केवल जिनाज्ञा से प्रवचन पर रुचि-श्रद्धा रखता है, तथा यह समझता है कि जिनोपदिष्ट तत्त्व ऐसे ही हैं, अन्यथा नहीं; वह आज्ञारुचि नामक दर्शनार्य है।

जो सुत्तमहिज्जंतो सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।

अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइ त्ति णायव्वो 4।। (124)

4. जो व्यक्ति शास्त्रों का अध्ययन करता हुआ श्रुत के द्वारा ही सम्यक्त्व का अवगाहन करता है, चाहे वह श्रुत अंग प्रविष्ट हो या अंगबाह्य, उसे सूत्ररुचि (दर्शनार्य) जानना चाहिए।

एगपएऽणेगाई पदाइं जो पसरइं उ सम्मत्तं।

उदए व्व तेल्लबिंदू सो बीयरुइ त्ति णायव्वों 5।। (125)

जैसे जल में पड़ा हुआ तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार जिसके लिए सूत्र (शास्त्र) का एक पद, अनेक पदों के रूप में फैल (परिणत हो) जाता है, उसे बीजरुचि (दर्शनार्य) समझना चाहिए।

सो होइ अहिंगमरुइं सुयणाणं जस्स अत्थओ दिट्ठे।

एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य 6।। (126)

जिसने ग्यारह अंगों, प्रकीर्ण कों (पइन्नों) को तथा बारहवें दृष्टिवाद नामक अंग तक का श्रुतज्ञान, अर्थरूप में उपलब्ध (दृष्ट एवं ज्ञात) कर लिया है, वह अभिगमरुचि होता है।

दव्वाण सव्वभावा सव्वप्रमाणहिं जस्स उवलद्धा।

सव्वाहिं णयविहीहिं वित्थाररुइ त्ति णायव्वो।। (127)

जिसने द्रव्यों के सर्वभावों को, समस्त प्रमाणों से एवं (नयविवक्षानों) से उपलब्ध कर (जान) लिया, उसे विस्ताररुचि समझना चाहिए।

दंसण-णाण-चरित्ते तव-विणए सव्वसमिइ-गुत्तीसु।

जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई णाम।। (128)

दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तप और विनय में, सर्व समितियों और गुप्तियों में जो क्रियाभावरुचि (आचरण-निष्ठा) वाला है, वह क्रियारुचि नामक (सरागदर्शनार्य) है।

अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइ त्ति होइ णायव्वो।

अविसारोओ पवयणे प्रणभिग्गहिओ य सेसेसु।। (129)

जिसने कुदर्शन (मिथ्यादर्शन) का ग्रहण नहीं किया है, तथा शेष अन्य दर्शनों का भी (परिज्ञान) नहीं किया है, और जो प्रणीत प्रवचन में विशारद (पटु) नहीं है, उसे संक्षेप रुचि (सराग दर्शनार्य) समझना चाहिए।

जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो 10।। (130)

जो व्यक्ति जिनोक्त प्रस्तिकायधर्म (धर्मास्तिकाय आदि पांचों अस्तिकायों के धर्म) पर तथा श्रुतधर्म एवं चारित्रधर्म पर श्रद्धा करता है, उसे धर्मरुचि (सरागदर्शनार्य) समझना चाहिए।

परमत्थसंचयो वा सुविट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
बावण्ण कुवंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा।। (131)

परमार्थ (जीवादि तात्त्विक पदार्थों) का संस्तव करना (परिचय प्राप्त करना, अर्थात्-उन्हें समझने के लिए बहुमानपूर्वक प्रयत्न करना या संस्तुति-प्रशंसा, आदर करना); जिन्होंने परमार्थं (जीवादि तत्त्वार्थ) को सम्यक् प्रकार से श्रद्धापूर्वक जान लिया है, उनकी सेवा-उपासना करना (या उनका सेवन-सत्संग करना); और जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, उन (निह्नवों) से तथा कुदृष्टियों से दूर रहना, यही सम्यक्त्व-श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) है। (जो इनका पालन करता है, वही सरागदर्शनार्य होता है।)

निस्संकिय 1 निक्कंखिय 2 निव्वितिगिञ्छा 3 अमूढदिट्ठी 4य।
उववूह 5 थिरीकरणे 6 वच्छल्ल 7 पभावणे 9 अट्ठ।। (132)

(सरागदर्शन के) ये आठ आचार हैं-(1) निःशंकित, (2) निष्कांक्षित, (3) निर्विचिकित्सा और (4) अमूढदृष्टि, (5) उपबृंहण, (6) स्थिरीकरण, (7) वात्सल्य और (8) प्रभावना । (ये आठ दर्शनाचार जिसमें हो, वह सरागदर्शनार्य होता है।)

वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-उपशान्तकषायवीतरागदर्शनार्य और क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

उपशान्तकषायवीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा-प्रथमसमय उपशान्तकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अप्रथमसमय-उपशान्तकषाय-वीतरागदर्शनार्य अथवा चरमसमय-उपशान्तकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अचरमसमय-उपशान्तकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्थ कैसे होते है?

क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-छद्मस्थक्षीण कषाय-वीतरागदर्शनार्य और केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

छद्मस्थ क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-प्रथमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अप्रथम समय-स्वयंबुद्धछद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य अथवा चरमसमय स्वयंबुद्धछद्मस्थ क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्थ और अचरमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-दर्शनार्य। यह हुआ उक्त स्वयंबुद्ध-छद्मस्थक्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्यों का वर्णन।

बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा-प्रथमसमय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अप्रथम समय-बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य; अथवा चरमसमय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अचरमसमय-बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

यह हुआ उक्त बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य का निरूपण और इसके साथ ही उक्त छद्मस्थ-क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्य का निरूपण पूर्ण हुआ। केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य किस प्रकार के कहे गए हैं?

केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-सयोगि केवलक्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अयोगि-केवलि क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

सयोगि-केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य किस प्रकार के होते हैं?

सयोगि-केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य सयोगि-दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-प्रथमसमय-सयोगिकेवलि क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अप्रथमसमय-सयोगिकवलि अथवा क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य चरमसमय-सयोगिकेवलि- क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अचरमसमय-सयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

अयोगि-केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य किस प्रकार के होते हैं?

अयोगि केवलि क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार-प्रथमसमय-अयोगिकेवलि- क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अप्रथमसमय-प्रयोगिकेवलिक्षीणकषाय- वीतरागदर्शनार्य, अथवा चरमसमय-प्रयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य और अचरमसमय-प्रयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य।

यह हुआ उक्त अयोगिकेवलि क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनाय (का वर्णन)। (साथ ही, पूर्वोक्त)? केवलि-क्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्यो का वर्णन (भी पूर्ण हुआ और इसके पूर्ण होने के साथ ही) क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनाओं का वर्णन भी समाप्त हुआ।

चारित्रार्य (मनुष्य) कैसे होते हैं?

चारित्रार्य (मनुष्य) दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा-सरागचारित्रार्य और वीतरागचारित्रार्य।

सरागचारित्रार्य मनुष्य कैसे होते हैं?

सरागचारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-सूक्ष्मसम्परायसराग चारित्रार्य और बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य।

सूक्ष्मसम्पराय-सरागचारित्रार्य किस प्रकार के होते हैं?

सूक्ष्मसम्पराय-सरागचारित्रार्य दो प्रकार के होते हैं-प्रथमसमय-सूक्ष्मससम्परायसरागचारित्रार्य और अप्रथम समय-सूक्ष्म सम्पराय-सरागचारित्रार्य; अथवा चरमसमय-सूक्ष्मसम्परायसरागचारित्रार्य और अचरम समय-सूक्ष्मसम्पराय-सरागचारित्रार्य। अथवा सूक्ष्मसम्पराय- सरागसे चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-संक्लिश्यमान (ग्यारहवें गुणस्थान से गिर कर दशम गुणस्थान में आये हुए) और विशुद्धयमान (नवम गुणस्थान से ऊपर चढ़ कर दशम गुणस्थान में पहुँचे हुए)।

बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य किस प्रकार के हैं?

बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-प्रथमसमय-बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य और प्रथमसमय-बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य अथवा चरमसमयबादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य और अचरमसमय-बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य तरह से) बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-प्रतिपाती और अप्रतिपाती। यह हुआा बादरसम्पराय-सराग-चारित्रार्य (का वर्णन) (और साथ ही) सराग-चारित्रार्य (का वर्णन भी पूर्ण हुआ)

वीतराग चारित्रार्य किस प्रकार हैं?

वीतराग चारित्रार्य दो प्रकार के हैं। वे इस प्रकार-उपशान्तकषाय-वीतरागचारित्रार्य और क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य।

उपशान्तकषाय-वीतराग चारित्रार्य किस प्रकार के होते हैं?

उपशान्तकषाय-वीतराग-चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं प्रथमसमय-उपशान्तकषाय-वीतराग चारित्रार्य और अप्रथमसमय-उपशान्तकषाय-वीतराग-चारित्रार्य; अथवा चरमसमय-उपशान्तकषाय-वीतराग-चारित्रार्य और अचरमसमय-उपशान्तकषाय-वीतरागचारित्रार्य। यह हुआ उपशान्तकषाय-वीतराग-चारित्रार्य का निरूपण।

क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य किस प्रकार के हैं?

क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतराग चारित्रार्य और केवल क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य।

छद्मस्थ-क्षोणकषाय वीतराग चारित्रार्य कौन हैं?

छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य दो प्रकार के हैं। यथा-स्वयंबुद्धछद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग चारित्रार्य और बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग चारित्रार्य।

वे स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग चारित्रार्य कौन हैं?

स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए वे इस प्रकार हैं-प्रथमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य और अप्रथमसमयस्वयंबुद्ध -छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग चारित्रार्य अथवा चरमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतराग चारित्रार्य और अचरमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य। यह हुआ, उक्त स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग चारित्रार्य का वर्णन।

बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य कौन हैं?

बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग चारित्रार्य दो प्रकार के हैं-प्रथमसमयबुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्थ और अप्रथम समय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतराग चारित्रार्य; अथवा चरमसमयबुद्धबोधित छद्मस्थ क्षीणकषाय वीतराग चारित्रार्य और अचरमसमय-बुद्धबोधित छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-चारित्रार्य।

केवलि क्षीणकषायवीतराग चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-सयोगिकेवलिक्षीणकषायवीतराग-चारित्रार्य और अयोगिकेवलि-क्षीणकषायवीतराग-चारित्रार्य।

सयोगिकेवलिक्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-प्रथमसमय-सयोगिकेवलिक्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्य और अप्रथमसमय-सयोगिकेवलिक्षीणकषाय वीतरागचारित्रार्य; अथवा चरमसमय-सयोगिकेवलि-क्षीणकषायवीतरागचारित्रार्य और अचरमसमयसयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्य। यह सयोगिकेवलिक्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्यों का निरूपण हुआ।

अयोगिकेवलि-क्षीणकषाय वीतरागचारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-प्रथमसमय-अयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्य और अप्रथमसमय-अयोगिकेवलि-क्षीणकषायवीतरागचारित्रार्य; अथवा चरमसमय-अयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्य और अचरमसमयअयोगि केवलिक्षीण कषाय-वीतरागचारित्रार्य। इस प्रकार अयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्यों का, साथ ही केवलिक्षीणकषाय-वीतरागचारित्रार्यों का वर्णन (भी पूर्ण हुआ), (और इसके पूर्ण होने के साथ ही) वीतराग-चारित्रार्यों की प्ररूपणा (भी पूर्ण हुई)।

अथवा-प्रकारान्तर से चारित्रार्य पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा-1. सामायिक चारित्रार्य, 2. छेदोपस्थापनिक चारित्रार्य, 3. परिहारविशुद्धिक चारित्रार्य, 4. सूक्ष्मसम्पराय-चारित्रार्य और 5. यथाख्यात चारित्रार्य।

सामायिक चारित्रार्य दो प्रकार के हैं-इत्वरिक सामायिक चारित्रार्य और यावत् कथिक सामायिक-चारित्रार्य। यह हुआ सामायिक चारित्रार्य का निरूपण।

छेदोपस्थापनिक चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-सातिचार-छेदोपस्थापनिक चारित्रार्य और निरतिचार-छेदोपस्थापनिक चारित्रार्य। यह हुआ छेदोपस्थापनिक चारित्रार्यों का वर्णन।

परिहारविशुद्धि चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-निर्विश्यमानक-परिहार-विशुद्धि-चारित्रार्य और निर्विष्टकायिक परिहारविशुद्धि चारित्रार्य। यह हुआ उक्त परिहारविशुद्धिचारित्रार्यों का वर्णन।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्रार्य दो प्रकार के हैं-संक्लिश्यमान-सूक्ष्मसम्पराय चारित्रार्य और विशुद्ध्यमान-सूक्ष्मसम्पराय चारित्रार्य।

यथाख्यात चारित्रार्य दो प्रकार के कहे गए हैं-छद्मस्थयथाख्यात चारित्रार्य और केवलियथाख्यात-चारित्रार्य। यह हुआ उक्त यथाख्यात चारित्रायों का (निरूपण।) इसके पूर्ण होने के साथ ही) चारित्रार्य का वर्णन (समाप्त हुआ।) इस प्रकार आर्यों का वर्णन, कर्मभूमिजों का वर्णन तथा उक्त गर्भजों के वर्णन के समाप्त होने के साथ ही मनुष्यों की प्ररूपणा पूर्ण हुई।

कर्मभूमक और अकर्मभूमक की व्याख्या-कर्मभूमक-प्रस्तुत में कृषि वाणिज्यादि जीवननिर्वाह के कार्यों को तथा मोक्षसम्बन्धी अनुष्ठान को कर्म कहा गया है। जिनकी कर्मप्रधान भूमि है, वे 'कर्मभूम' या 'कर्मभूमक' कहलाते हैं। अर्थात्- कर्मप्रधान भूमि में रहने और उत्पन्न होने वाले मनुष्य कर्मभूमक हैं। अकर्मभूमक-जिन मनुष्यों की भूमि पूर्वोक्त कर्मों से रहित हो, जो कल्पवृक्षों से ही अपना जीवन निर्वाह करते हों, वे अकर्मभूम या अकर्मभूमक कहलाते हैं।

'अन्तरद्वीपक' मनुष्यों की व्याख्या-अन्तर शब्द मध्यवाचक है। अन्तर में अर्थात्-लवणसमुद्र के मध्य में जो द्वीप हैं, वे अन्तरद्वीप कहलाते हैं। उन अन्तरद्वीपों में रहने वाले अन्तरद्वीपग या अन्तरद्वीपक कहलाते हैं। ये अन्तरद्वीप मनुष्य अट्ठाईस प्रकार के हैं, जिनका मूल पाठ में नामोल्लेख है।

अन्तरद्वीपग मनुष्य वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले, कंकपक्षी के समान परिणमन वाले, अनुकूल वायुवेग वाले एवं समचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं । उनके चरणों की रचना कच्छप के समान आकार वाली एवं सुन्दर होती है। उनकी दोनों जांघें चिकनी, अल्परोमयुक्त, कुरुविन्द के समान गोल होती हैं। उनके घुटने निगूढ़ और सम्यक्तयाबद्ध होते हैं, उनके उरूभाग हाथी की सूंड के समान गोलाई से युक्त होते हैं, उनका कटिप्रदेश सिंह के समान, मध्यभाग वज्र के समान, नाभिमण्डल दक्षिणावर्ती शंख के समान तथा वक्षःस्थल विशाल, पुष्ट एवं श्रीवत्स से लाञ्छित होता है। उनकी भुजाएँ नगर के फाटक की अर्गला के समान दीर्घ होती हैं। हाथ की कलाइयां (मणिबन्ध) सुबद्ध होती हैं। उनके करतल और पदतल रक्तकमल के समान लाल होते हैं। उनकी गर्दन चार अंगुल की, सम और वृत्ताकार शंख-सी होती है। उनका मुखमण्डल शरद्ऋतु के चन्द्रमा के समान सौम्य होता है। उनके छत्राकार मस्तक पर अस्फुटित स्निग्ध, कान्तिमान एवं चिकने केश होते हैं।

वे कमण्डलु, कलश, यूप, स्तूप, वापी, ध्वज, पताका, सौवस्तिक, यव, मत्स्य, मगर, कच्छप, रथ, श्रेष्ठस्थाल, अंशुक, अष्टापद, अंकुश, सुप्रतिष्ठक, मयूर,

श्रीदाम, अभिषेक, तोरण, पृथ्वी, समुद्र, दर्पण, पर्वत, हाथी, वृषभ, सिंह, छत्र और चामर; इन 32 उत्तम लक्षणों से युक्त होते हैं।

वहाँ की स्त्रियां भी सुनिर्मित सर्वांगसुन्दर तथा समस्त महिलागुणों से युक्त होती हैं। उनके चरण कच्छप के आकार के, तथा परस्पर सटी हुई अंगुलियों वाले एवं कमलदल के समान मनोहर होते हैं। उनके जंघायुगल रोमरहित एवं प्रशस्त लक्षणों से युक्त होते हैं, तथा जानुप्रदेश निगूढ एवं पुष्ट होते हैं, उनके उरू केले के स्तम्भसदृश संहत, सुकुमार एवं पुष्ट होते हैं। उनके नितम्ब विशाल, मांसल एवं शरीर के आयाम के अनुरूप होते हैं। उनकी रोमराजि मुलायम, कान्तिमय एवं सुकोमल होती है। उनका नाभिमण्डल दक्षिणावर्त की तरंगों के समान, उदर प्रशस्त लक्षणयुक्त एवं स्तन स्वर्णकलशसम संहत, उन्नत, पुष्ट एवं गोल होते हैं। पार्श्वभाग भी पुष्प के संगत होता है। उनकी बाहें लता के समान सुकुमार होती हैं। उनके अधरोष्ठ अनार के समान लाल, तालु एवं जिह्वा रक्तकमल के समान तथा आंखें विकसित नीलकमल के समान बड़ी एवं कमनीय होती हैं। उनकी भौहें चढ़ाए हुए धनुषबाण के आकार की सुसंगत होती हैं। ललाट प्रमाणोपेत होता है। मस्तक के केश सुस्निग्ध एवं सुन्दर होते हैं। करतल एवं पदतल स्वस्तिक, शंख, चक्र आदि की प्रकृति की रेखाओं से सुशोभित होते हैं। गर्दन ऊँची, मांसल एवं शंख के समान होती है। वे ऊँचाई में पुरुषों से कुछ कम होती हैं। स्वभाव से ही वे उदार, श्रृंगार और सुन्दर वेष वाली होती हैं। प्रकृति से हास्य, वचन, विलास एवं विषय में परम नैपुण्य से युक्त होती हैं।

वहाँ के पुरुष-स्त्री सभी स्वभाव से सुगन्धित वदन वाले होते हैं। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त मन्द होते हैं। वे सन्तोषी, उत्सुकता रहित, मृदुता-ऋजुतासम्पन्न होते हैं। मनोहर मणि, स्वर्ण और मोती आदि ममत्व के कारणों के विद्यमान होते हुए भी वे ममत्व के अभिनिवेश से तथा वैरानुबन्ध से रहित होते हैं। हाथी, घोड़े, ऊंट, गाय, भैंस आदि के होते हुए भी वे उनके परिभोग से पराङ मुख रह कर पैदल चलते हैं।

वे ज्वरादि रोग, भूत, प्रेत, यक्ष आदि की ग्रस्तता, महामारी आदि विपत्तियों के उपद्रव से भी रहित होते हैं। उनमें परस्पर स्वामि-सेवक का व्यवहार नहीं होता, अतएव सभी अहमिन्द्र जैसे होते हैं। उनकी पीठ में 64 पसलियां होती हैं। उनका आहार एक चतुर्थभक्त (उपवास) के बाद होता है और आहार भी शालि आदि धान्य से निष्पन्न नहीं, किन्तु पृथ्वी की मिट्टी एवं कल्पवृक्षों पुष्प, फल का होता है। क्योंकि वहाँ चावल, गेहूं, मूंग, उड़द आदि अन्न होते हुए भी वे मनुष्यों के उपभोग में नहीं आते, वहाँ की पृथ्वी ही शक्कर से अनन्तगुणी मधुर है, तथा कल्पवृक्षों के पुष्प-फलों का स्वाद चक्रवर्ती के भोजन से भी अनेक गुणा अच्छा है। वे इस प्रकार का स्वादिष्ट आहार कर के प्रासाद के आकार के जो गृहाकार कल्पवृक्ष होते हैं, उनमें सुख से रहते हैं।

उस क्षेत्र में डांस, मच्छर, जू, खटमल, मक्खी आदि शरीरोपद्रवकारी जन्तु पैदा नहीं होते। जो भी सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि वहाँ होते हैं, वे मनुष्यों को कोई पीड़ा नहीं पहुँचाते। उनमें परस्पर हिंस्य-हिंसकभाव का व्यवहार नहीं है। क्षेत्र के प्रभाव से वहाँ के जीव रौद्र (भयंकर) स्वभाव से रहित होते हैं। वहाँ के मनुष्यों (स्त्री-पुरुष) का जोड़ा अपने अवसान के समय एक जोड़े (स्त्री-पुरुष) को जन्म देता है और 79 दिन तक उसका पालन-पोषण करता है। उनके शरीर की ऊँचाई 800 धनुष की और उनकी आयु पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी होती है। वे मन्दकषायी, मन्दराग-मोहानुबन्ध के कारण मर कर देवलोक में जाते हैं। उनका मरण भी जंभाई, खांसी या छींक आदि से होता है, किन्तु किसी शरीरपीड़ापूर्वक नहीं।

अन्तरद्वीपगों के अन्तरद्वीप कहाँ और कैसी स्थिति में?-आगमानुसार छप्पन अन्तरद्वीपगों के अन्तरद्वीप हिमवान् और शिखरी इन दो पर्वतों की लवणसमुद्र में निकली दाढ़ाओं पर स्थित हैं। हिमवान् पर्वत के अट्ठाईस अन्तरद्वीपों का वर्णन - जम्बूद्वीप में भरत और हैमवत क्षेत्रों की सीमा का विभाजन करने वाला हिमवान् नामक पर्वत है। वह भूमि में 25 योजन गहरा और सौ योजन ऊँचा तथा भरत

क्षेत्र से दुगुना विस्तृत हेममय चीनांशुक के-से वर्ण वाला है। उसके दोनों पार्श्व नाना वर्णों से विशिष्ट कान्तिमय मणिसमूह से परिमण्डित हैं। उसका विस्तार ऊपर-नीचे सर्वत्र समान है। वह गगनमण्डल को स्पर्श करने वाले रत्नमय ग्यारह कूटों से सुशोभित है, उसका तल वज्रमय है, तटभाग विविध मणियों और सोने से सुशोभित है। वह दस योजन में अवगाहित-जगह घेरे हुए है। वह पूर्व-पश्चिम में हजार योजन लम्बा और दक्षिण-उत्तर में पांच योजन विस्तीर्ण है। उसके मध्यभाग में पद्मह्रद है तथा चारों ओर कल्पवृक्षों की पंक्ति से अतीव कमनीय है। वह पूर्व और पश्चिम के छोरों (तों) से लवणसमुद्र का स्पर्श करता है। लवणसमुद्र के जल के स्पर्श से लेकर पूर्व-पश्चिम दिशा में दो गजदन्ताकार दाढ़ें निकली हैं। उनमें से ईशानकोण में जो दाढ़ा निकली है, उस प्रदेश में हिमवान् पर्वत से तीन सौ योजन की दूरी पर लवणसमुद्र में 300 योजन लम्बा-चौड़ा तथा कुछ कम 949 योजन की परिधिवाला एकोरुक नामक द्वीप है। जो कि 500 धनुष विस्तृत, दो गाऊ ऊँची पद्मवरवेदिका से चारों ओर से मण्डित है। उसी हिमवान् पर्वत के पर्यन्तभाग से दक्षिण-पूर्वकोण में तीन सौ योजन दूर स्थित लवणसमुद्र का अवगाहन करते ही दूसरी दाढ़ा अती है, जिस पर एकोरुक द्वीप जितना ही लम्बा-चौड़ा 'प्राभासिक' नामक द्वीप है तथा उसी हिमवान् पर्वत के पश्चिम दिशा के छोर (पर्यन्त) से लेकर दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैऋत्यकोण) में तीन-सौ योजन लवणसमुद्र का अवगाहन करने के बाद एक दाढ़ आती है, जिस पर उसी प्रमाण का वैषाणिक नामक द्वीप है; एवं उसी हिमवान् पर्वत के पश्चिम दिशा के छोर से लेकर पश्चिमोत्तर दिशा (वायव्यकोण) में तीन सौ योजन दूर लवणसमुद्र में एक दंष्ट्रा (दाढ़) आती है, जिस पर पूर्वोक्त प्रमाण वाला नांगोलिक द्वीप प्राता है। इस प्रकार ये चारों द्वीप हिमवान् पर्वत से चारों विदिशाओं में हैं और समान प्रमाण वाले हैं।

तदनन्तर इन्हीं एकोरुक आदि चारों द्वीपों के आगे यथाक्रम से पूर्वोत्तर आदि प्रत्येक विदिशा में चार-चार सौ योजन आगे चलने के बाद चार-चार सौ योजन

लम्बे-चौड़े, कुछ कम 1265 योजन की परिधि वाले, पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका एवं वनखण्ड से सुशोभित परिसर वाले तथा जम्बूद्वीप की वेदिका से 400 योजन प्रमाण अन्तर वाले हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण और शष्कुलीकर्ण नाम के चार द्वीप हैं। एकोरुक द्वीप के आगे हयकर्ण है, प्राभासिक के आगे गजकर्ण, वैषाणिक के आगे गोकर्ण और नांगोलिक के आगे शष्कुलीकर्ण द्वीप है।

तत्पश्चात् इन हयकर्ण आदि चार द्वीपों के आगे पांच-पांच सौ योजन की दूरी पर फिर चार द्वीप हैं-जो पांच-पांच सौ योजन लम्बे-चौड़े हैं और पहले की तरह ही चारों विदिशाओं में स्थित हैं । इनकी परिधि 1581 योजन की है। इनके बाह्यप्रदेश भी पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका तथा वनखण्ड से सुशोभित हैं तथा जम्बूद्वीप की वेदिका से 500 योजन प्रमाण अन्तर वाले हैं। इनके नाम हैं-आदर्शमुख, मेण्ढमुख, अयोमुख और गोमुख। इनमें से हयकर्ण के आगे आदर्शमुख, गजकर्ण के आगे मेण्ढमुख, गोकर्ण के आगे अयोमुख और शष्कुलीकर्ण के आगे गोमुख द्वीप है।

इन आदर्शमुख आदि चारों द्वीपों के आगे छह-छह सौ योजन की दूरी पर पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में फिर चार द्वीप हैं-अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख। ये चारों द्वीप 600 योजन लम्बे-चौड़े और 1897 योजन की परिधि वाले, पूर्वोक्त पद्मवनवेदिका तथा वनखण्ड से मण्डित बाह्यप्रदेश वाले एवं जम्बूद्वीप की वेदिका से 600 योजन अन्तर पर हैं।

इन अश्वमुखादि चारों द्वीपों के आगे क्रमशः पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में 700-700 योजन की दूरी पर 700 योजन लम्बे-चौड़े तथा 2213 योजन की परिधि वाले, पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका तथा वनखण्ड से घिरे हुए एवं जम्बूद्वीप की वेदिका से 700 योजन के अन्तर पर क्रमशः अश्वकर्ण, हरिकर्ण, अकर्ण और कर्णप्रावरण नाम के चार द्वीप हैं।

फिर इन्हीं अश्वकर्ण आदि चार द्वीपों के आगे, यथाक्रम से पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में 800-800 योजन दूर जाने पर आठ सौ योजन लम्बे-चौड़े, 2529 योजन की परिधि वाले, पूर्वोक्त प्रमाण वाली पद्मवरवेदिका-वनखण्ड से

मण्डित परिसर वाले, एवं जम्बूद्वीप की वेदिका से 800 योजन के अन्त पर उल्कामुख, मेघमुख, विद्यन्मुख और विद्युदन्त नाम के चार द्वीप हैं।

तदनन्तर इन्हीं उल्कामुख आदि चारों द्वीपों के आगे क्रमशः पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में 900-900 योजन की दूरी पर, नौ सौ योजन लम्बे-चौड़े तथा 2845 योजन की परिधि वाले, पूर्वोक्त प्रमाण वाली पद्मवरवेदिका एवं वनखण्ड से सुशोभित परिसर वाले, जम्बूद्वीप की वेदिका से 600 योजन के अन्तर पर चार द्वीप और हैं। जिनके नाम क्रमशः ये हैं-घनदन्त, लष्टदन्त, गूढ़दन्त और शुद्धदन्त। इस हिमवान् पर्वत की दाढों पर चारों विदिशाओं में स्थित ये सब द्वीप (7×4=28) अट्ठाईस हैं ।

शिखरी पर्वत के 28 अन्तरद्वीपों का वर्णन-इसी प्रकार हिमवान् पर्वत के समान वर्ण और प्रमाण वाले तथा पद्मह्रद के समान लम्बे-चौड़े और गहरे पुण्डरीकह्रद से सुशोभित शिखरी पर्वत पर लवणसमुद्र के जलस्पर्श से लेकर पूर्वोक्त दूरी पर यथोक्त प्रमाण वाली चारों विदिशाओं में स्थित, एकोरुक आदि नाम के अट्ठाईस द्वीप हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई परिधि, नाम आदि सब पूर्ववत् हैं। अतएव दोनों ओर के मिल कर कुल अन्तरद्वीप छप्पन हैं। इन द्वीपों में रहने वाले मनुष्य भी इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। जैसे पंजाब में रहने वाले को पंजाबी कहा जाता है।

अकर्मभूमकों का वर्णन-अकर्मभूमक मनुष्य तीस प्रकार के हैं। अढाई द्वीप रूप मनुष्यक्षेत्र में पांच हैमवत, पांच हैरण्यवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु अकर्मभूमि के इन तीस क्षेत्रों में 30 ही प्रकार के मनुष्य रहते हैं। इन्हीं के नाम पर से इनमें रहने वाले मनुष्यों के प्रकार गिनाये गए हैं। इनमें से 5 हैमवत क्षेत्र और 5 हैरण्यवत क्षेत्र में मनुष्य एक गव्यूति (गाऊ) ऊँचे, एक पल्योपम की आयु और वज्रऋषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं। इनकी पीठ की पसलियाँ 64 होती हैं, ये एक दिन के अन्तर से भोजन करते हैं और 79 दिन तक अपनी संतान का पालन-

पोषण करते हैं। पांच हरिवर्ष और पांच रम्यकवर्ष क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु दो पल्योपम की, शरीर की ऊँचाई दो गव्यूति की होती है।

ये वज्रऋषभनाराचसंहनन और समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं। ये दो दिन के अन्तर से आहार करते हैं। इनको पीठ की पसलियां 128 होती हैं और ये अपनी संतान का पालन 64 दिन तक करते हैं। पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम की एवं शरीर की ऊँचाई तीन गाऊ की होती है। ये भी वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं। इनकी पीठ की पसलियां 256 होती हैं। ये तीन दिनों के अनन्तर आहार करते हैं और 46 दिनों तक अपनी संतति का पालन करते हैं।

इन सभी क्षेत्रों में अन्तरद्वीपों की तरह मनुष्यों के भोगोपभोग के साधनों की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है। इतना अन्तर अवश्य है कि पांच हैमवत और पांच हैरण्यवत क्षेत्रों में मनुष्यों के उत्थान, बल-वीर्य आदि तथा वहाँ के कल्पवृक्षों के फलों का स्वाद और वहाँ की भूमि का माधुर्य अन्तरद्वीप की अपेक्षा पर्यायों की दृष्टि से अनन्तगुणा अधिक है। ये ही सब पदार्थ पांच हरिवर्ष और पांच रम्यकवर्ष क्षेत्रों में उनसे भी अनन्तगुणे अधिक तथा पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु में इनसे भी अनन्तगुणे अधिक होते हैं। यह संक्षेप में अकर्मभूमकों का निरूपण है।

आर्य और म्लेच्छ मनुष्य-पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह, इन 15 क्षेत्रों में आर्य और म्लेच्छ दोनों प्रकार के कर्मभूमक मनुष्य रहते हैं। आर्य का अर्थ है-हेय धर्मों (अधर्मों या पापों) से जो दूर हैं, और उपादेय धर्मों (अहिंसा, सत्य आदि धर्मों) के निकट हैं या इन्हें प्राप्त किये हुये हैं। म्लेच्छ वे हैं-जिनके वचन (भाषा) और आचार अव्यक्त-अस्पष्ट हों। दूसरे शब्दों में कहें तो जिनका समस्त व्यवहार शिष्टजनसम्मत न हो, उन्हें म्लेच्छ समझना चाहिए।

म्लेच्छ अनेक प्रकार के हैं, जिनका मूलपाठ में उल्लेख है। इनमें से अधिकांश म्लेच्छों की जाति के नाम तो अमुक-अमुक देश में निवास करने से पड़ गए हैं, जैसे-शक देश के निवासी शक, यवन देश के निवासी यवन इत्यादि।

आर्यों के प्रकार और उनके लक्षण-क्षेत्रार्य-मूलपाठ में परिगणित साढे पच्चीस जनपदात्मक आर्य क्षेत्र में उत्पन्न होने एवं रहने वाले क्षेत्रार्य कहलाते हैं। ये क्षेत्र आर्य इसलिए कहे गए हैं कि इनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषों का जन्म होता है। इनसे भिन्न क्षेत्र अनार्य कहलाते हैं। **जात्यार्य**-मूलपाठ में वर्णित अम्बष्ठ आदि 6 जातियां इभ्य-अभ्यर्चनीय एवं प्रसिद्ध हैं। इन जातियों से सम्बद्ध जन जात्यार्य कहलाते हैं। कुलार्य-शास्त्र-परिगणित उग्र आदि 6 कुलों में से किसी कुल में जन्म लेने वाले कुलार्य-कुल की अपेक्षा से आर्य कहलाते हैं। कमार्यअहिंसा आदि एवं शिष्टसम्मत तथा आजीविकार्थ किये जाने वाले कर्म आर्यकर्म कहलाते हैं। शास्त्रकार ने दोषिक, सौत्रिक आदि कुछ आर्यकर्म से सम्बन्धित मनुष्यों के प्रकार गिनाये हैं। विशेषता स्वयमेव समझ लेना चाहिए। **शिल्पार्य**-जो शिल्प अहिंसा आदि धर्मांगों से तथा शिष्टजनों के आचार के अनुकूल हो, वह आर्य शिल्प कहलाता है। ऐसे आर्य शिल्प से अपना जीवननिर्वाह करने वाले शिल्पार्यों में परिगणित किये गए हैं। कुछ नाम तो शास्त्रकार ने गिनाये ही हैं। शेष स्वयं चिन्तन द्वारा समझ लेना चाहिए। **भाषार्य**-अर्धमागधी उस समय आम जनता की, शिष्टजनों की भाषा थी, आज उसी का प्रचलित रूप हिन्दी एवं विविध प्रान्तीय भाषाएँ हैं। अतः वर्तमान युग में भाषार्य उन्हें कहा जा सकता है, जिनकी भाषा उच्च संस्कृति और सभ्यता से सम्बन्धित हो, जिनकी भाषा तुच्छ और कर्कश न हो, किन्तु आदरसूचक कोमल, कान्त पदावली से युक्त हो। शेष ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य का स्वरूप स्पष्ट ही है। जो सम्यग्ज्ञान से युक्त हों, वे ज्ञानार्य, जो सम्यग्दर्शन से युक्त हों, वे दर्शनार्य और जो सम्यक् चारित्र से युक्त हों, वे चारित्रार्य कहलाते हैं। जो मिथ्याज्ञान से, मिथ्यात्व एवं मिथ्यादर्शन से एवं कुचारित्र से युक्त हों, उन्हें क्रमशः ज्ञानार्य, दर्शनार्य एवं चारित्रार्य नहीं कहा जा सकता। शास्त्रकार ने पांच प्रकार के सम्यग्ज्ञान से युक्त जनों को ज्ञानार्य, सराग और वीतराग रूप सम्यग्दर्शन से युक्त जनों को दर्शनार्य तथा सराग और वीतराग रूप सम्यक्चारित्र से युक्त जनों को चारित्रार्य बतलाया है। इन सबके अवान्तर भेद-

प्रभेद विभिन्न अपेक्षाओं से बताए हैं। इन सब अवान्तर भेदों वाले भी ज्ञानार्य, दर्शनार्य एवं चारित्रार्य में ही परिगणित होते हैं।

सरागदर्शनार्य और वीतरागदर्शनार्य-जो दर्शन राग अर्थात् कषाय से युक्त होता है, वह सरागदर्शन तथा जो दर्शन राग अर्थात्-कषाय से रहित हो वह वीतरागदर्शन कहलाता है। सरागदर्शन की अपेक्षा से आर्य सरागदर्शनार्य और वीतरागदर्शन की अपेक्षा से आर्य वीतरागदर्शनार्य कहलाते हैं। सरागदर्शन के निसर्गरुचि आदि 10 प्रकार हैं। परमार्थसंस्तव आदि तीन लक्षण हैं और निःशंकित आदि 8 आचार हैं। वीतरागदर्शन दो प्रकार का है-उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय 7 इन दोनों के कारण जो आर्य हैं, उन्हें क्रमशः उपशान्तकषायदर्शनार्य और क्षीणकषायदर्शनार्य कहा जाता है। उपशान्तकषाय-वीतरागदर्शनार्य वे हैं-जिनके समस्त कषायों का उपशमन हो चुका है, अतएव जिनमें वीतरागदशा प्रकट हो चुकी है, ऐसे ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि। क्षीणकषायवीतरागदर्शनार्य वे हैं जिनके समस्त कषाय समूल क्षीण हो चुके हैं, अतएव जिनमें वीतरागदशा प्रकट हो चुकी है, वे बारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि। जिन्हें इस अवस्था में पहुँचे प्रथम समय ही हो, वे प्रथमसमयवर्ती, और जिन्हें एक समय से अधिक हो गया हो, वे अप्रथमसमयवर्ती कहलाते हैं। इसी प्रकार चरमसमयवर्ती और अचरमसमयवर्ती ये दो भेद समयभेद के कारण हैं।

क्षीणकषाय-वीतरागदर्शनार्य के भी अवस्थाभेद से दो प्रकार हैं-जो बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग हैं, वे छद्मस्थ हैं और जो तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवाले हैं, वे केवली हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थक्षीणकषायवीतराग भी दो प्रकार के हैं-स्वयंबुद्ध और बुद्धबोधित। फिर इन दोनों में से प्रत्येक के अवस्थाभेद से दो-दो भेद पूर्ववत् होते हैं-प्रथमसमयवर्ती और अप्रथमसमयवर्ती, स्वामी के भेद के कारण दर्शन में भी भेद होता है और तथा दर्शनभेद से उनके व्यक्तित्व (आर्यत्व) में भी भेद माना गया है। केवलिक्षीणकषायवीतरागदर्शनार्य के सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो भेद होते हैं। जो केवलज्ञान तो प्राप्त कर चुके, लेकिन अभी

तक योगों से युक्त हैं, वे सयोगिकेवली, और जो केवली अयोग दशा प्राप्त कर चुके, वे अयोग केवली कहलाते हैं। वे सिर्फ चौदहवें गुणस्थान वाले होते हैं। इन दोनों के भी समयभेद से प्रथमसमयवर्ती और अप्रथमसमयवर्ती अथवा चरमसमयवर्ती और अचरमसमयवर्ती, यों प्रत्येक के चार-चार भेद हो जाते हैं। इनके भेद से दर्शन में भी भेद माना गया है और दर्शनभेद के कारण दर्शननिमित्तक आर्यत्व में भी भेद होता है।

सरागचारित्रार्य और वीतरागचारित्रार्य-रागसहित चारित्र अथवा रागसहितपुरुष के चारित्र को सरागचारित्र और जिस चारित्र में राग का सद्भाव न हो या वीतरागपुरुष का चारित्र हो, उसे वीतरागचारित्र कहते हैं। सरागचारित्र के दो भेद हैं-सूक्ष्म सम्पराय-सरागचारित्र (जिसमें सूक्ष्म कषाय की विद्यमानता होती है) तथा बादरसम्पराय-सरागचारित्र (जिसमें स्थूल कषाय हो, वह)। इनसे जो आर्य हो, वह तथारूप आर्य होता है। सूक्ष्मसम्पराय-चारित्रार्य के अवस्था भेद से चार भेद बताए हैं-प्रथम समयवर्ती व अप्रथमसमयवर्ती, तथा चरमसमयवर्ती और अचरमसमयवर्ती इनकी व्याख्या पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। सूक्ष्मसम्पराय-सरागचारित्रार्य के पुनः दो भेद बताए गए हैं-संक्लिश्यमान (ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर दसवें गुणस्थान में आया हुआ) और विशुद्धयमान (नौवें गुणस्थान से ऊपर चढ़कर दसवें गुणस्थान में आया हुआ)। बादरसम्पराय-चारित्रार्य के भी पूर्ववत् प्रथमसमयवर्ती आदि चार भेद बताए गए हैं। इनके भी प्रकारान्तर से दो भेद किये गए हैं-प्रतिपाती और अप्रतिपाती। उपशमश्रेणी वाले प्रतिपाती (गिरने वाले) और क्षपकश्रेणीप्राप्त अप्रतिपाती (नहीं गिरने वाले) होते हैं। वीतराग के दो प्रकार हैं-उपशान्तकषायवीतराग और क्षीणकषायवीतराग। उपशान्तकषायवीतराग (एकादशम-गुणस्थान वर्ती) की व्याख्या तथा इसके चार भेदों की व्याख्या पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।

क्षीणकषायवीतराग के भी दो भेद होते हैं-छद्मस्थक्षीणकषायवीतराग और केवलक्षीण-कषायवीतराग। इनमें से छद्मस्थक्षीणकषायवीतराग के दो प्रकार हैं-

स्वयंबुद्ध और बुद्धबोधित। इन दोनों के प्रथमसमयवर्ती आदि पूर्ववत् चार-चार भेद होते हैं। इन सबकी व्याख्या भी पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। इसी प्रकार केवलिक्षीणकषायवीतराग के भी पूर्ववत् सयोगिकेवली और अयोगिकेवली तथा प्रथमसमयवर्ती आदि चार भेद होते हैं। इनकी व्याख्या भी पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। इन सबकी अपेक्षा से जो आर्य होते हैं, वे तथारूप चारित्रार्य कहलाते हैं।'

सामायिक चारित्रार्य का स्वरूप-सम का अर्थ है-राग और द्वेष से रहित। समरूप आय को समाय कहते है। अथवा सम का अर्थ है-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इनके आय अर्थात् लाभ अथवा प्राप्ति को समाय कहते हैं। अथवा 'समाय' शब्द साधु की समस्त क्रियाओं का उपलक्षण है; क्योंकि साधु की समस्त क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं। पूर्वोक्त 'समाय' से जो निष्पन्न हो, सम्पन्न हो अथवा 'समाय' में होने वाला सामायिक हैं। अथवा समायही सामायिक है; जिसका तात्पर्य है-सर्व सावद्य कार्यों से विरति। महाव्रती साधु-साध्वियों के चारित्र को सामायिकचारित्र कहा गया है; क्योंकि महाव्रती जीवन अंगीकार करते समय समस्तसावद्य कार्यों अथवा योगों से निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र ग्रहण किया जाता है। यद्यपि सामायिकचारित्र में साधु के समस्त चारित्रों का अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि छेदोपस्थापना आदि विशिष्ट चारित्रों से सामायिकचारित्र में उत्तरोत्तर विशुद्धि और विशेषता आने के कारण उन चारित्रों को पृथक् ग्रहण किया गया है। सामायिकचारित्र के दो भेद हैं-इत्वरिक और यावत्कथिक। इत्वरिक का अर्थ है-अल्पकालिक और यावत्कथिक का अर्थ है-आजीवन (जीवनभर का, यावज्जीव का)। इत्वरिकसामायिक चारित्र, भरत और ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में, महाव्रतों का आरोपण नहीं किया गया हो, तब तक शैक्ष (नवदीक्षित) को दिया जाता है। अर्थात्-दीक्षाग्रहणकाल से महाव्रतारोपण से पूर्व तक का शैक्ष (नवदीक्षित) का चारित्र इत्वरिकसामायिक चारित्र होता है भरत और ऐरवत क्षेत्र के मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों तथा महाविदेहक्षेत्रीय तीर्थंकरों के तीथं में साधुग्रों के यावत्कथिकसामायिक चारित्र होता है। क्योंकि उनके उपस्थापना नहीं

होती, अर्थात् उन्हें महाव्रतारोपण के लिए दूसरी बार दीक्षा नहीं दी जाती। इस प्रकार के सामायिकचारित्र की आराधना के कारण से जो आर्य हैं वे सामायिकचारित्रार्य कहलाते हैं।

छेदोपस्थापनिक चारित्रार्य-जिस चारित्र में पूर्वपर्याय का छेद और महाव्रतों में उपस्थापन किया जाता है वह छेदोपस्थापनचारित्र है। वह दो प्रकार का है-सातिचार प्रौर निरतिचार। निरतिचार छेदोपस्थापनचारित्र वह है-जो इत्वरिक सामायिक वाले शैक्ष (नवदीक्षित) को दिया जाता है अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने पर अंगीकार किया जाता है। जैसे पार्श्वनाथ के तीर्थ से वर्द्ध मान के तीर्थ में आने वाले श्रमण को पंचमहाव्रतरूप चारित्र स्वीकार करने पर दिया जाने वाला छेदोपस्थापनचारित्र निरतिचार है। सातिचार छेदोपस्थापनचारित्र वह है जो मूलगुणों (महाव्रतों) में से किसी का विघात करने वाले साधु को पुनः महाव्रतोच्चारण के रूप में दिया जाता है। यह दोनों ही प्रकार का छेदोपस्थापनचारित्र स्थितकल्प में-अर्थात्-प्रथम और चरम तीर्थकरों के तीर्थ में होता है, मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं। छेदोपस्थापनचारित्र की आराधना करने के कारण साधक को छेदोपस्थापनचारित्रार्य कहा जाता है।

परिहारविशुद्धिचारित्रार्य का स्वरूप-परिहार एक विशिष्ट तप है, जिससे दोषों का परिहार किया जाता है। अतः जिस चारित्र में उक्त परिहार तप से विशुद्धि प्राप्त होती है, उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। उसके दो भेद हैं-निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक। जिस चारित्र में साधक प्रविष्ट होकर उस तपोविधि के अनुसार तपश्चरण कर रहे हों, उसे निर्विशमानकचारित्र कहते हैं और जिस चारित्र में साधक तपोविधि के अनुसार तप का आराधन कर चुके हों, उस चारित्र का नाम निर्विष्टकायिकचारित्र है इस प्रकार के चारित्र अंगीकार करने वाले साधकों को भी क्रमशः निर्विशमान और निर्विष्टकायिक कहा जाता है। नौ साधु मिल कर इस परिहारतप की आराधना करते हैं। उनमें से चार साधु निर्विशमानक होते हैं, जो इस तप को करते हैं और चार साघु उनके अनुचारी अर्थात्-वैयावृत्य करने वाले होते हैं

तथा एक साधु कल्पस्थित वाचनाचार्य होता है। यद्यपि सभी साधु श्रुतातिशयसम्पन्न होते हैं, तथापि यह एक प्रकार का कल्प होने के कारण उनमें एक कल्पस्थित आचार्य स्थापित कर लिया जाता है। निर्विशमान साधुओं का परिहारतप इस प्रकार होता है-ज्ञानीजनों ने पारिहारिकों का शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तप इस प्रकार बताया है-ग्रीष्मकाल में जघन्य चतुर्थभक्त, मध्यम षष्ठभक्त और उत्कृष्ट अष्टमभक्त होता है, शिशिरकाल में जघन्य षष्ठभक्त (बेला), मध्यम अष्टमभक्त (तेला) और उत्कृष्ट दशमभक्त (चौला) तप होता है।

वर्षाकाल में जघन्य अष्टमभक्त, मध्यम दशमभक्त और उत्कृष्ट द्वादशभक्त (पंचौला) तप। पारणे में आयम्बिल किया जाता है। भिक्षा में पांच (वस्तुओं) का ग्रहण और दो का अभिग्रह होता है। कल्पस्थित भी प्रतिदिन इसी प्रकार आम्बिल करते हैं। इस प्रकार छह महीने तक तप करके पारिहारिक (निर्विशमानक) साधु अनुचारी (वैयावृत्य करने वाले) बन जाते हैं; और जो चार अनुचारी थे, वे छह महीने के लिए पारिहारिक बन जाते हैं। इसी प्रकार कल्पस्थित (वाचनाचार्य पदस्थित) साधु भी छह महीने के पश्चात् पारिहारिक बन कर अगले 6 महीनों तक के लिए तप करता है और शेष साधु अनुचारी तथा कल्पस्थित बन जाते हैं। कल्प समाप्त हो जाने के पश्चात् वे साधु या तो जिनकल्प को अंगीकार कर लेते हैं, या अपने गच्छ में पुनः लौट आते हैं। परिहार तप के प्रतिपद्यमानक इस तप को या तो तीर्थंकर भगवान् के सान्निध्य में अथवा जिसने इस कल्प को तीर्थंकर से स्वीकार किया हो, उसके पास से अंगीकार करते हैं; अन्य के पास नहीं। ऐसे मुनियों का चारित्र परिहारविशुद्धिचारित्र कहलाता है। इस चारित्र की आराधना करने वाले को परिहारविशुद्धि चारित्रार्य कहते हैं।

परिहारविशुद्धिचारित्री दो प्रकार के होते हैं-इत्वरिक और यावत्कथिक। इत्वरिक वे होते हैं, जो कल्प की समाप्ति के बाद उसी कल्प या गच्छ में आ जाते हैं। जो कल्प समाप्त होते ही बिना व्यवधान के तत्काल जिनकल्प को स्वीकार कर

लेते हैं, वे यावत्कथिकचारित्री कहलाते हैं। इत्वरिकपरिहारविशुद्धिकों को कल्प के प्रभाव से देवादिकृत उपसर्ग, प्राणहारक आतंक या दुःसह वेदना नहीं होती किन्तु जिनकल्प को अंगीकार करने वाले यावत्कथिकों को जिनकल्पी भाव का अनुभव करने के साथ ही उपसर्ग होने सम्भव हैं।

सूक्ष्मसम्परायचारित्रार्य का स्वरूप-जिसमें सूक्ष्म अर्थात्-संज्वलन के सूक्ष्म लोभरूपसम्पराय=कषाय का ही उदय रह गया हो, ऐसा चारित्र सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहलाता है। यह चारित्र दसवें गुणस्थान वालों में होता है; जहाँ संज्वलनकषाय का सूक्ष्म अंश ही शेष रह जाता है। इसके दो भेद हैं- विशुद्धयमानक और संक्लिश्यमानक। क्षपक श्रेणी या उपशमश्रेणी पर आरोहण करने वाले का चारित्र विशुद्धयमानक होता है, जबकि उपशमश्रेणी के द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच कर वहाँ से गिरने वाला मुनि जब पुनः दसवें गुणस्थान में आता है, उस समय का सूक्ष्मसम्परायचारित्र संक्लिश्यमानक कहलाता है। सूक्ष्मसम्परायचारित्र की आराधना से जो आर्य हों, उन्हें सूक्ष्म सम्परायचारित्रार्य कहते हैं।

यथाख्यातचारित्रार्य-'यथाख्यात' शब्द में यथा+आ+आख्यात, ये तीन शब्द संयुक्त हैं, जिनका अर्थ होता है-यथा (यथार्थरूप से) आ(पूरी तरह से) आख्यात (कषायरहित कहा गया) हो अथवा जिस प्रकार समस्त लोक में ख्यातप्रसिद्ध जो अकषायरूप हो, वह चारित्र, यथाख्यातचारित्र कहलाता है। इस चारित्र के भी दो भेद हैं-छाद्मस्थिक (छद्मस्थ-यानी ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव का) और कैवलिक (तेरहवें गुणस्थानवर्ती-सयोगिकेवली और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली का)। इस प्रकार के यथाख्यातचारित्र की आराधना से जो आार्य हों, वे यथाख्यातचारित्रार्य कहलाते हैं।

पृथ्वीकायिकों के स्थानों का निरूपण-

भगवन्! बादरपृथ्वीकायिक पर्याप्तक जीवों के स्थान कहाँ कहे हैं?

गौतम! स्वस्थान की अपेक्षा से वे आठ पृथ्वियों में हैं। वे इस प्रकार-(1)

रत्नप्रभा में, (2) शर्कराप्रभा में, (3) वालुकाप्रभा में, (4) पंकप्रभा में, (5) धूमप्रभा में, (6) तमःप्रभा में, (7) तमस्तमः प्रभा में और (8) ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में।

1. अधोलोक में-पातालों में, भवनों में, भवनों के प्रस्तटों (पाथड़ों) में, नरकों में, नरकावलियों में एवं नरक के प्रस्तटों (पाथड़ों) में।

2. ऊर्ध्वलोक में-कल्पों में, विमानों में विमानावलियों में और विमान के प्रस्तटों (पाथड़ों) में।

3. तिर्यक्लोक में-टंकों में, कूटों में, शैलों में, शिखर वाले पर्वतों में, प्राग्भारों (कुछ झुके हुए पर्वतों) में, विजयों में, वक्षस्कार पर्वतों में, (भारतवर्ष आदि) वर्षों (क्षेत्रों) में, (हिमवान् आदि) वर्षधरपर्वतों में, वेलाओं (समुद्रतटवर्ती ज्वारभूमियों) में, वेदिकाओं में, द्वारों में, तोरणों में, द्वीपों में और समुद्रों में।

इन (उपर्युक्त भूमियों) में बादरपृथ्वीकायिक पर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यातवें भाग में, समुद्घात की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यातवें भाग में और स्वस्थान की अपेक्षा से (भी) लोक के असंख्यातवें भाग में हैं।

गौतम! जहाँ बादरपृथ्वी कायिक पर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं, वहीं बादरपृथ्वीकायिक अपर्याप्तकों के स्थान कहे हैं। जैसे कि-उपपात की अपेक्षा से सर्वलोक में, समुद्घात की अपेक्षा से समस्त लोक में तथा स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में हैं।

गौतम! सूक्ष्मपृथ्वीकायिक, जो पर्याप्तक हैं और जो अपर्याप्त हैं, वे सब एक हो प्रकार के हैं, विशेषतारहित (सामान्य) हैं, नानात्व (अनेकत्व) से रहित हैं और हे आयुष्मन् श्रमणो! वे समग्र लोक में परिव्याप्त कहे गए हैं।

विवेचन-पृथ्वीकायिकों के स्थानों का निरूपण-प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. 148 से 150 तक) में बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त सभी प्रकार के पृथ्वीकायिकों के स्थानों का निरूपण किया गया है।

'स्थान' की परिभाषा और प्रकार–जीव जहाँ-जहाँ रहते हैं, जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक जहाँ रहते हैं, उसे 'स्वस्थान' कहते हैं, जहाँ एक भव से छूट कर दूसरे भव में जन्म लेने से पूर्व बीच में स्वस्थानाभिमुख होकर रहते हैं, उसे 'उपपातस्थान' कहते हैं और समुद्घात करते समय जीव के प्रदेश जहाँ रहते हैं, जितने अकाशप्रदेश में रहते हैं, उसे 'समुद्घातस्थान' कहते हैं।

पृथ्वीकायिकों के तीनों लोकों में निवासस्थान कहाँ-कहाँ और कितने प्रदेश में? शास्त्रकार ने पृथ्वीकायिकों (बादर-सूक्ष्म-पर्याप्त अपर्याप्तों) के स्वस्थान तीन दृष्टियों से बताए हैं-(1) सात नरक पृथ्वियों में और आठवीं ईषत्प्राभारा पृथ्वी में तत्पश्चात् (2) अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और तिर्यग्लोक के विभिन्न स्थानों में, तथा (3) स्वस्थान में भी लोक के असंख्यातवें भाग में। इसके अतिरिक्त बादर पर्याप्तक-अपर्याप्तिक के उपपातस्थान क्रमशः लोक के असंख्यातवें भाग में तथा सर्वलोक में और समुद्घातस्थान पूर्वोक्त दोनों पृथ्वीकायिकों के क्रमशः लोक के असंख्यातवें भाग में तथा सर्वलोक में बताया गया है।

उपपात की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में–बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक जीवों का. जो स्वस्थान कहा गया है, उसकी प्राप्ति के अभिमुख होना उपपात है, उस उपपात को लेकर वे चतुर्दशरज्ज्वात्मक लोक के असंख्यातवें भाग में हैं, क्योंकि उनका रत्नप्रभादि समुदित स्वस्थान भी लोक के असंख्यातवें भाग में है। पर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक थोड़े हैं, इसलिए उपपात के समय अपान्तरालगत होने पर भी वे सभी स्वस्थान लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, इस कथन में कोई दोष नहीं है।

समुद्घात की अपेक्षा से भी लोक के असंख्यातवें भाग में–बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक जीव समुद्घात-अवस्था में स्वस्थान के अतिरिक्त क्षेत्रान्तरवर्ती होने पर भी लोक के असंख्यातवें भाग में ही होते हैं, कारण यह है कि बादर पृथ्वीकायिकजीव सोपक्रम आयु वाले हों या निरुपक्रम आयु वाले, जब भुज्यमान आायु का तृतीय भाग शेष रहने पर परभव की आयु का बन्ध करके मारणान्तिक

समुद्घात करते हैं, तब उनके दण्डरूप में फैले हुए आत्मप्रदेश भी लोक के असंख्यातवें भाग में ही होते हैं, क्योंकि वे जीव थोड़े ही होते हैं। उन बादर पृथ्वीकायिकों की आयु भी क्षीण नहीं हुई, इसलिए वे बादर पृथ्वीकायिक तब (समुद्घात-अवस्था में) भी पर्याप्तरूप में उपलब्ध होते हैं।

स्वस्थान की अपेक्षा से भी लोक के असंख्यातवें भाग में-स्वस्थान हैं-रत्नप्रभादि। वे सब मिल कर भी लोक के असंख्यातवें भाग में हैं। जैसे कि-रत्नप्रभा पृथ्वी का पिण्ड एक लाख, अस्सी हजार योजन का है। इसी प्रकार अन्य पृथ्वियों की भिन्न-भिन्न मोटाई भी कह लेनी चाहिए। पातालकलश भी एक लाख योजन अवगाह वाले होते हैं। नरकावास भी तीन हजार योजन ऊँचे होते हैं। विमान भी बत्तीस सौ योजन विस्तृत होते हैं। अतएव ये सभी परिमित होने के कारण सब मिल कर भी असंख्यातप्रदेशात्मक लोक के असंख्यातवें भागवर्ती ही होते हैं।

अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक उपपात और समुद्घात की अपेक्षा से- दोनों अपेक्षाओं से ये समस्त लोक में रहते हैं। अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक उपपातावस्था में विग्रहगति (अपान्तराल गति) में होते हुए भी स्वस्थान में भी अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक की आयु का वेदन विशिष्ट विपाकवश करते हैं तथा वे देवों व नारकों को छोड़कर शेष सभी कायों से उत्पन्न होते हैं, उद्वृत्त होने पर (मरने पर) भी वे देवों और नारकों को छोड़कर शेष सभी स्थानों में जाते हैं । मर कर स्वस्थान में जाते समय वे विग्रहगति में रहे हुए (उपपातावस्था में) भी अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक ही कहलाते हैं, ये स्वभाव से ही प्रचुरसंख्या में होते हैं, इसलिए उपपात और समुद्घात की अपेक्षा से सर्वलोकव्यापी होते हैं। इनमें से किन्हीं का उपपात ऋजुगति से होता है, और किन्हीं का वक्रगति से। ऋजुगति तो सुप्रतीत है । वक्रगति की स्थापना इस प्रकार है-जिस समय में प्रथम वक्र (मोड़) को कई जीव संहरण करते हैं, उसी समय दूसरे जीव उस वक्रदेश को आपूरित कर देते हैं। इसी प्रकार द्वितीय वक्रदेश के संहरण में भी, वक्रोत्पत्ति में भी प्रवाह से निरन्तर आपूरण होता रहता है।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्तों और अपर्याप्तों के तीन स्थान-सूक्ष्म पृथ्वी कायिकों के जो पर्याप्त और पर्याप्त जीव हैं, वे सभी एक ही प्रकार के हैं। पूर्वकृत स्थान आदि के विचार की अपेक्षा से इनमें कोई भेद नहीं होता, कोई विशेष नहीं होता, जैसे पर्याप्त हैं, वैसे ही दूसरे हैं तथा वे नानात्व से रहित हैं, देशभेद से उनमें नानात्व परिलक्षित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिन आधारभूत अकाशप्रदेशों में ये (एक) हैं, उन्हीं में दूसरे हैं। अतः वे सभी सूक्ष्म पृथ्वीकायिक उपपात, समुद्घात और स्वस्थान, इन तीनों अपेक्षाओं से सर्वलोकव्यापी हैं।

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ-'भवणेसु'=भवनपतियों के रहने के भवनों में, 'भवनपत्थडेसु'=भवनों के प्रस्तटों यानी भवनभूमिकाओं में (भवनों के बीच के भागों अन्तरालों में)। 'णिरएसु निरपावलिकासु'-नरकों (प्रकीर्णक नरकावासों) में, तथा आवली रूप से स्थित नरकवासों में। 'कप्पेसु'=कल्पों-सौधर्मादि बारह देवलोकों में। 'विमाणेसु'-ग्रैवेयकसम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में। 'टंकेसु'=छिन्न टंकों (एक भाग कटे हुए पर्वतों) में। 'कूटेसु'=कूटों-पर्वत के शिखरों में। 'सेलेसु'=शैलों-शिखरहीन पर्वतों में। 'विजयेसु'=विजयों-कच्छादि विजयों में। 'वक्खारेसु' विद्युत्प्रभ आदि वक्षस्कार पर्वतों में। 'वेलासु'=समुद्रादि के जल की तटवर्ती रमणभूमियों में। 'वेदिकासु'=जम्बूद्वीप की जगती आदि से सम्बन्धित वेदिकाओं में। 'तोरणेसु'=विजय प्रादि द्वारों में, द्वारादि सम्बन्धी तोरणों में। 'दीवेसु समुद्देसुण्क'=समस्त द्वीपों और समस्त समुद्रों में। यहाँ 'एक' शब्द 'चार' संख्या का द्योतक है, ऐसा किन्हीं विद्वानों का अभिप्राय है।

अप्कायिकों के स्थानों का निरूपण-

भगवन्! बादर अप्कायिक-पर्याप्तकों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए है?

गौतम! (1) स्वस्थान की अपेक्षा से-सात घनोदधियों में और सात घनोदधि-वलयों में उनके स्थान हैं।

2. अधोलोक में-पातालों में, भवनों में तथा भवनों के प्रस्तटों (पाथड़ों) में हैं।

3.ऊर्ध्वलोक में-कल्पों में विमानों में विमानावलियों (आवलीबद्ध विमानों) में, विमानों के प्रस्तटों (मध्यवर्ती स्थानों) में हैं।

4. तिर्यग्लोक में अवटों (कुओं में तालाबों में, नदियों में, ह्रदों में, वापियों (चौकोर बावड़ियों), पुष्करिणियों (गोलाकार बावड़ियों या पुष्कर=कमल वाली बावड़ियों) में, दीर्घिकाओं (लम्बी बावड़ियों, सरल-छोटी नदियों) में, गुजालिकाओं (टेढ़ीमेढ़ी बावड़ियों) में, सरोवरों में, पंक्तिबद्ध सरोवरों में, सरः सरपंक्तियों (नाली द्वारा जिनमें कुए का जल बहता है, ऐसे पंक्तिबद्ध तालाबों में), बिलों में (स्वाभाविक बनी हुई छोटी कुइओं में), पंक्तिबद्ध बिलों में, उज्झरों में (पर्वतीय जलस्रोतों में), निर्झरों (झरनों) में गड्ढों में, पोखरों में वप्रों (क्यारियों) में, द्वीपों में, समुद्रों में तथा समस्त जलाशयों में और जलस्थानों में (इनके स्थान) हैं।

इन (पूर्वोक्त) स्थानों में बादर-अप्कायिकों के पर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं। उपपात की अपेक्षा से-लोक के असंख्यातवें भाग में, समुद्घात की अपेक्षा से-लोक के असंख्यातवें भाग में और स्वस्थान की अपेक्षा से (भी वे) लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

गौतम! जहाँ बादर-अप्कायिक-पर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं, वहीं बादर अप्कायिक-अपर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से सर्वलोक में, समुद्घात की अपेक्षा से सर्वलोक में और स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

गौतम! सूक्ष्म-अप्कायिकों के जो पर्याप्तक और अपर्याप्तक हैं, वे सभी एक प्रकार के हैं, अविशेष (विशेषतारहित - सामान्य या भेदरहित) हैं, नानात्व से रहित हैं, और आयुष्मन् श्रमणो! वे सर्वलोकव्यापी कहे गए हैं।

विवेचन-अप्कायिकों के स्थानों का निरूपण-प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. 151 से 153 तक) में बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक एवं अपर्याप्त अप्कायिकों के स्वस्थान, उपपात और समुद्घात, इन तीनों अपेक्षाओं से स्थानों का निरूपण किया गया है।

'घणोदधिवलएसु' इत्यादि शब्दों की व्याख्या-'घणोदधिवलएसु'=स्व-स्वपृथ्वी पर्यन्त प्रदेश को वेष्टित करने वाले वलयाकारों में उनमें भी दूसरे में देशतः त्रिभाग में और 'पायालेसु'=वलयामुख आदि पातालकलशों में। क्योंकि तीसरे में त्रिभाग में सर्वात्मना जल का सद्भाव रहता है।

'भवणेसु कप्पेसु विमाणेसु' भवनपतियों के भवनों में, कल्पों-देवलोकों में, तथा विमानों- सौधर्मादि कल्पगत विमानों में तथा इसके प्रस्तटों एवं विमानावलियों में जल बावडी आदि में होता है। ग्रैवेयक आदि विमानों में बावड़ियां नहीं होतीं, अतः वहाँ जल नहीं होता।'

तेजस्कायिकों के स्थानों का निरूपण-

भगवन्! बादर तेजस्कायिक पर्याप्तक जीवों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम! स्वस्थान की अपेक्षा से-मनुष्यक्षेत्र के अन्दर ढाई द्वीप-समुद्रों में, निर्व्याघात (बिना व्याघात) से पन्द्रह कर्मभूमियों में व्याघात की अपेक्षा से पांच महाविदेहों में (इनके स्थान हैं।)

इन (उपर्युक्त) स्थानों में बादर तेजस्कायिक- पर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं। उपपात की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में, समुद्घात की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में, तथा स्वस्थान की अपेक्षा से (भी) लोक के असंख्यातवें भाग में (वे) होते हैं।

गौतम! जहाँ बादर तेजस्कायिकों के पर्याप्तकों के स्थान हैं वहीं बादर तेजस्कायिकों के अपर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से-(वे) लोक के दो ऊर्ध्वकपाटों में तथा तिर्यग्लोक के तट्ट (स्थालरूप

स्थान) में एवं समुद्घात की अपेक्षा से-सर्वलोक में तथा स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

गौतम! सूक्ष्म तेजस्कायिक, जो पर्याप्त हैं और जो अपर्याप्त हैं, वे सब एक

ही प्रकार के हैं, अविशेष हैं, (उनमें विशेषता या भिन्नता नहीं है) उनमें नानात्व नहीं है, हे आयुष्मन् श्रमणो! वे सर्वलोकव्यापी कहे गए हैं।

बादर तेजस्कायिक पर्याप्तकों के स्थान-स्वस्थान की अपेक्षा से-वे मनुष्यक्षेत्र के अन्दर-अन्दर हैं। अर्थात्-मनुष्यक्षेत्र के अन्तर्गत ढाई द्वीपों एवं दो समुद्रों में हैं। व्याघाताभाव से वे पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह इन पन्द्रह कर्मभूमियों में होते हैं; और व्याघात होने पर पांच महाविदेह क्षेत्रों में होते हैं। तात्पर्य यह है कि अत्यन्तस्निग्ध या अत्यन्तरूक्ष काल व्याघात कहलाता है। इस प्रकार के व्याघात के होने पर अग्नि का विच्छेद हो जाता है। जब पांच भरत पांच ऐरवत क्षेत्रों में सुषम-सुषम, सुषम, तथा सुषम-दुष्षम आरा प्रवृत्त होता है, तब वह प्रतिस्निग्ध काल कहलाता है। उधर दुष्षम दुष्षम आरा आतिरूक्ष काल कहलाता है। ये दोनों प्रकार के काल हों तो व्याघात-अग्निविच्छेद होता है। अगर ऐसी व्याघात की स्थिति हो तो पंचमहाविदेह क्षेत्रों में ही बादर तेजस्कायिक पर्याप्तक जीव होते हैं। अगर इस प्रकार के व्याघात से रहित काल हो तो पन्द्रह ही कर्मभूमिक क्षेत्रों में बादर तेजस्कायिक पर्याप्तक जीव होते हैं।

विग्रहगति में यथोक्त स्वस्थान प्राप्ति के अभिमुख-उपपात अवस्था में स्थान का विचार करने पर ये लोक के असंख्यातवें भाग में ही होते हैं, क्योंकि उपपात के समय वे बहुत थोड़े होते हैं। समुद्घात की अपेक्षा से विचार करें तो मारणान्तिक समुद्घातवश दण्डरूप में आत्मप्रदेशों को फैलाने पर भी वे थोड़े होने से लोक के असंख्यातवें भाग में ही समा जाते हैं। स्वस्थान की अपेक्षा से भी वे लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। क्योंकि मनुष्यक्षेत्र कुल 45 लाख योजनप्रमाण लम्बा-चौड़ा है, जो की लोक का असंख्यातवां भागमात्र है।

बादर तेजस्कायिक अपर्याप्तकों के स्थान-पर्याप्तकों के आश्रय से ही अपर्याप्त जीव रहते हैं, इस दृष्टि से जहाँ पर्याप्तकों के स्थान हैं, वहीं अपर्याप्तकों के हैं। उपपात की अपेक्षा से लोक के दो ऊर्ध्वकपाटों में तथा तिर्यग्लोकतट्ट में बादर तेजस्कायिक अपर्याप्तक रहते हैं। आशय यह है कि अढाई द्वीप-समुद्रों से निकले

हुए, अढाई द्वीप समुद्रप्रमाण विस्तृत एवं पूर्व पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में स्वयम्भूरमण समुद्रपर्यन्त जो दो कपाट हैं, वे केवलिसमुद्घातसमय के कपाट की तरह ऊपर भी लोक के अन्त को स्पृष्ट (छुए हुए) हैं और नीचे भी लोकान्त को स्पृष्ट (छुए हुए) हैं, ये ही 'दो ऊर्ध्वकपाट' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त तट्ट का अर्थ है- स्थाल (थाल)। अर्थात्स्थालसदृश तिर्यग्लोकरूप तट्ट (स्थाल) कहलाता है। आशय यह है कि स्वयम्भूरमणसमुद्र की वेदिकापर्यन्त अठारह सौ योजन मोटा समस्त तिर्यग्लोकरूप तट्ट (स्थाल) है।

निष्कर्ष यह है कि उपपात की अपेक्षा से लोक के दो ऊर्ध्वकपाटों एवं तिर्यग्लोकरूप तट्ट में बादर तेजस्कायिक अपर्याप्त जीवों के स्थान हैं।

'लोयस्स दोसुद्धकवाडेसु तिरियलोयतट्टे' इस पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ भी हो सकता है-लोक के उन दोनों ऊर्ध्वकपाटों में जो स्थित हो, वह तट्ठ- 'तत्स्थ'। इस प्रकार-तिर्यग्लोक रूप तत्स्थ में-अर्थात्-उन दो ऊर्ध्वकपाटों के अंदर स्थित तिर्यग्लोक में वे होते हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि पूर्वोक्त दोनों ऊर्ध्वकपाटों में और तिर्यग्लोक में भी (स्थित) उन्हीं कपाटों में पर्याप्त बादर तेजस्कायिकजीवों का उपपातस्थान है, अन्यत्र नहीं।

अभिमुखनामगोत्र पर्याप्त बादरतेजस्कायिक का प्रस्तुत अधिकार-यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि बादर अपर्याप्तक- तेजस्कायिक तीन प्रकार के होते हैं-

(1) एकभविक, (2) बद्धायुष्क और (3) अभिमुखनामगोत्र। जो जीव एक विवक्षित भव के अनन्तर आगामी भव में बादर अपर्याप्त तेजस्कायिकरूप में उत्पन्न होंगे वे एकभविक कहलाते हैं, जो जीव पूर्वभव की आयु का त्रिभाग आदि समय शेष रहते बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक की आयु बांध चुके हैं, वे बद्धायुष्क कहलाते हैं और जो पूर्वभव को छोड़ने के पश्चात् बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक की आयु, नाम और गोत्र का साक्षात् वेदन (अनुभव) कर रहे हैं, अर्थात् बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक-पर्याय का अनुभव कर रहे हैं, वे 'अभिमुखनामगोत्र' कहलाते हैं। इन तीन प्रकार के बादर अपर्याप्त तेजस्कायिकों में से प्रथम के दो-एकभविक

और बद्धायुष्क-द्रव्य निक्षेप से ही बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक हैं, भावनिक्षेप से नहीं, क्योंकि ये दोनों उस समय आयु, नाम और गोत्र का वेदन नहीं करते; अतएव यहाँ इन दोनों का अधिकार नहीं है, किन्तु यहाँ केवल अभिमुखनामगोत्र बादर अपर्याप्तक-तेजस्कायिकों का ही अधिकार समझना चाहिए; क्योंकि वे ही स्वस्थानप्राप्ति के अभिमुख्यरूप उपपात को प्राप्त करते हैं। यद्यपि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से वे भी बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक के आयुष्य, नाम एवं गोत्र का वेदन करने के कारण पूर्वोक्त कपाटयुगलतिर्यग्लोक के बाहर स्थित होते हुए भी बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक नाम को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि यहाँ व्यवहारनय की दृष्टि को स्वीकार करने के कारण जो स्वस्थान में समश्रेणिक कपाटयुगल में स्थित हैं, और जो स्वस्थान से अनुगत तिर्यग्लोक में प्रविष्ट हैं, उन्हीं को बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक नाम से कहा जाता है; शेष जो कपाटों के अन्तराल में स्थित हैं, उनका नहीं, क्योंकि वे विषमस्थानवर्ती हैं। इस प्रकार जो अभी तक उक्त कपाटयुगल में प्रवेश नहीं करते और न तिर्यग्लोक में प्रविष्ट होते हैं, वे अभी पूर्वभव में ही स्थित हैं, अतएव उनकी गणना बादर अपर्याप्त तेजस्कायिकों में नहीं की जाती। कहा भी है-

पणयाललक्खपिहुला दुन्नि कवाडा य छद्दिसि पुट्ठा।
लोगंते तेसिऽतो जे तेऊ ते उधिप्पंति।।

अर्थात्-पैंतालीस लाख योजन चौड़े दो कपाट हैं, जो छहों दिशाओं में लोकान्त का स्पर्श करते हैं। उनके अन्दर-अन्दर जो तेजस्कायिक हैं, उन्हीं का यहाँ ग्रहण किया जाता हैं।

इसकी स्थापना (आकृति) इस प्रकार है-

अतः इस सूत्र की व्याख्या व्यवहारनय की दृष्टि से की गई है।

समुद्घात की अपेक्षा से बादर अपर्याप्त तेजस्कायिकों का स्थान- समुद्घात की दृष्टि से ये सर्वलोक में होते हैं। इसका आशय यों समझना चाहिए- पूर्वोक्तस्वरूप वाले दोनों कपाटों के मध्य (अपान्तरालों) में जो सूक्ष्मपृथ्वीकायिकादि जीव हैं, वे बादर अपर्याप्त तेजस्कायिकों में उत्पन्न होते हुए मारणान्तिक समुद्घात

करते हैं, उस समय वे विस्तार और मोटाई में शरीरप्रमाण और लम्बाई में उत्कृष्टतः लोकान्त तक अपने आत्मप्रदेशों को बाहर फैलाते हैं। जैसा कि अवगाहनासंस्थानपद में आगे कहा जाएगा-

[प्र.] भगवन्! मारणान्तिक समुद्घात किये हुए पृथ्वीकायिक के तैजसशरीर की शारीरिक अवगाहना कितनी बड़ी होती है?

[उ.] गौतम! (उन की शरीरावगाहना) विस्तार और मोटाई की अपेक्षा से शरीरप्रमाण होती है, और लम्बाई की अपेक्षा से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट लोकान्तप्रमाण होती है।

उसके पश्चात् वे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक आदि अपने उत्पत्तिदेश तक दण्डरूप में आत्मप्रदेशों को फैलाते हैं और अपान्तरालगति (विग्रहगति) में वर्तमान होते हुए वे बादर अपर्याप्तक-तेजस्कायिक की आयु का वेदन करने के कारण बादर पर्याप्त तेजस्कायिक नाम को धारण करते हैं। वे समुद्घात अवस्था में ही विग्रहगति में विद्यमान होते हैं तथा समुद्घात गत जीव समस्त लोक को व्याप्त करते हैं। इस दृष्टि से समुद्घात की अपेक्षा से इन्हें सर्वलोकव्यापी कहा गया है।

दूसरे आचार्यों का कहना है-बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक जीव संख्या में बहुत अधिक होते हैं; क्योंकि एक-एक पर्याप्त के आश्रय से असंख्यात अपर्याप्तों की उत्पत्ति होती है। वे सूक्ष्मों में भी उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म तो सर्वत्र विद्यमान हैं। इसलिए बादर अपर्याप्तक-तेजस्कायिक अपने-अपने भव के अन्त में मारणान्तिक समुद्घात करते हुए समस्त लोक को आपूरित करते हैं। इसलिए इन्हें समग्र की दृष्टि से, समुद्घात की अपेक्षा सकललोकव्यापी कहने में कोई दोष नहीं है। '

स्वस्थान की अपेक्षा से बादर अपर्याप्तक-तेजस्कायिक-लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, क्योंकि पर्याप्तों के आश्रय से पर्याप्तों की उत्पत्ति होती है। पर्याप्तों का स्थान मनुष्यक्षेत्र है, जो कि सम्पूर्ण लोक का असंख्यातवां भागमात्र है। इसलिए इन्हें लोक के असंख्यातवें भाग में कहना उचित ही है।

वायुकायिकों के स्थानों का निरूपण-

भगवन्! बादर वायुकायिक पर्याप्तकों के स्थान कहाँ (कहा) कहे गए है?

गौतम! स्वस्थान की अपेक्षा से सात घनवातों में सात घनवातवलयों में, सात तनुवातों में और सात तनुवातवलयों में (वे होते हैं।)

2. अधोलोक में-पातालों में, भवनों में, भवनों के प्रस्तटों (पाथड़ों) में, भवनों के छिद्रों में, भवनों के निष्कुट प्रदेशों में नरकों में, नरकावलियों में, नरकों के प्रस्तटों के छिद्रों में और नरकों के निष्कुट प्रदेशों में (वे हैं।)

3. ऊर्ध्वलोक में-(वे) कल्पों में, विमानों में आवली (पंक्ति) बद्ध विमानों में, विमानों के प्रस्तटों (पाथड़ों-बीच के भागों) में, विमानों के छिद्रों में, विमानों के निष्कुट-प्रदेशों में (हैं।)

4. तिर्यग्लोक में-(वे) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में समस्त लोकाकाश के छिद्रों में, तथा लोक के निष्कुट-प्रदेशों में, इन (पूर्वोक्त सभी स्थलों) में बादर वायुकायिक पर्याप्तक जीव के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से-लोक के असंख्येयभागों में समुद्घात की अपेक्षा से-लोक के असंख्येयभागों में, तथा स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्येयभागों में (बादर वायुकायिकपर्याप्तक जीवों के स्थान हैं।

भगवन्! अपर्याप्त-बादर-वायुकायिकों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम! जहाँ बादर-वायुकायिक पर्याप्तकों के स्थान हैं, वहीं बादर वायुकायिक-अपर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से (वे) सर्वलोक में हैं, समुद्घात की अपेक्षा से-(वे) सर्वलोक में हैं, और स्वस्थान की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यात भागों में हैं।

गौतम! सूक्ष्मवायुकायिक, जो पर्याप्त हैं और जो अपर्याप्त हैं, वे सब एक ही प्रकार के हैं, अविशेष (विशेषता या भेद से रहित) हैं, नानात्व से रहित हैं और हे आयुष्मन् श्रमणो! वे सर्वलोक में परिव्याप्त हैं।

विवेचन-वायुकायिकों के स्थानों का निरूपण-प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. 157 से 156 तक) में वायुकायिक जीवों के बादर, सूक्ष्म और उनके पर्याप्त अपर्याप्तकों के स्थानों का निरूपण तीनों अपेक्षाओं से किया गया है।

'भवणछिद्देसु''भवणणिक्खुडेसु' आदि पदों के विशेषार्थ- भवणछिद्देसु=भवनपतिदेवों के भवनों के छिद्रों-अवकाशान्तरों में। भवणणिखुडेसु'=भवनों के निष्कुटों अर्थात् गवाक्ष आदि के समान भवनप्रदेशों में। णिरयणिक्खुडेसु=नरकों के निष्कुटों यानी गवाक्ष आदि के समान नरकावास प्रदेशों में।

पर्याप्त बादरवायुकायिकः उपपात आदि तीनों की अपेक्षा से-ये तीनों की अपेक्षा से लोक के असंख्यात भागों में हैं; क्योंकि जहाँ भी खाली जगह है-पोल है, वहाँ वायु बहती है। लोक में खाली जगह (पोल) बहुत है। इसलिए पर्याप्त वायुकायिक जीव बहुत अधिक हैं। इस कारण उपपात, समुद्घात प्रौर स्वस्थान इन तीनों अपेक्षाओं से बादर पर्याप्तवायुकायिक लोक के असंख्येय भागों में कहे हैं।

अपर्याप्त बादरवायुकायिकों के स्थान-उपपात और समुद्घात की अपेक्षा से अपर्याप्त बादरवायुकायिक जीव सर्वलोक में व्याप्त हैं; क्योंकि देवों और नारकों को छोड़ कर शेष सभी कायों से जीव बादर अपर्याप्तवायुकायिकों में उत्पन्न होते हैं। विग्रहगति में भी बादर अपर्याप्तवायुकायिक पाए जाते हैं तथा उनके बहुत से स्वस्थान हैं। अतएव व्यवहारनय की दृष्टि से भी उपपात को लेकर बादर पर्याप्त अपर्याप्तवायुकायिकों की सकललोकव्यापिता में कोई बाधा नहीं है। समुद्घात की अपेक्षा से उनकी समग्रलोकव्यापिता प्रसिद्ध ही है; क्योंकि समस्त सूक्ष्म जीवों में और लोक में सर्वत्र वे उत्पन्न हो सकते हैं। स्वस्थान की अपेक्षा से बादर अपर्याप्तवायुकायिकजीव लोक के असंख्येयभागों में होते हैं, यह पहले बतलाया जा चुका है।

वनस्पतिकायिकों के स्थानों का निरूपण-

भगवन्! बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्तक जीवों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम! 1. **स्वस्थान की अपेक्षा से**-सात घनोदधियों में और सात घनोदधिवलयों में (हैं)।

2. **अधोलोक में**-पातालों में, भवनों में और भवनों के प्रस्तटों (पाथड़ों) में (हैं)

3 **ऊर्ध्वलोक में**-कल्पों में, विमानों में आवलिकाबद्ध विमानों में और विमानों के प्रस्तटों (पाथड़ों) में (वे हैं।)

4. **तिर्यग्लोक में**-कुओं में, तालाबों में, नदियों में, ह्रदों में, वापियों (चौरस बावड़ियों)-में, पुष्करिणियों में, दीर्घिकाओं में गुजालिकाओं (वक्र-टेढ़ीमेढ़ी बावड़ियों) में, सरोवरों में, पंक्तिबद्धसरोवरों में, सर-सर-पंक्तियों में, बिलों (स्वाभाविक रूप से बनी हुई कुइयों) में, पंक्तिबद्ध बिलों में, उझरों (पर्वतीयजल के अस्थायी प्रवाहों) में, निझरों (झरनों) में, तलैयों में, पोखरों में, क्षेत्रों (खेतों या क्यारियों) में, द्वीपों में, समुद्रों में और सभी जलाशयों में तथा जल के स्थानों में; इन (सभी स्थलों) में बादर वनस्पतिकायिक-पर्याप्तक जीवों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से (ये) सर्वलोक में है, समुद्घात की अपेक्षा से सर्वलोक में हैं और स्वस्थान की अपेक्षा से (ये) लोक के असंख्यातवें भाग में हैं।

गौतम! जहाँ बादर वनस्पतिकायिक-पर्याप्तकों के स्थान है, वहीं बादर वनस्पतिकायिक-अपर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से-(वे) सर्वलोक में हैं, समुद्घात की अपेक्षा से (भी) सर्वलोक में हैं; (किन्तु) स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में हैं।

गौतम! सूक्ष्मवनस्पतिकायिक, जो पर्याप्त हैं और जो अपर्याप्त हैं, वे सब एक ही प्रकार के हैं, विशेषता से रहित हैं, नानात्व से भी रहित हैं और हे आयुष्मन् श्रमणो! वे सर्वलोक में व्याप्त कहे गए हैं।

विवेचन-वनस्पतिकायिकों के स्थानों की प्ररूपणा-प्रस्तुत तीन सूत्रों में बादर-सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों के पर्याप्तक- अपर्याप्तक-भेदों के स्वस्थान, उपपातस्थान और समुद्घातस्थान की प्ररूपणा की गई है।

पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिकों के स्थान-जहाँ जल होता है, वहाँ वनस्पति अवश्य होती है, इस दृष्टि से समस्त जलस्थानों में पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक जीव होते हैं। उपपात की अपेक्षा से वे सर्वलोक में हैं,

क्योंकि उनके स्वस्थान घनोदधि आदि हैं, उनमें शैवाल आदि बादर निगोद के जीव होते हैं। सूक्ष्मनिगोद जीवों की भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही होती है, तत्पश्चात् वे बादर पर्याप्तनिगोदों में उत्पन्न होकर बादर निगोदपर्याप्त की आयु का वेदन करते हुए सुविशुद्ध ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से बादर पर्याप्तवनस्पतिकायिक नाम पा लेते हैं; उपपात की अपेक्षा से (वे) समस्त काल और समस्त लोक को व्याप्त कर लेते हैं।

समुद्घात की अपेक्षा से भी वे सर्वलोक में व्याप्त हैं; क्योंकि जब बादरनिगोद सूक्ष्मनिगोदसम्बन्धी आयु का बन्ध करके और आयु के अन्त में मारणान्तिकसमुद्घात करके आत्मप्रदेशों को उत्पत्तिदेश तक फैलाते हैं, तब तक उनकी पर्याप्तबादरनिगोद की आयु क्षीण नहीं होती। अतएव वे उस समय भी बादर पर्याप्त निगोद ही रहते हैं और समुद्घातावस्था में वे समस्तलोक में व्याप्त होते हैं। इस दृष्टि से कहा गया है कि बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक समुद्घात की अपेक्षा से सर्वलोक में व्याप्त होते हैं।

स्वस्थान की अपेक्षा से वे लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, क्योंकि घनोदधि आदि पूर्वोक्त सभी स्थान मिल कर भी लोक के असंख्यातवें भागमात्र में ही हैं।

द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-सामान्य पंचेन्द्रियों के स्थानों की प्ररूपणा-

भगवन्! पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम ! 1. ऊर्ध्वलोक में उसके एकदेशभाग में (वे) होते हैं, 2. अधोलोक में - उसके एकदेशभाग में (होते हैं), 3. तिर्यग्लोक में कुओं में, तालाबों में, नदियों में, ह्रदों में, वापियों (बावड़ियों) में, पुष्करिणियों में, दीर्घिकाओं में गुजालिकाओं में, सरोवरों में, पंक्तिबद्ध सरोवरों में, सर सर-पंक्तियों में, बिलों में, पंक्तिबद्ध बिलों में, पर्वतीय जलप्रवाहों में, निर्झरों में, तलैयों में, पोखरों में, वनों (खेतों या क्यारियों) में, द्वीपों में, समुद्रों में और सभी जलाशयों में तथा समस्त जलस्थानों में द्वीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्त जीवों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, समुद्घात की अपेक्षा से (भी वे) लोक के संख्यातवें भाग में होते हैं और स्वस्थानी अपेक्ष से (भी वे) लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

भगवन्! पर्याप्त और अपर्याप्त त्रीन्द्रिय जीवों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे हैं?

गौतम! 1. ऊर्ध्वलोक में-उसके एकदेशभाग में (होते हैं), 2. अधोलोक में उसके एकदेशभाग में (होते हैं) 3. तिर्यग्लोक में-कुओं में तालाबों में, नदियों में, ह्रदों में, वापियों में, पंक्तिबद्ध सरोवरों में, सर-सर-पंक्तियों में, बिलों में, बिलपंक्तियों में, पर्वतीय जलप्रवाहों में, निर्झरों में, तलैयों (छोटे गड्ढों) में, पोखरों में वनों (खेतों या क्यारियों) में, द्वीपों में समुद्रों में और सभी जलाशयों में तथा समस्त जलस्थानों में इन (सभी स्थानों में अपर्याप्तक और पर्याप्त त्रीन्द्रिय जीवों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से-(वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं), समुद्घात की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं), और स्वस्थान की अपेक्षा से (भी वे) लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

भगवन्! पर्याप्तक और अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम! 1. (वे) उर्ध्वलोक में उसके एकदेशभाग में (होते हैं), 2. अधोलोक में-उसके एकदेशभाग में (होते हैं), 3. तिर्यग्लोक में-कूओं में तालाबों में, नदियों में, ह्रदों में, वापियों में पुष्करिणियों में दीर्घिकाओं में गुजालिकाओं में सरोवरों में पंक्तिबद्ध सरोवरों में, सर-सरपंक्तियों में, बिलों में, पंक्तिबद्ध बिलों में, पर्वतीय जलस्रोतों में, झरनों में, छोटे गड्ढों में, पोखरों में, वनों (खेतों या क्यारियों) में द्वीपों में समुद्रों में और समस्त जलाशयों में तथा सभी जलस्थानों में होते हैं।) इन (पूर्वोक्त सभी स्थलों) में पर्याप्तक और अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों के स्थान कहे गए हैं। उपपात की अपेक्षा से-(वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं), समुद्घात की अपेक्षा से-लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं), और

स्वस्थान की अपेक्षा से (भी वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं)। भगवन्! पर्याप्तक और अपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं।

गौतम! 1. (वे) ऊर्ध्वलोक में-उसके एकदेशभाग में (होते हैं), अधोलोक में-उसके एकदेशभाग में (होते हैं), और 3. तिर्यग्लोक में- कुपों में तालाबों में, नदियों में, ह्रदों में, वापियों में, पुष्करिणियों में, दीर्घिकाओं में गुजालिकाओं में, सरोवरों में, सरोवर-पंक्तियों में, सर-सरपंक्तियों में, बिलों में, बिलपंक्तियों में, पर्वतीय जलप्रवाहों में, झरनों में, छोटे गड्ढों में, पोखरों में, वनों में, द्वीपों में, समुद्रों में, और सभी जलाशयों तथा समस्त जलस्थानों में (होते हैं)। इन (सभी उपर्युक्त स्थलों) में पर्याप्तक और अपर्याप्तक पंचेन्द्रियों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से-(वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं), समुद्घात की अपेक्षा से-(वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं) और स्वस्थान की अपेक्षा से (भी वे) लोक के असंख्यातवें भाग में (होते हैं)।

विवेचन-द्वि-त्रि-चतुः-पंचेन्द्रिय जीवों के स्थानों की प्ररूपणा- प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. 163 से 166 तक) में क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सामान्य पंचेन्द्रिय जीवों के पर्याप्तकों और पर्याप्तकों के स्थानों की प्ररूपणा की गई है।

द्वीन्द्रियादि जीवों के तीनों लोकों की दृष्टि से स्वस्थान-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय सामान्य पंचेन्द्रिय, इन चारों के सूत्रपाठ एक समान हैं। ये सभी ऊर्ध्वलोक में उसके एकदेशभाग में-अर्थात्-मेरुपर्वत आदि की वापी आदि में होते हैं। अधोलोक में भी उसके एकदेशभाग में, अर्थात् अधोलौकिक वापी, कूप तालाब आदि में होते हैं तथा तिर्यग्लोक में भी कूप, तड़ाग, नदी आदि में होते हैं।

तथा पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार उपपात, समुद्घात एवं स्वस्थान की अपेक्षा से द्वीन्द्रिय से सामान्य पंचेन्द्रिय तक के जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों के स्थानों की प्ररूपणा-

भगवन्! पर्याप्त और अपर्याप्त पंचेन्द्रियतिर्यंचों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम! 1. ऊर्ध्वलोक में उसके एकदेशभाग में 2 अधोलोक में उसके एकदेशभाग में, 3. तिर्यग्लोक में कुओं में, तालाबों में, नदियों में, वापियों में, द्रहों में, पुष्करिणियों में, दीर्घिकाओं में गुजालिकाओं में, सरोवरों में, पंक्तिबद्ध सरोवरों में, सर सर-पंक्तियों में, बिलों में, पंक्तिबद्ध बिलों में, पर्वतीय जलस्रोतों में, झरनों में, छोटे गड्ढों में, पोखरों में, क्यारियों अथवा खेतों में, द्वीपों में, समुद्रों में तथा सभी जलाशयों एवं जल के स्थानों में इन (सभी पूर्वोक्त स्थलों) में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के पर्याप्तकों और अपर्याप्तकों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यातवें भाग में हैं, समुद्घात की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में हैं, और स्वस्थान की अपेक्षा से (भी) वे लोक के असंख्यातवें भाग में हैं।

मनुष्यों के स्थानों की प्ररूपणा-

भगवन्! पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्यों के स्थान कहाँ (कहाँ) कहे गए हैं?

गौतम! मनुष्यक्षेत्र के अन्दर पैंतालीस लाख योजनों में, ढाई द्वीप-समुद्रों में, पन्द्रह कर्मभूमियों में, तीस अकर्मभूमियों में और छप्पन अन्तर्द्वीपों में इन स्थलों में पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्यों के स्थान कहे गए हैं।

उपपात की अपेक्षा से (वे) लोक के असंख्यातवें भाग में, समुद्घात की अपेक्षा से सर्वलोक में हैं, और स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में।

विवेचन-मनुष्यों के स्थानों की प्ररूपणा-प्रस्तुतसूत्र (सू. 176) में पर्याप्त और पर्याप्तक मनुष्यों के स्थानों की प्ररूपणा की गई है।

समुद्घात की अपेक्षा से सर्वलोक में-समुद्घात की अपेक्षा से पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्य सर्वलोक में होते हैं, यह कथन केवलिसमुद्घात की अपेक्षा से सम्भव है।

कर्मातीत आत्मस्वभाव पाना 'कनक' का लक्ष्य

-आचार्य कनकनन्दी

अप्पा अप्पउ जई मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहं तहु संसार भमेहि।। (12) यो.सा.

(चालः 1. छोटी-छोटी गैया... 2. भातुकली... 3. इक परदेशी...)

भोगोपभोग व काम भोग, सत्ता सम्पत्ति-प्रसिद्धि।
ये न चाहूँ ये तो अनात्म रूप, मम लक्ष्य है आत्मिक सम्पत्ति।। (1)

राजा-महाराजा-सेठ-साहुकार, न चाहूँ इन्द्र व चक्रवर्ती।
ये सभी तो कर्म के फल हैं, मम लक्ष्य है शुद्धात्मा परिणति।। (2)

धर्म मैं करूँ मोक्ष निमित्त, जो ''शुद्ध-बुद्ध आनन्द'' है।
जन्म जरा-मरण से परे, ''सत्य शिव-सुन्दर'' है।। (3)

इस हेतु करूँ ध्यान-अध्ययन, तप-त्याग से ले आकिंचन्य।
समता-शान्ति-आत्मविशुद्धि, निस्पृह-निराडम्बर वीतराग।। (4)

संकल्प-विकल्प-संक्लेश-द्वन्द्व, क्रोध-मान-माया लोभ-मोह।
ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-वैरभाव, सभी है विभाव जो अनात्म भाव।। (5)

इससे ही कर्मासव-बन्ध होते, जिससे होते परिवर्तन पंच।
चतुर्गति चौरासी लक्षयोनियों में जन्म, जिससे भोगा दुःख अनन्त।। (6)

जो भोगा हूँ दुःख अनन्तानंत, उसका अनन्तवाँ भोगूँ यदि मोक्ष निमित्त।
जिससे सभी दुःख होंगे अन्त, प्राप्त करूँगा ज्ञानसुख वीर्य अनन्त।। (7)

ये हैं सभी दुःख-सुख उपाय, मोही-रागी-द्वेषी से अज्ञात।
आध्यात्मिक श्रद्धा-प्रज्ञा से ज्ञात, आत्म स्वभाव पाना ''कनक'' लक्ष्य।।(8)

योगीन्द्र गिरि-दि. 27-7-2023 मध्याह्न-2:52

(अन्तरराष्ट्रीय वेबीनार के तृतीय वर्ष गांठ)

संदर्भ-

परम परिशुद्ध जीव (सिद्ध) का स्वरूप

भगवन्! सिद्धों के स्थान कहाँ कहे गए हैं? भगवन्! सिद्ध कहाँ निवास करते हैं?

गौतम! सर्वार्थसिद्ध महाविमान की ऊपरी स्तूपिका के अग्रभाग से बारह योजन ऊपर बिना व्यवधान के ईषत्प्राग्भार नामक पृथ्वी कही है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन है। उसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार, दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है। ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बहुत (एकदम) मध्यभाग में (लम्बाई-चौड़ाई में) आठ योजन का क्षेत्र है, जो आठ योजन मोटा (ऊँचा) कहा गया है। उसके अनन्तर (सभी दिशाओं और विदिशाओं में)' मात्रा मात्रा से अर्थात्-अनुक्रम से प्रदेशों की कमी होते जाने से, हीन (पतली) होती होती वह सबसे अन्त में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली, अंगुल के असंख्यातवें भाग मोटी कही गई है।

ईषत्प्राग्भारा-पृथ्वी के बारह नाम कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) ईषत्, (2) ईषत्प्राग्भारा, (3) तनु, (4) तनु-तनु, (5) सिद्धि, (6) सिद्धालय, (7) मुक्ति, (8) मुक्तालय (9) लोकाग्र, (10) लोकाग्र-स्तूपिका, या (11) लोकाग्रप्रतिवाहिनी (बोधना) और (12) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वसुखावहा।

ईषत्प्राग्भारा-पृथ्वी श्वेत है, शंखदल के निर्मल चूर्ण के स्वस्तिक, मृणाल, जलकण, हिम, गोदुग्ध तथा हार के समान वर्ण वाली, उत्तान (उलटे किये हुए) छत्र के आकार में स्थित, पूर्णरूप से अर्जुनस्वर्ण के समान श्वेत, स्फटिक-सी स्वच्छ, चिकनी, कोमल, घिसी हुई, चिकनी की हुई (मृष्ट), निर्मल, निष्पंक, निरावरण छाया (कान्ति) युक्त, प्रभायुक्त श्रीसम्पन्न, उद्योतमय, प्रसन्नताजनक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप (सर्वांगसुन्दर) है।

ईषत्प्राग्भारा-पृथ्वी से निःश्रेणीगति से एक योजन पर लोक का अन्त है। उस योजन का जो ऊपरी गव्यूति है, उस गव्यूति का जो ऊपरी छठा भाग है, वहाँ

सादि-अनन्त, अनेक जन्म, जरा, मरण, योनिसंसरण (गमन), बाधा (कलंकली भाव), पुनर्भव (पुनर्जन्म), गर्भवासरूप वसति तथा प्रपंच से अतीत (अतिक्रान्त) सिद्ध भगवान् शाश्वत अनागतकाल तक रहते हैं।

तत्थ वि य ते अवेदा अवेदणा निम्ममा असंगा य।
संसारविप्पमुक्का पवेसनिव्वत्तसंठाणा।। (158)

[सिद्धविषयक गाथाओं का अर्थ-] वहाँ (पूर्वोक्त सिद्धस्थान में) भी वे (सिद्ध भगवान्) वेदरहित, वेदनारहित, ममत्वरहित, (बाह्य-अभ्यन्तर) संग (संयोग या आसक्ति) से रहित, संसार (जन्म-मरण) से सर्वथा विमुक्त एवं (आत्म) प्रदेशों से बने हुए आकार वाले हैं।

कहि पडिहता सिद्धा? कहि सिद्धा पइट्ठिता?
कहि बोंदि चइत्ता णं? कहि गंतूण सिज्झई?।। (159)

सिद्ध कहाँ प्रतिहत-रुक जाते हैं ? सिद्ध किस स्थान में प्रतिष्ठित (विराजमान) हैं? कहाँ शरीर को त्याग कर, कहाँ जा कर सिद्ध होते हैं?

अलोए पडिहता सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदि चइत्ता णं तत्थ गंतूण सिज्झई।। (160)

(आगे) अलोक के कारण सिद्ध (लोकाग्र में) रुके हुए (प्रतिहत) हैं । वे लोक के अग्रभाग (लोकाग्र) में प्रतिष्ठित हैं तथा यहाँ (मनुष्यलोक में) शरीर को त्याग कर वहाँ (लोक के अग्रभाग में) जा कर सिद्ध (निष्ठितार्थ) हो जाते हैं।

दीहं वा हस्सं वा जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणा सिद्धाणोगाहणा भणिया।। (161)

दीर्घ अथवा ह्रस्व, जो अन्तिमभव में संस्थान (आकार) होता है, उससे तीसरा भाग कम सिद्धों की अवगाहना कही गई है।

जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयम्मि।
आसी य पदेसघणं तं संठाणं तर्हि तस्स।। (162)

इस भव को त्यागते समय अन्तिम समय में (त्रिभागहीन जितने) प्रदेशों से

सघन संस्थान (आकार) था, वही संस्थान वहाँ (लोकाग्र में सिद्ध अवस्था में) रहता है, ऐसा जानना चाहिए।

तिण्णि सया तेत्तीसा धणुत्तिभागो य होति बोधव्वो।

एसा खलु सिद्धाणं उक्कोसोगाहणा भणिया।। (163)

(जिनकी यहाँ पांच सो धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना थी, उनकी वहाँ) तीन सौ तेतीस धनुष और एक धनुष के तीसरे भाग जितनी अवगाहना होती है। यह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है।

चत्तारिय रयणीश्रो रयणितिभागूणिया य बोद्धव्वा।

एसा खलु सिद्धाणं मज्झिम ओगाहणा भणिया।। (164)

(पूर्ण) चार रत्नि (मुण्ड हाथ) और त्रिभागन्यून एक रत्नि, यह सिद्धों की मध्यम अवगाहना कही है, ऐसा समझना चाहिए।

एगा य होइ रयणी अट्ठेव य अंगुलाई साहीया।

एसा खलु सिद्धाणं जहण्ण ओगाहणा भणिता।। (165)

एक (पूर्ण) रत्नि और आठ अंगुल अधिक जो अवगाहना होती है, यह सिद्धों की जघन्य अवगाहना कही है।

ओगाहणाए सिद्धा भवत्तिभागेण होंति परिहीणा।

संठाणमणित्थंथं जरा-मरणविप्पमुक्काणं।। (166)

(अन्तिम) भव (चरम शरीर) से त्रिभाग हीन (कम) सिद्धों की अवगाहन होती है। जरा और मरण से सर्वथा विमुक्त सिद्धों का संस्थान (आकार) अनित्थंस्थ होता है। अर्थात् 'ऐसा है' यह नहीं कहा जा सकता।

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।

अण्णोण्णसमोगाढा पुट्ठा सव्वे वि लोयंते।। (167)

जहाँ (जिस प्रदेश में) एक सिद्ध है, वहाँ भवक्षय के कारण विमुक्त अनन्त सिद्ध रहते हैं। वे सब लोक के अन्त भाग (सिरे) से स्पृष्ट एवं परस्पर समवगाढ़ (पूर्ण रूप से एक दूसरे में समाविष्ट) होते हैं।

फुसइ अणंते सिद्धे सव्वपए सेहि नियमसो सिद्धा।

ते वि असंखेज्जगुणा देस-पदेसेहि जे पुट्ठा।। (168)

एक सिद्ध सर्वप्रदेशों से नियमतः अनन्तसिद्धों को स्पर्श करता (स्पृष्ट होकर रहता) है । तथा जो देश-प्रदेशों से स्पृष्ट (होकर रहे हुए) हैं, वे सिद्ध तो (उनसे भी) असंख्यातगुणा अधिक हैं।

असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य।

सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं।। (169)

सिद्ध भगवान् अशरीरी हैं, जीवघन (संघन आत्मप्रदेश वाले) हैं तथा ज्ञान और दर्शन में उपयुक्त (सदैव उपयोगयुक्त) रहते हैं; (क्योंकि) साकार (ज्ञान) और अनाकार (दर्शन) उपयोग होना, यही सिद्धों का लक्षण है।

केवलणाणुवउत्ता जाणंती सव्वभावगुण-भावे।

पासंति सव्वतो खलु केवलदिट्ठीहऽणंताहि।। (170)

केवलज्ञान से (सदैव) उपयुक्त (उपयोगयुक्त) होने से वे समस्त पदार्थों को, उनके समस्त गुणों और पर्यायों को जानते हैं तथा अनन्त केवलदर्शन से सर्वतः [समस्त पदार्थों को सर्वप्रकार से) देखते हैं।

न वि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं।

जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं।। (171)

अव्याबाध को प्राप्त (उपगत) सिद्धों को जो सुख होता है, वह न तो (चक्रवर्ती आदि) मनुष्यों को होता है, और न ही (सर्वार्थ सिद्धपर्यन्त) समस्त देवों को होता है।

सुरगणसुहं समत्तं सव्वध्दापिंडितं प्रणंतगुणं।

ण वि पावे मुत्तिसुहं णंताहि वि वग्गवग्गृहि।। (172)

देवगण के समस्त सुख को सर्वकाल के साथ पिण्डित (एकत्रित या संयुक्त) किया जाय, फिर उसको अनन्त गुणा किया जाय तथा अनन्त वर्गों से वर्गित किया जाए तो भी वह मुक्ति-सुख को नहीं पा सकता (उसकी बराबरी नहीं कर सकता)।

सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिंडितोजइ हवेज्जा।

सोऽणंतवग्गभइतो सव्वागासे ण माएज्जा।। (173)

एक सिद्ध के (प्रतिसमय के) सुखों की राशि, यदि सर्वकाल से पिण्डित (एकत्रित) की जाए, और उसे अनन्तवर्गमूलों से भाग दिया (कम किया जाए, तो वह (भाजित=न्यूनकृत) सुख (इतना अधिकहोगा कि) सम्पूर्ण आकाश में नहीं समाएगा।

जह णाम कोइ मेच्छो णगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।

न चएइ परिकहेउं उवमाए तहि असंतीए।। (174)

जैसे कोई म्लेच्छ (आरण्यक अनार्य) अनेक प्रकार के नगर-गुणों को जानता हुआ भी उसके सामने कोई उपमा न होने से कहने में समर्थ नहीं होता।

इय सिद्धाणं सोक्खं अणोवमं, णत्थि तस्स ओवम्मं।

किंचि विसेसेणेत्तो सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं।। (175)

इसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है। उसकी कोई उपमा नहीं है। फिर भी कुछ विशेष रूप से इसकी उपमा (सदृशता) बताऊँगा, इसे सुनो।

जह सव्वकामगुणितं पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ।

तन्हा छुहाविमुक्को अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो।। (176)

इय सव्वकालतित्ता अतुलं णेव्वाणमुवगया सिद्धा।

सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता।। (177)

जैसे कोई पुरुष सर्वकामगुणित भोजन का उपभोग करके प्यास और भूख से विमुक्त होकर ऐसा हो जाता है, जैसे कोई अमृत से तृप्त हो। वैसे ही सर्वकाल में तृप्त अतुल (अनुपम), शाश्वत, एवं अव्याबाध निर्वाण-सुख को प्राप्त सिद्ध भगवान् (सदैव) सुखी रहते हैं।

सिद्धत्तिय बुद्धत्तिय पारगतत्ति य परंपरगत त्ति।

उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य।। (178)

णित्थिन्नसव्वदुक्खा जाति-जरा-मरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सोक्खं अणुहंती सासयं सिद्धा।। (179)

वे मुक्त जीव सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, पारगत हैं, परम्परागत हैं, कर्मरूपी कवच से उन्मुक्त हैं, अजरअमर और असंग हैं। उन्होंने सर्वदुःखों को पार कर दिया है। वे जन्म जरा, मरण के बन्धन से सर्वथा मुक्त, सिद्ध (होकर) अव्याबाध एवं शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

विवेचन-सिद्धों के स्थान आदि का निरूपण-प्रस्तुत गाथाबहुल सूत्र (सू. 211) में शास्त्रकार ने सिद्धों के स्थान, उसकी विशेषता, उसके पर्यायवाचक नाम, सिद्धों के गुण, अवगाहना सुख तथा उनकी विशेषता आदि का निरूपण किया है।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के अन्वर्थक पर्यायवाची नाम-(1) संक्षेप में कहने के लिए 'ईषत्' नाम है। (2) थोड़ी-सी आगे को झुकी हुई होने से ईषत्प्राग्भरा है। (3) शेष पृथ्वियों की अपेक्षा पतली होने से 'तनु' नाम हैं। (4) जगत् प्रसिद्ध पतली मक्खी की पांख से भी पतली होने से इसका 'तनुतन्वी' नाम है । (5) सिद्ध क्षेत्र के निकट होने से इसका नाम 'सिद्धि' है, (6) सिद्ध क्षेत्र के निकट होने से उपचार से इसका नाम 'सिद्धालय' भी है। (7-8) इसी प्रकार 'मुक्ति' और 'मुक्तालय' नाम भी सार्थक हैं। (6) लोक के अग्रभाग में स्थित होने से 'लोकाग्र' नाम है । (10) लोकाग्र की स्तूपिकासमान होने से इसका नाम 'लोकाग्रस्तूपिका' भी है। (11) लोक के अग्रभाग में होने से उसके आगे जाना रुक जाता है, इसलिए एक नाम 'लोकाग्र प्रतिवाहिनी' भी है। (12) समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए निरुपद्रवकारी भूमि होने से सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वसुखावहा' नाम भी सार्थक है। '

सिद्धों के कुछ विशेषणों की व्याख्या-'सादीया अपज्जवसिता'-सादि-अपर्यवसित-अनन्त। प्रत्येक सिद्ध सर्वकर्मों का सर्वथा क्षय होने पर ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है; इस कारण से सिद्ध सादि (आदि युक्त) हैं, किन्तु सिद्धत्व प्राप्त कर लेने पर कभी उसका अन्त नहीं होता, इस कारण उन्हें पर्यवसित-'अनन्त' कहा है। इस विशेषण के द्वारा 'अनादिशुद्ध' पुरुष की मान्यता का

निराकरण किया गया है। सिद्धों के रागद्वेषादि विकारों का समूल विनाश हो जाने के कारण उनका सिद्धत्वदशा से प्रतिपात नहीं होता, क्योंकि पतन के कारण रागादि हैं, जो उनके सर्वथा निर्मूल हो चुके हैं। जैसे बीज के जल जाने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही संसारबीजरागद्वेषादि के विनष्ट हो जाने से पुनः संसार में आना और जन्ममरण पाना नहीं होता। इसीलिए उन्हें 'अणेगजाति-जरा-मरण-जोणि-संसार-कलंकली भाव-पुणम्भव-गब्भवासवसही-पवंचसमतिक्कंता' कहा गया है। अर्थ स्पष्ट है। अवेदा=सिद्ध भगवान् स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद (काम) से अतीत होते हैं। अर्थात्-शरीर का अभाव होने से उनमें द्रव्यवेद नहीं रहता और नोकषायमोहनीय का अभाव हो जाने से भाववेद भी नहीं रहता; इसलिए इन्हें अवेदी कहा है। अवेदणा-साता और असातावेदनीय कर्म का अभाव होने से वे वेदना से रहित होते हैं। 'निम्ममा असंगा य' ममत्व से तथा बाह्य एवं आभ्यन्तर संग (आसक्ति या परिग्रह) से रहित होने के कारण वे निर्मम और असंग होते हैं। संसारविप्पमुक्का-संसार से वे सर्वथा मुक्त और अलिप्त हैं, ऊपर उठे हुए हैं। पदेसनिव्वत्तसंठाणा-सिद्धों में जो प्रकार होता है, वह पौद्गलिक शरीर के कारण नहीं होता, क्योंकि शरीर का वहाँ सर्वथा अभाव है, अतः उनका संस्थान (आकार) आत्मप्रदेशों से ही निष्पन्न होता है। सव्वकालतित्ता-सर्वकाल यानी सादि अनन्तकाल तक वे तृप्त हैं, क्योंकि औत्सुक्य से सर्वथा निवृत्त होने से वे परमसंतोष को प्राप्त हैं। 'अतुलं सासयं अव्वाबाहं णेव्वाणं सुहं पत्ता=सिद्ध भगवान् अतुल-उपमातीत-अनन्यसदृश शाश्वत तथा अव्याबाध (किसी प्रकार की लेशमात्र भी बाधा न होने से) निर्वाण (मोक्ष) संबंधी-सुख को प्राप्त हैं। 'सिद्धत्ति य' = सित यानी बद्ध जो अष्टप्रकार के कर्म, उसे जिन्होंने ध्मात=भस्मीकृत कर दिया है, वे सिद्ध। सामान्यतया जो कर्म, शिल्प, विद्या, मंत्र, योग, आगम, अर्थ, यात्रा, अभिप्राय, तप और कर्मक्षय, इन सबसे सिद्ध होता है, ' उसे भी उस उस विशेषणयुक्त कहते हैं, किन्तु यहाँ इन सबकी विवक्षा न करके एक 'कर्मक्षयसिद्ध' की विवक्षा की गई है। शेष सबको निरस्त करने हेतु 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग किया गया है।

बुद्ध का अर्थ है-अज्ञाननिद्रा में प्रसुप्त जगत् को स्वयं जिन्होंने तत्त्वबोध देकर जागृत किया है, सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने से उनका स्वभाव ही बोधरूप है। परोपदेश के बिना ही केवलज्ञान के द्वारा स्वतः वस्तुस्वरूप या जीवादितत्त्वों को जान लिया है। अर्हन्त भगवान् भी 'बुद्ध' होते हैं, इसलिए विशेषण दिया है-पारगता-जो संसार या समस्त प्रयोजनों से पार हो चुके हैं। अतएव कृतकृत्य हैं। अक्रमसिद्धों का निराकरण करने के लिए यहाँ कहा गया है-'परंपरगता'=जो परम्परागत हैं। अर्थात्-जो ज्ञानदर्शन-चारित्र रूप परम्परा से अथवा मिथ्यात्व से लेकर यथासंभव चतुर्थ, षष्ठ, आदि गुणस्थानों को पार करके सिद्ध हुए हैं। अमरा=आयुकर्म से सर्वथा रहित होने से वे अजर-अमर हैं। देह के प्रभाव में जन्म, जरा, मरण आदि के बन्धनों से विमुक्त हैं। जन्मजरामरणादि ही दुःख रूप हैं और सिद्ध इन सब दुःखों से पार हो चुके हैं। इसलिए कहा गया है-'णित्थिन्नसव्वदुक्खा जाति-जरा-मरणबंधणो विमुक्का' सिद्धों के 'असरीरा', णेव्वाणमुवगया, उम्मुक्ककम्मकवचा, सव्वकालतित्ता आदि विशेषण प्रसिद्ध हैं, इनके अर्थ भी स्पष्ट हैं।

'अलोए पडिहता सिद्धा' की व्याख्या-सिद्ध भगवान् लोकाग्र के आगे अलोकाकाश होने से लोक के कारण प्रतिहत हो (रुक) जाते हैं। गति में निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है। वह लोकाकाश में ही है, अलोकाकाश में नहीं होता। इसलिए ज्यों ही आलोकाकाश प्रारम्भ होता है, सिद्धों की गति में रुकावट आ जाती है। इस प्रकार वे धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण प्रतिहत हो जाते हैं और मनुष्य क्षेत्र का परित्याग करके एक ही समय में अस्पृशद्गति से लोक के अग्रभाग (ऊपरी भाग) में स्थित हो जाते हैं।

चरमभव में सिद्धों का संस्थान-अन्तिम भव में जो भी दीर्घ (500 धनुष), ह्रस्व (दो हाथ प्रमाण) अथवा विचित्र प्रकार का मध्यम संस्थान (आकार) उनका होता है, सिद्धावस्था में इससे तीसरा भाग कम आकार (संस्थान) रह जाता है, क्योंकि सिद्धावस्था में मुख, पेट, कान आदि के छिद्र भी भर जाते हैं; आत्मप्रदेश सघन हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भवपरित्याग से कुछ

पहले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम तीसरे शुक्लध्यान के बल से मुख, उदर आदि के छिद्र भर जाने से जो विभागन्यून संस्थान रह जाता है, वही संस्थान सिद्धावस्था में बना रहता है।

सिद्धों की अवगाहना-जिन सिद्धों की चरमभव में अन्तिम समय में 500 धनुष की अवगाहना होती है, उनकी त्रिभागन्यून होने पर $333^{1/3}$ धनुष की होती है, यह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है। इस सम्बन्ध में एक शंका है, कि जैन इतिहासप्रसिद्ध नाभिकुलकर की पत्नी मरुदेवी सिद्ध हुई हैं। नाभिकुलकर के शरीर की अवगाहना 525 धनुष की थी, और इतनी ही अवगाहना मरुदेवी की थी; क्योंकि आगमिक कथन है-संहनन, संस्थान और ऊँचाई कुलकरों के समान ही समझनी चाहिए।' अतः सिद्धिप्राप्त मरुदेवी के शरीर की अवगाहना में से तीसरा भाग कम किया जाए तो वह 350 धनुष सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में ऊपर जो उत्कृष्ट अवगाहना $333^{1/3}$ धनुष बतलाई है, उसके साथ इसकी संगति कैसे बैठेगी? इसका समाधान यह है कि मरुदेवी के शरीर की अवगाहना नाभिराज से कुछ कम होना सम्भव है; क्योंकि उत्तम संस्थान वाली स्त्रियों की अवगाहना उत्तम संस्थान वाले पुरुषों की अवगाहना से अपने अपने समय की अपेक्षा से कुछ कम होती है। इस उक्ति के अनुसार मरुदेवी की अवगाहना 500 धनुष की मानी जाए तो कोई दोष नहीं। इसके अतिरिक्त मरुदेवी हाथी के हौदे पर बैठी बैठी सिद्ध हुई थी, अतएव उनका शरीर उस समय सिकुड़ा हुआ था। इस कारण अधिक अवगाहना होना संभव नहीं है। इस प्रकार सिद्धों की जो उत्कृष्ट अवगाहना ऊपर कही गई है, उसमें विरोध नहीं आता।

अवगाहना सिद्धों की मध्यम अवगाहना चार हाथ पूर्ण और एक हाथ में त्रिभाग कम है। आगम में जघन्य सात हाथ की अवगाहना वाले जीवों की सिद्धि बताई गई है, इस दृष्टि से यह अवगाहना मध्मम न हो कर जघन्य सिद्ध होती है, इस शंका का समाधान यह है कि सात हाथ की अवगाहना वाले जीवों की जो सिद्धि कही गई है, वह तीर्थंकर की अपेक्षा से समझनी चाहिए। सामान्य केवली तो इससे कम अवगाहना वाले भी सिद्ध होते हैं। ऊपर जो अवगाहना बताई गई है,

वह सामान्य की अपेक्षा से ही है, तीर्थंकरों की अपेक्षा से नही। सिद्धों की जघन्य अवगाहना एक हाथ और आठ अंगुल की है। यह जघन्य अवगाहना कूर्मापुत्र आदि की समझनी चाहिए, जिनके शरीर की अवगाहना दो हाथ की होती है।

भाष्यकार ने कहा है-'उत्कृष्ट अवगाहना 500 धनुष वालों की अपेक्षा से, मध्यम अवगाहना 7 हाथ के शरीर वालों की अपेक्षा से और जघन्य अवगाहना दो हाथ के शरीर वालों की अपेक्षा से कही गई है, जो उनके शरीर से त्रिभागन्यून होती है।'

सिद्धों का संस्थान अनियत-जरामरणरहित सिद्धों का आकार (संस्थान) अनित्थंस्थ होता है। जिस आकार को इस प्रकार का है, ऐसा न कहा जा सके, वह अनित्थंस्थ-यानी अनिर्देश्य कहलाता है। मुख एवं उदर आदि के छिद्रों के भर जाने से सिद्धों के शरीर का पहले वाला आकार बदल जाता है, इस कारण सिद्धों का संस्थान अनित्थंस्थ कहलाता है, यही भाष्यकार ने कहा है।आगम में जो यह कहा गया है कि 'सिद्धात्मा न दीर्घ हैं, न ह्रस्व हैं आदि कथन भी संगत हो जाता है। अतः सिद्धों के संस्थान की अनियतता पूर्वाकार की अपेक्षा से है, आकार का प्रभाव होने के कारण नहीं। क्योंकि सिद्धों में संस्थान का एकान्ततः अभाव नहीं है।

सिद्धों का अवस्थान-जहाँ एक सिद्ध अवस्थित है, वहाँ अनन्त सिद्ध अवस्थित होते हैं। वे परस्पर अवगाढ़ होकर रहते हैं, क्योंकि अमूर्तिक होने से सिद्धों को परस्पर एक दूसरे में समाविष्ट होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एक दूसरे में मिले हुए लोक में अवस्थित हैं, इसी प्रकार अनन्त सिद्ध एक ही परिपूर्ण अवगाहनक्षेत्र में परस्पर मिलकर लोक में अवस्थित हैं। वे सभी सिद्ध लोकान्त से स्पृष्ट रहते हैं। नियम से अनन्त सिद्ध आत्मा के सर्वप्रदेशों से स्पृष्ट रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि अनन्त सिद्ध ऐसे हैं, जो पूर्ण रूप से एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं और जिनका स्पर्श देश-(किंचित्) प्रदेशों से है ऐसे सिद्ध तो उनसे भी असंख्यात गुणे अधिक हैं। क्योंकि अवगाढ प्रदेश असंख्यात हैं।

सिद्ध, केवलज्ञान से सदैव उपयुक्त-सिद्ध भगवान् के केवलज्ञान-दर्शन का उपयोग सदैव लगा रहता है, इसलिए वे केवलज्ञानोपयुक्त होकर जानते हैं, अन्तःकरण आदि से नहीं, क्योंकि वे शुद्ध आत्ममय होने से अन्तःकरणादि से रहित हैं।

सिद्धः जीवघन कैसे?-सिद्धों को जीवघन अर्थात् सघन आत्मप्रदेशों वाला, इसलिए कहा गया है कि सिद्धावस्था प्राप्त करने से पूर्व तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम काल में उनके मुख, उदर आदि रन्ध्र आत्मप्रदेशों से भर जाते हैं, कहीं भी आत्मप्रदेशों से वे रिक्त नहीं रहते। **(प्रज्ञापन सूत्र द्वि.)**

कर्मयोनि और भोगयोनियाँ

हम क्यों कहते हैं कि केवल मनुष्य ही कर्मयोनि है ? देवता, सिद्ध, यक्ष-राक्षस-ये सब कर्म करने में मनुष्य से कहीं अधिक समर्थ है। कहीं अधिक क्रियाशक्ति और बुद्धि उनमें है। कर्म तो क्षुद्र कीटतक करते हैं। ऐसी दशा में केवल मनुष्य ही कर्मयोनि क्यों?

1. पहले पृथ्वी के प्राणियों को ले लें। पृथ्वी में जो प्राणी हैं, उनका एक प्रकारका विभाजन है-1 ऊर्ध्वस्रोत, 2-तिर्यक् स्रोत और 3. अधःस्रोत। वृक्षादि वनस्पति 'ऊर्ध्वस्रोत' हैं। ये अपनी जड़ोंसे रस ग्रहण करते हैं और वह रस ऊपरकी ओर जाकर उन्हें पुष्ट करता है। प्रकृति में जो उत्थान-पतनका (विकास का ही नहीं) चक्र घूम रहा है, इसमें वे विकासोन्मुख हैं। प्रकृति उन्हें ऊपर ले जा रही है, यह उनका ऊर्ध्वस्रोत होना बतलाता है। पशु-पक्षी आदि सब 'तिर्यक्स्रोत' हैं। ये जो आहार ग्रहण करते हैं, वह उनके शरीरमें आड़े चलता है। प्रकृति इसके द्वारा सूचना देती है कि ये मध्यमावस्थामें हैं। ये ऊपर भी जा सकते हैं और नीचे भी। ऊर्ध्वमुख गति और अधोमुख गति-दोनों में ही मध्यमावस्था आती है। केवल मनुष्य 'अधःस्त्रोत' प्राणी है। यह जो आहार मुख से ग्रहण करता है, वह नीचे की ओर जाता है। प्रकृति इस प्रकार सूचना देती है कि उसके राज्य में विकासकी चरम सीमा यहाँ हो चुकी। यहाँ प्रयत्न करके यदि तुम जन्म-मरणसे छूट नहीं जाते,

प्रकृति के प्रशासनसे परे नहीं पहुँच जाते तो प्रकृति अब तुम्हें नीचे ले जानेवाली है। जिसको स्वयं प्रयत्न करके प्रकृति के प्रशासन से परे होना है, वह 'कर्मयोनि' का प्राणी तो हुआ ही।

2. पृथ्वीपर मनुष्य ही कर्मयोनि का प्राणी है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मनुष्य का बच्चा सर्वथा अशिक्षित उत्पन्न होता है। उसे सब कुछ उत्पन्न होने के पश्चात् ही सीखना है। साथ ही सब कुछ सीखने की योग्यता, सब प्रकार से रह लेने की क्षमता उसे दी गयी है। यह बात पृथ्वी के दूसरे किसी भी प्राणी में नहीं है।

पशु-पक्षियों के ही नहीं, नन्हे कीटोंतक के शिशु अपने जीवन निर्वाहके लिये आवश्यक संस्कार माता के उदर से लेकर उत्पन्न होते हैं। वे भोगयोनिके प्राणी हैं; अतः अपनी योनि के भोगों को भोगनेका आवश्यक ज्ञान उन्हें जन्म से ही प्राप्त होता है। बंदर के बच्चेको वृक्षपर चढ़ना या माताके पेटसे चिपके रहना सिखलाना नहीं पड़ता। गाय के बछड़े को तैरना कब सिखलाया जाता है! प्रत्येक पक्षी अपनी परम्पराके अनुसार ही घोंसला बनाना किससे सीखता है? बतखका शिशु अण्डे से निकलते ही तैरने लगता है कबूतर और बुलबुलको आप बया पक्षी के साथ बरसों पालकर देख लीजिये। बयाके समान सुदृढ़ कलापूर्ण घोंसला बनाना तो दूर, इन्हें कोई अटपटा बंद घोंसला भी बनाना नहीं आयेगा। बुलबुल वही कटोरी जैसा घोंसला बनायेगी। ये पशु-पक्षी सिखलानेपर बहुत कुछ सीख लेते हैं, यह ठीक है; किंतु उस शिक्षाको अपने काममें लेना इन्हें कदाचित् ही आता है। अपने शिक्षक के लिये कार्य न करना हो तो ये अपने पुराने ढंगपर लौटना ही पसंद करते हैं।

मनुष्य के बच्चे की अवस्था सर्वथा भिन्न है। वह कर्मयोनि में आया है; अतः उसे कुछ भी सिखलाकर भेजा नहीं गया है । सब उसे यहीं सीखना है। लेकिन परिस्थितिके अनुसार रह लेने और सीख लेनेकी क्षमता उसे दी गयी है। मनुष्य जल में तैर सकता है, वृक्ष पर चढ़ सकता है; किंतु कब? जब उसने ऐसा करना सीखा हो। अन्यथा मनुष्य जल में डूब जाता है। उसे वनके पशु भले मार डालें; किंतु वृक्षपर चढ़ना उसने नहीं सीखा है तो चढ़ नहीं पाता है। मनुष्य के

बच्चे की कोई भाषा नहीं, कोई गृह निर्माण-पद्धति नहीं। जो भाषा सिखलायी जाय, उसे सीख लेगा। जैसा रहन-सहन सिखलाया जाय, वैसे रहने लगेगा।

भेड़ियों के द्वारा पाले गये मनुष्य के बच्चे मिले हैं। वे भेड़िये की माँदमें रहने और हाथ-पैरों से भेड़ियों की भाँति चलने-दौड़ने तथा कच्चा मांस खानेके अभ्यासी हो चुके थे। भेड़ियों के समान गुर्रानामात्र ही उन्हें आता था। एक उदाहरण हिरणों के द्वारा पाले गये बच्चे का भी पढ़ने को मिलता है। बतलाया गया है कि वह बच्चा मुख से घास चरता था और हिरणों की गति से छलांग लगाता दौड़ता था। यह कर्मयोनिके प्राणी की ही विशेषता है कि वह उस परिस्थिति के अनुसार अपनेको बना सकता है, जो प्रारब्ध उसे देता है। किसी भोग के लिये आवश्यक ज्ञान एवं उपकरण देकर उसे प्रकृति नहीं भेजती; क्योंकि वह भोगयोनि' का प्राणी ही नहीं है।

3. अब देवतादि भोगयोनिके उच्च प्राणियों को ले। बुद्धि उनमें मनुष्य से अधिक है; किंतु उनको प्रकृति ने स्थूलशरीर नहीं दिया है। धर्माधर्म की उत्पत्तिके लिये स्थूल देह ही आवश्यक नहीं है, यह भी आवश्यक है कि वह कर्म पृथ्वी पर किया जाय। दैत्यराज बलिने बलपूर्वक स्वर्गपर अधिकार कर लिया, तब दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने उन्हें समझाया' स्वर्गपर इस प्रकार अधिकार स्थायी नहीं हो सकता। अधिकार तभी स्थायी होता है, जब उस अधिकारको प्राप्त करनेका जो नियम है, उसे पालन किया जाय। अन्यथा सृष्टिका नियन्ता किसी-न-किसी प्रकार अनधिकारीको अनधिकार प्राप्त स्थानसे च्युत कर ही देता है। स्वर्गका स्वामित्व सौ अश्वमेध यश करनेवालेको मिले, यह नियम है। तुम यश करके यहाँके नियमित अधीश्वर बन जाओ तो तुम्हें सृष्टि-नियन्ता पदच्युत नहीं कर सकेगा।'

बलिको यज्ञ करने के लिये पृथ्वीपर आना पड़ा। उन्होंने नर्मदा के उत्तरतटपर अपनी यज्ञशाला बनायी; क्योंकि समस्त लोकोंमें सृष्टिकर्ता ने इस धरा को ही कर्मभूमि बनाया है। दूसरे सब लोक तो भोगभूमि हैं। धरा ही कर्मक्षेत्र है। इसी क्षेत्रमें कर्म की खेती सम्भव है। यहीं हुए शुभ या अशुभ कर्मों का भोग दूसरे लोकोंमें कर्ताको मिलता है; जैसे बृक्षकी जड़ पृथ्वी में ही रहती है, पृथ्वी के रससे

ही वह बढ़ता-फलता है। अब यह बात भिन्न है कि कुछ बनस्पति पृथ्वी पर फैलकर वहीं फलती हैं, कुछके कन्द पृथ्वी के भीतर बनते हैं और कुछ के फल ऊपर आकाशमें उनकी डालोंमें लगते हैं। कर्म का फल ऊपर-नीचे यापृथ्वीपर, कहीं भी होता हो, कर्मरूपी वृक्ष के उगने-पोषण पानेका स्थान पृथ्वी ही है।

देवता, दैत्य या उपदेवता कर्म कर तो सकते हैं; किंतु तभी कर सकते हैं, जब वे पृथ्वीपर आकर और मनुष्यरूपमें रहकर कर्म करें। पृथ्वी पर आकर अपने देवरूपमें वे कुछ करें तो वह कर्म कोई पाप-पुण्य उत्पन्न नहीं करता। देवता पृथ्वीपर आकर किसी को वरदान दे जायँ या शाप, इससे उन्हें कोई पाप-पुण्य नहीं होता। उनके अपने लोक तो भोगलोक हैं ही। वहाँ वे कोई शुभ कर्म करें तो वह पुण्य नहीं उत्पन्न करता। वैसे महर्लोक और जनलोकमें जो ऋषि-मुनि रहते हैं, वे सत्सङ्ग में ही लगे रहते हैं। ऐन्द्रियक भोगोंमें उनकी रुचि नहीं है; किंतु उन लोकों का सत्सङ्ग ज्ञान-ध्यान मोक्षप्रद नहीं बना करता। यदि कभी किसी को वहाँ ज्ञान होता भी है तो उसे होता है, जो धरा से ही उसका अधिकारी होकर जाता है। देवताओं को अनेक बार भगवान् शिव एवं भगवान् नारायणके दर्शन होते हैं। श्रीराम-श्रीकृष्णादि जब पृथ्वीपर अवतार लेते हैं तो देवता उनका दर्शन करते हैं। अनेक बार उनकी सेवा भी करते हैं और उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में भी आते हैं; किंतु इससे न उन्हें भक्ति मिलती और न उनकी मुक्ति होती है। वे तो जैसेके तैसे ही बने रह जाते हैं, जब कि पृथ्वी के पशु-पक्षी-वृक्षादिका भी उद्धार अवतार काल में भगवान् के सम्पर्क में आने पर हो जाता है।

देवलोकादि 'भोगलोक' हैं। वहाँ जो देह प्राप्त होता है, वह 'भोगदेह' है उसमें नवीन कर्म-संस्कार ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती। उस देहमें रहते अपवादस्वरूप ही कदाचित् पृथ्वीपर आकर और स्थूलदेह लेकर कर्म करनेकी प्रवृत्ति जागती है, जैसे बलिमें जागी। अन्यथा वहाँ भोगों में ही रुचि एवं प्रवृत्ति रहती है।

धरा कर्मभूमि है और यहाँ भी केवल मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है। देवता भी कर्म करना चाहें तो उन्हें धरापर मनुष्य बनकर आना पड़ता है।

'न हि मानुषात् परतरं हि कश्चित्।'

'मनुष्य से श्रेष्ठ दूसरा कोई कहीं किसी लोक में नहीं है। लेकिन क्या द्विपाद प्राणी का नाम ही मनुष्य है? मनुष्ययोनि की कुछ विशेषताएँ हैं, जिन्हें यहाँ दे देना उत्तम होगा। देवता तथा दूसरे पुण्यलोकों के सब प्राणी क्षयोन्मुख हैं। वे अपने पुण्यों का भोग करके उन्हें क्षीण कर रहे हैं। वे वहाँ से नीचे गिरने के मार्ग पर हैं। उनकी अवनति ही होनेवाली है। पशु-पक्षी और वृक्ष ही नहीं, नारकीय प्राणी भी ऊर्ध्वमुख हैं। वे प्रगतिके मार्गपर हैं। वे अपने पापों-अशुभ कर्मोंको भोगकर क्षीण कर रहे हैं। वे विकासोन्मुख हैं। उनकी उन्नति ही होनेवाली है।

मनुष्य कहाँ है-यह उसे स्वयं देखना है। वह जो कुछ करेगा, कर्मयोनिका प्राणी होने के कारण उसको उसका फल भोगना है। वह शुभकर्म करता है तो उत्थान के मार्ग पर है-देवताओं से भी श्रेष्ठ है। देवत्व ही नहीं, मोक्ष भी उसका प्राप्य बन सकता है। यदि अशुभ कर्म करता है तो वह पतन की ओर जा रहा है। नरक और पशुत्व भी उसके भाग्यमें हैं।

धर्म-बुद्धि ही मनुष्य की विशेषता है। धर्माधर्म को समझकर जो धर्ममें लगे, वह मनुष्य है। जो केवल खानेपीने तथा अन्य भोगों को जुटाने में लगा है, वह कितना भी बड़ा विद्वान् बुद्धिमान् हो, वह 'द्विपाद पशु' ही है। वह तो पशुत्व से भी नीचे जा रहा है!

कायसिद्धि के प्रकार

अर्वाचीन काल में वज्रयान मार्ग के पथिक साधकों के भावसे भावित बाउल और सहजिया साधकों के भाव के द्वारा प्रभावित होकर नाथ-योगमार्ग में कुछ विशिष्टता आयी। उसके फलस्वरूप उन लोगों ने कायसिद्धि के लिये अतिगुह्य 'चारिचन्द्र साधन' नामक उपाय का अवलम्बन किया। इस मतमें 'सापेक्ष' और 'निरपेक्ष' नामसे दो प्रकारके 'अमरत्व' माने जाते हैं। अनपेक्ष अमरत्व वस्तुतः 'नाथनिरञ्जनपद' की प्राप्ति है और वही पूर्णता है। सापेक्ष अमरत्व 'सिद्धपद' की प्राप्ति है। अमृतधारा को स्रवित करना तथा उसके द्वारा देह को संजीवन प्रदान

करना उपर्युक्त अमरताप्राप्तिके उपायके रूप में वर्णित हुआ है। अधोमुख सहस्रदलकमल को ऊर्ध्वमुख करके उस कमल में स्थित अमृत के द्वारा मन को अभिषिक्त करना आवश्यक है। यहाँ प्रणव का ध्यान जरूरी होता है। ब्रह्मरन्ध्रके द्वार तथा त्रिवेणीके द्वार को अवरुद्ध करना आवश्यक होता है। इस प्रकार के उपाय का अवलम्बन कर सकने पर सुधा-धारा फिर अधोदेश में गिरने नहीं पाती। योगियोंके मतसे यह क्रिया 'आकाशचन्द्रभेद' नामसे परिचित है। यहाँ इस बातको जान लेना आवश्यक है कि देहरस अमृतरूप में परिणत होकर ऊर्ध्वगामी वायुके द्वारा ऊपर जाकर सहस्रार में संचित होता है। इस मतसे चार प्रकारके चन्द्र माने जाते हैं -(1) आदिचन्द्र, (2) निजचन्द्र, (3) उन्मत्तचन्द्र और (4) गरलचन्द्र।

रसात्मक निजचन्द्र को ऊर्ध्व खींचकर आकाशस्थ चन्द्र में संयोजित करना चाहिये। ऊर्ध्वगति के फलस्वरूप रस अमृतरूप में परिणत हो जाता है। आकाशस्थ चन्द्र, जो सहसार से संलग्न होता है, इस प्रकार के गरलचन्द्र को योगीजन पान करते हैं। गरलचन्द्रका पान और प्रणवका ध्यान आवश्यक होता है। गरलचन्द्र के द्वारा देह और मन का शोधन और संजीवन सम्पन्न होने पर 'सिद्धदेह' प्राप्त होता है।

महायानी बौद्धों ने भी कायसाधन के विषय में उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि परप्रज्ञा-प्राप्ति के लिये बोधिसत्व भूमि में प्रवेश करना आवश्यक है तथा भूमि भेद करना भी आवश्यक है। इसके सम्पन्न हो जाने पर प्रज्ञापारमिताकी प्राप्ति होती है। यही बुद्धत्वका सम्पादक महाज्ञान है। अक्लिष्ट अज्ञान जबतक वर्तमान है, तबतक पूर्णत्वकी प्राप्ति सम्भव नहीं तथा सम्यक् सम्बोधि भी पैदा नहीं होती। परंतु बोधिसत्त्व की 'कायसम्पद्' हेत्ववस्था में ही उत्पन्न हो जाती है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

तान्त्रिक बौद्धमतसे देहरसात्मक बिन्दुको 'बोधिचित्त' कहते हैं। चतुर्दल कमल से इसको ऊर्ध्व के उष्णीष कमल में स्थापन करना योगसाधना का फल है। षट्चक्रभेद के समान ही यह उत्थापनक्रिया बहुत कठिन है। पहले बिन्दु की निम्नतम चक्र में स्थिति आवश्यक है। तत्पश्चात् निर्माणचक से उसको महासुखचक्र में उत्थापित किया जाता है। निर्माणचक्र में ही बोधिचित्तका उद्भव, निरोध और

ऊर्ध्वगति सम्पादन करना पड़ता है। जहाँ बोधिचित्त का उदय होता है, वह कर्ममुद्राका स्थान है। उद्भव का तात्पर्य है-क्षोभ। तत्पश्चात् उस क्षुब्ध बिन्दु को 'अवधूति' नामक मध्यमार्गद्वारा संचालित करना पड़ता है क्षुब्ध बिन्दु के ऊर्ध्वगमन के पथ में विभिन्न प्रकार के आनन्द का आस्वादन होता है। बिन्दु के अधोगमन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति अवश्य ही होती है, परंतु वह अस्थायी और मलिन होने के कारण त्याज्य है। बिन्दुकी अधोगति के फलस्वरूप जैसे कामदेह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उसके ऊर्ध्वगमन में दिव्यदेह प्रकट होता है।

कायसाधन के सम्बन्ध में यह बात जान लेना आवश्यक है कि बिन्दुका अधःस्खलन किसी प्रकार भी न होने पावे; क्योंकि उससे मृत्यु अवश्यम्भावी है। योगिगण कहते हैं-'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्'। बिन्दु की ऊर्ध्वगति सम्पादन करनेके फलस्वरूप कायसाधन सम्पन्न होता है। बिन्दु स्वभावतः मलयुक्त होनेके कारण अधोगतियुक्त है। उस अशुद्ध बिन्दु को बौद्ध तान्त्रिकगण 'संवृतिबोधिचित्त' नामसे अभिहित करते हैं। अशुद्ध बिन्दु में भूमि-प्रवेश की सामर्थ्य नहीं होती। अतएव उसके द्वारा भूमिभेद भी नहीं हो सकता तथा उसके फलस्वरूप प्रज्ञा की भी शुद्धि नहीं हो सकती। अतएव बुद्धत्वकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात रह जाती है। इसी कारण सबसे पहले शोधनशक्ति और निरोधशक्तिके द्वारा बिन्दु की अधोगति को रोकना आवश्यक है। तत्पश्चात् कर्ममुद्रा के द्वारा ऊर्ध्वस्रोत खुलकर अमरत्वका मार्ग सिद्ध होता है। यहाँ ही 'बुद्धकाय' का उदय होता है। निर्माणचक्र में बिन्दुकी गति और स्थितिके फलस्वरूप जिस कायका उदय होता है, उसका नाम है-निर्माणकाय'। बिन्दु के ऊर्ध्वगमन के साथ-साथ आनन्दका भी तारतम्य होता है। अवधूतिमार्ग के आश्रय से बोधिचित्त जब धर्मचक्रतक उठता है तब पूर्वोक्त आनन्द परमानन्दरूप में परिणत होता है। निर्माणचक्र में जो 'कर्ममुद्रा' होती है, वह धर्मचक्र में 'धर्ममुद्रा' कहलाती है। इस अवस्था में बोधिचित्त योगी के शिरोदेश में रहता है। इसके बाद उत्कर्षको प्राप्त होने पर सम्भोगचक्र में 'विरमानन्द' का अनुभव होता है। उस समयकी मुद्राका नाम 'महामुद्रा' है। 'परमानन्द' और 'विरमानन्द' क्रमशः भव और निर्वाणस्वरूप हैं। इस समय 'समयमुद्रा' कार्य

करती है, परंतु यह भी पूर्णताकी प्राप्ति नहीं है। यहाँ क्लेशावरण और ज्ञेयावरण निवृत्त हो जाते हैं तथा भव और निर्वाण एकाकार हो जाते हैं। उसके ऊपर महासुखचक्र में 'सहजानन्द' की उपलब्धि होती है। तब अहंबोध सर्वथा विलुप्त हो जाता है।

जैसे निर्माणचक्र में बुद्ध का 'निर्माणकाय' आविर्भूत होता है, उसी प्रकार धर्मचक्र में 'धर्मकाय', सम्भोगचक्र में 'सम्भोगकाय' तथा महासुखचक्र में 'महासुखकाय' प्रकट होता है। यही दिव्यदेह का आविर्भाव है। इस स्थितिमें दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, सर्वज्ञत्व, विभुत्व आदि महागुणों का आविर्भाव होता है। सबके अन्त में सम्यक् सम्बुद्धरूप में बोधिचित्तकी स्फूर्ति होती है।

आनन्द ही अमृत है। चन्द्रकला से इस अमृतका उन्मेष होता है। अवधूतिमार्ग के द्वारा जब बोधिचित्त ऊर्ध्वगमन करता रहता है, तब विभिन्न प्रकारके आनन्द का उन्मेष होता है। षोडश कलात्मक चन्द्रकी प्रथम पाँच कलाओं से धर्मचक्र में परमानन्दका आविर्भाव होता है, मध्यम पञ्चकलाओं और अन्तिम पञ्चकलाओं से अन्य दो प्रकारके आनन्दका उद्भव होता है। 'अमृता' नामक सोलहवीं कला महासुखचक्र में सहजानन्दरूप में अनुभूत होती है। यही अमृतकला मानवदेह का अमरत्व सम्पादन करती है।

सहज साधक वैष्णवगण भी कायसाधन को साधना के उद्देश्य के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि देह में चार सरोवर विद्यमान हैं। कायसाधन की सिद्धि होने पर ये सरोवर प्रस्फुटित होते हैं। सरोवर के दो वामाङ्ग हैं और दो दक्षिणाङ्ग हैं। ये प्रकृति-पुरुषरूप हैं। वाम अङ्ग में 'काम-सरोवर' और 'मानस-सरोवर' हैं तथा दक्षिण अङ्ग में 'प्रेम-सरोवर' और 'अक्षय-सरोवर' हैं। संतवाणी से ज्ञात होता है कि मानससरोवर में स्नान कर लेने के बाद व्यापक मनोमय राज्य प्राप्त होता है। पश्चात् उसको अतिक्रम करके महाशून्य-भेद करना पड़ता है। अन्यथा चिदानन्दमय भगवद्धाम प्राप्त नहीं होता। अक्षय-सरोवर ही भगवद्धाम है। महाप्रलयमें सारे विश्व का नाश हो जाने पर भी एकमात्र अक्षय-सरोवर ही विद्यमान रहता है।

मानवदेह में यह स्थान मस्तकमें स्थित सहस्रदल कमलमें अवस्थित है। यह सहजपूर है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का भेद होनेपर इसकी प्राप्ति होती है। यहाँ काल नहीं है, जरा नहीं है, मृत्यु भी नहीं है।

सहज साधकगण कार्यसिद्धि के विषय में तीन भूमि स्वीकार करते हैं। प्रथम 'प्रवर्त्तकभूमि' है, द्वितीय 'साधकभूमि' है और तृतीय 'सिद्धभूमि' है। प्रथम भूमि में नामसाधना, पश्चात् गुरुप्राप्ति के बाद मन्त्र-ग्रहण और मन्त्रसाधना होती है। जबतक मन्त्रसिद्धि नहीं हो जाती, तबतक प्रवर्त्तक अवस्था का अतिक्रमण सम्भव नहीं है। द्वितीय भूमिमें भावसाधना और प्रेमसाधना होती है। भावदेह-प्राप्ति के बाद उसी देह में साधना चलती रहती है। सिद्धावस्था में तृतीय भूमिमें रसमय तनुकी प्राप्ति होती है तथा श्रीभगवान् के नित्य-लीला-मण्डलमें प्रवेश प्राप्त होता है।

मृत्युकाल में जीव नयी देह ग्रहण करके जीर्णकायको त्याग देता है। यही वस्तुस्थिति है। इस प्रकार नयी नयी देह धारण करने से अवश्य ही देह की शुद्धि हो जाती है। परंतु इससे चरम सिद्धि नहीं प्राप्त होती। प्राकृत सत्त्वशुद्धि के प्रकर्ष से जैसे अप्राकृत सत्त्वरूप नहीं होता; क्योंकि पूर्वोक्त प्राकृत सत्त्व में रजः और तमका सम्पर्क अवश्य रह जाता है, इसी प्रकार देहसे देहान्तर की प्राप्ति होने पर भी उसमें अशुद्ध माया का लेश रह ही जाता है। शुद्ध मायाका योग उसमें नहीं आता। सिद्धसम्प्रदायके मत से माया तीन प्रकारकी है-अशुद्धा माया,' 'शुद्धा माया' और 'महामाया'। शुद्धा माया शब्दसे यहाँ शैवागम-प्रसिद्ध बिन्दुतत्त्व समझना चाहिये। महामाया प्रायः चित्-शक्तिरूप है। अशुद्ध सत्त्व विकारस्वभाव है, किंतु शुद्ध तत्त्व अविकारी है। इसी कारण सम्यक् देह-शुद्धि करने के लिये अशुद्ध मायाजात देहको शुद्ध मायाकोटिमें ले आना आवश्यक है। जब इस प्रकार शुद्धि हो जाती है, तब मायासे उत्पन्न विकार-समूह तिरोहित हो जाते है। परंतु शुद्धमार्ग में अवस्थित मुक्तपुरुष के अनुग्रह के बिना शुद्धदेह की उत्पत्ति सम्भव नहीं। जब तक अशुद्ध प्राकृत देह शुद्ध मायामयदेहमें परिणत नहीं हो जाती, तबतक मृत्यु और संसारकी निवृत्ति नहीं होती। कर्मका अभाव होने पर भी अशुद्ध देहके बीज तब भी रह जाते हैं, अतएव संसरण होगा ही। परंतु यह संसरण स्वेच्छाधीन है। यह किसी कर्म के

अधीन नहीं है। परंतु सूक्ष्मदृष्टि से देखनेपर सूक्ष्म कर्म वहाँ भी वर्तमान है। शुद्धमार्ग में अवस्थित रुप कृपा प्राप्त होने पर शुद्ध बीज प्राप्त होता है और अशुद्ध देहकी शुद्धि भी होती है, तब मृत्युजय हो जाता है। मुक्त पुरुष के अनुग्रह से अशुद्ध माया शुद्ध मायामें परिणत होती है और तब देह को भी अमरत्व प्राप्त होता है।

यह शुद्ध देह अमृतकलामय 'प्रणवतनु' के नामसे प्रसिद्ध है। प्रणवत की प्राप्ति ही 'जीवन्मुक्ति' है। इस प्रकारका जीवन्मुक्त पुरुष जीव होकर भी ईश्वरकल्प होता है। वह शुद्ध और अशुद्ध जगत् के संधिस्थल में रहता है। अशुद्ध जगत् के साथ उसका सम्बन्ध कुछ थोड़े समयतक रहता है। परामुक्ति उसके समीप रहती है। जब उसको परामुक्तिकी प्राप्ति होती है, तब योगी चिन्मय ज्योति स्वरूप में अवस्थान करता है और देहमें रहता है ज्योतिस्वरूप में। तब मायाका सम्बन्ध नहीं रहता। शुद्ध माया भी उस समय नहीं रहती। जीवन्मुक्तकी देह शुद्ध मायामय होती है, परमुक्तकी देह महामायामय होती है-परमुक्तकी देह ज्ञानमय होती है, वहाँ देह और आत्माका भेद विगलित हो जाता है। प्रणव-देहधारी जीवन्मुक्त पुरुष मायाग्रस्त-मुमुक्षु जीव का माया गर्भ से उद्धार करते हैं। शुद्ध वासना की निवृत्ति होने पर वे शुद्ध मायाराज्यका भी त्याग करते हैं। उनका देह अकस्मात् दिनके प्रकाश में ही तिरोहित हो जाता है। सिद्धलोग कहते हैं कि देह में रहते हुए ही जीवन्मुक्ति प्राप्त करना होगा, मृत्यु के बाद नहीं। सिद्धमत से मनुष्य का एक कर्तव्य है-देहशुद्धि और चित्तगुद्धि। दोनोंके मिलनमें परसत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। रससिद्ध और नाथ-योगिगण का भी यही सिद्धान्त है।

पाश्चात्य देश में भी कायसिद्धि के सम्बन्धमें विशेष अनुशीलन होता था। उन देशों के प्राचीन इतिहास और गुप्त संस्कृति की आलोचना करने पर इस विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है। ईसाई मत के प्रामाणिक तथ्य यहाँ उल्लेखनीय जान पड़ते हैं।

बाइबिलके 'नव विधान' (New Testament) के चतुर्थ खण्ड में 'अप्राकृत जन्म' शब्दका उल्लेख मिलता है। इससे जान पड़ता है कि इस शब्द के द्वारा दिव्यदेहप्राप्तिका ही संकेत है।

ज्ञान से ज्ञेय का भेद दूर करके ज्ञान को ज्ञेय के आकार में परिणत करने की शक्ति ही 'महाज्ञान' का लक्षण है। मनुष्यशरीर में अनादिकाल से असंख्य शक्तियाँ सुप्तावस्था में वर्तमान हैं। इस शक्ति-समूहको जाग्रत् किये बिना ज्ञान महाज्ञान में परिणत नहीं हो सकता। फलतः आत्मविकास भी नहीं होता और उसके अभाव में स्वरूप प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। शक्तिजागरण का उपाय है-अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन। उन्मीलित शक्तिसमूह के द्वारा ही मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है तथा जरा-मरण आदि से रहित, मल और पापलेश से हीन दिव्यदेह का उदय होता है। यही द्विजत्व-सम्पादनकारी द्वितीय जन्म (Regeneration अथवा Birth from Above) है।

हमारे देश में जैसे उपनयन संस्कार के प्रभाव से अथवा दीक्षा के फल से शुद्ध देहका उदय माना जाता है, उसी प्रकार ईसाई मत में दीक्षा (Baptism) के प्रभाव से शुद्ध देह प्राप्त होती है। ऐसा उनके ग्रन्थों में वर्णित है। अग्र प्रश्न यह होता है कि अन्तर्दृष्टिका उन्मीलन किस प्रकार हो? इसके उत्तर में कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के मत मे पूर्णसत्य अखण्ड एकरस स्वभाव है। वही महासाम्यरूप है। वह सब प्रकार के करणों के अगोचर होने के कारण निर्विकल्पस्वरूप वस्तु है। वह न द्वैत है, न अद्वैत। इस मत में एक अचिन्त्य बाह्य सत्ता मानी गयी है। उसको हम विश्वकी सृष्टिका मूल, एक आदिद्रव्य कहकर वर्णन कर सकते हैं। सृष्टि के समय इस सत्ता में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप वह विभक्त होकर सूक्ष्म, स्थूल असंख्य विभिन्न जड अंश के रूप में परिणत हो जाता है। पूर्ण सत्ताके बाहर क्रमशः नित्य और अनित्य-मण्डलका उदय होता है। उसमें नित्य-मण्डल सत्य है और अनित्य-मण्डल मिथ्या। पूर्णत्व इन दोनों के परे की अवस्था है। नित्य-मण्डल निर्विकार है। अनित्य-मण्डल विकारमय है। नित्य-मण्डल में एकता का भान रहनेपर भी, बहुकी समष्टि होनेके कारण उसमें वास्तविक एकता नहीं है, समष्टिगत वैकल्पिक एकता अवश्य उसमें है। सांख्यमतके अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है; किंतु साम्यावस्था में उसमें जिस प्रकार की एकता रहती है,

वैसी ही एकता-इस नित्य-मण्डल में है। पूर्णस्वरूप में जो एकता है, वह साम्यरूप नहीं है; अतएव वह विलक्षण स्वभाव की है।

यह नित्य-मण्डल श्रीभगवान्का भावरूप अथवा आदिकल्पनारूप है। यही सृष्टि के समय भौतिकरूप में प्रकट होता है; परंतु सृष्टि के उन्मेष के समय ये दोनों मण्डल अव्यक्त अवस्था में रहते हैं। चिद्रूप (Logo) में नित्य-मण्डल का अधिष्ठान होता है। इसके साथ सुष्टि-प्रकृति (Archeus) का क्या सम्बन्ध है? ईसाई योगियों के मतसे यह चित् और अचित्-सत्ता समकालीन और समभावापन्न कही जाती है। यह चित् मूल द्रव्यमें आच्छन्न अवस्था में निहित रहता है तथा मूलद्रव्यरूपा प्रकृति भी चित्स्वरूपकी प्राणशक्ति है। सांख्य के मत से जैसे सत्त्व और पुरुष में कल्पित सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। चित् ज्योतिरूप में प्रतिभासित होता है। द्वैत शैवागम में जैसे बिन्दु के क्षोभ के फलस्वरूप चित् शक्ति की अभिव्यक्तिरूप ज्योति का प्रकाश होता है, यहाँ भी बहुत कुछ वैसा ही होता है। अखिल सृष्टि, सब प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म देह इसी ज्योति से ही आविर्भूत होती है। ईसाई योगियों की परिभाषा में इस ज्योति को (Pneuma) कहते हैं।

यह ज्योतिरूपा मूलशक्ति समस्त जड वस्तुओं में निहित है तथा इसके प्रभावसे विभिन्न उपादान विभिन्न कार्यरूपको प्राप्त होते हैं। 'नव विधान' में Paraclete नामकी जीवात्मशक्तिका उल्लेख किया जाता है। वह इसी मूलशक्ति का ही दूसरा नाम है। महाज्ञान-सम्पादन करते समय यही शक्ति कार्य करती है। इसको त्यागकर कोई निर्माण कार्य करना सम्भव नहीं है। भारतीय योगियों के समान ईसाई योगी भी पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकताको स्वीकार करते हैं। ब्रह्माण्ड में जो कुछ लक्षित होता है, वह सभी पिण्डमें भी दृष्टिगोचर होता है तथा जो पिण्डमें है, वह ब्रह्माण्ड में है।

बाह्य प्रपञ्च में कारण, सूक्ष्म और स्थूल-ये तीन प्रकारकी भूमि वर्तमान हैं। उपर्युक्त अन्तर्मण्डल (Logos) ही 'कारण भूमि' है। वह ज्योतिर्मय है। मध्यभूमि मनोमय (Psychic) 'सूक्ष्म' है । अन्तिम भूमि भौतिक है, वह 'स्थूल' है। यह

सब प्रकार से इन्द्रियग्राह्य है। स्थूल और सूक्ष्म के अन्तराल में एक भूमि और है, किसी-किसी के मत से वह स्थूल के अन्तर्गत है और किसीके मत से सूक्ष्म के अन्तर्गत। यह भूमि कल्पनामय है। इसी प्रकार मनुष्य की अन्तःसत्ता में भी तीन भूमि वर्तमान हैं। वे कारणरूप, सूक्ष्म और स्थूलरूप से कारणादि देहत्रय के नाम से परिचित हैं।

कारण देह (Pneumatic body) ज्योतिर्मय है कहीं-कहीं वह आत्मरूप (Spiritual body) देहके नामसे भी अभिहित होती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा देखनेपर वह अण्डाकार प्रभामण्डलके रूपमें प्रतिभासित होती है और उसमें पूर्ववर्णित ज्योति (Paraclete, Logos) सुप्तवत् निहित रहती है। उसका उद्दीपन होनेपर वह मानव के अध्यात्मजीवनको निर्मल कर सकती है। जागरणके समय वह तीव्र प्राणशक्ति के रूपमें, विद्युत्की प्रभाकी भाँति, सर्पकी गतिके समान विसर्पित होती है। यह शक्ति अमित है। भारतीय योगशास्त्र में इसको 'कुण्डलिनी' कहते हैं। प्राचीन कालके यवनशास्त्र में यह शक्ति कुण्डलाकार सर्पके समान होने के कारण 'Speirema' नामसे अभिहित की जाती थी। जब इस शक्ति का कुण्डल भङ्ग हो जाता है, तब यह वैद्युती शक्ति कारण देहके अन्तःस्थित सत्वको ग्रहण करके ज्योतिर्मय देहकी रचना करती है। इस देहका निर्माणकौशलही दीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। इस चिद्-उज्ज्वल देह को रहस्यवेत्ता 'Augocides' शब्दसे अभिहित करते हैं। इस अजर अमर देह को 'सौरदेह' भी कहा जाता है। इस देह में अचिन्त्य वैशिष्ट्य वर्त्तमान है। इसका आकार उपर्युक्त विद्युत् ज्योति में निमग्न रहता है। योगसाधना के बल से और श्रीभगवान्के अनुग्रहसे यह दिव्य मृत्युहीन देह मूल आकार का अनुसरण करती हुई क्रमशः अभिव्यक्त होती है। यह स्वयंप्रकाश देह सुवर्णज्योति से मण्डितसी जान पड़ती है। उपनिषद् में वर्णित हिरण्मयज्योतिका यह घनीभूत रूप है। यह अवयवों का संघात न होने के कारण अखण्ड है। अवयवसमूह को विभक्त नहीं किया जा सकता। अतएव वह अविनाशी, अपरिणामी, अजर और अमर है। स्वयं प्रकाश होने के कारण उसको प्रकाशित करने के लिये किसी बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं, अन्तःकरण या करणशक्ति की भी अपेक्षा नहीं है।

सूक्ष्म मनोमय देह 'चान्द्रदेह' के नाम से परिचित है। मनकी चन्द्रात्मकता हमारे यहाँ एक प्रसिद्ध बात है। 'सौरदेह' और 'चान्द्रदेह दोनों ही ज्योतिर्मय हैं, इस दृष्टि से समानता होनेपर भी दोनोंमें भेद वर्तमान है। सौर देह निरवयव और अखण्ड है तथा चान्द्रदेश सावयव है। सावयव विनाशधर्मी है, परंतु सौरदेह अविनश्वर है।

स्थूलदेह भौतिक है, यह बात सभी जानते हैं। अतएव इस विषयमें आलोचना करना निरर्थक है। सूक्ष्मदेहकी छायारूपी एक देह है। मृत्युके बाद कोई कोई जीव उसे ग्रहण करते हैं। मृत्युके पहले भी उसको ग्रहण कर सकते हैं। यह मनुष्यके लिये प्रायः हानिकर है; अतएव इस छायामय देहसे आत्मरक्षा करना आवश्यक है अन्यथा धर्म-जीवन में उन्नति करना कठिन होगा।

योगशास्त्र में 'ज्ञानचक्षु' को तृतीय नेत्र कहा जाता है। उपर्युक्त संजीवनी शक्तिके प्रभाव से नेत्र की सूक्ष्म क्रिया का उन्मेष होता है। आत्मा की इच्छाशक्ति के द्वारा ही कुण्डलिनीका जागरण सम्भव है। यह कुण्डलिनी जागत् होकर नाड़ीगत असंख्य आवरणोंको अपसारित करती है तथा देहको भी निर्मल करती है। यही आत्मशुद्धि का उपाय है। शुद्धि के क्रमिक उत्कर्ष के फलस्वरूप शक्ति के केन्द्रस्थित सब चक्र अपने अधीन हो जाते हैं। आत्माकी शक्ति के विकासका यही क्रम है। दिव्य देह प्राप्त करके दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है तथा साथ-साथ विचारशक्ति और बोधशक्ति का परिशीलन करना भी प्रयोजनीय है। पवित्र जीवन, चिन्ताशून्यता, एकाग्रता दिव्यभाव में सहायक होते हैं। एकाग्रता की प्राप्ति के फलस्वरूप चित्त अन्तर्मुख होता है और सूक्ष्म ध्यान में प्रवणता आती है। इसके फलस्वरूप चित्-शक्तिका विकास होता है और इच्छामात्र से समाधि लग जाती है। यह समाधि प्रचलित जड-समाधिसे विलक्षण होती है। इसमें चेतना लुप्त नहीं होती है। स्वनियन्त्रण की सामर्थ्य रहती है। प्राचीन ईसाई योगियोंके मतसे इसका नाम 'Mantea' है। यह आन्तर योगमार्ग विशुद्ध मन की भावना के बलसे उन्मीलित होता है। परंतु कुण्डलिनीके जागरण तथा प्राणकेन्द्रपर विजय प्राप्त किये बिना उक्त भावना कार्य नहीं करती। विशुद्ध तत्त्वज्ञान के लिये तथा गुप्त शक्तियों की प्राप्तिके लिये यही उपाय है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

हमने यहाँ तक विभिन्न प्रस्थानों का आश्रय लेकर कायसिद्धिका विवरण उपस्थित किया है तथा प्रसङ्गवश पाश्चात्य देशमें काय-साधन के विषय में कैसा प्रचार पहले था-इसका भी कुछ विवरण प्रदान किया है। अब कौलिक आगम-सम्प्रदाय के योगियोंमें कायसाधन प्रक्रिया कैसी थी, इसका उल्लेख किया जाता है। परंतु प्रक्रिया के सम्बन्ध में ज्ञान के पूर्व देह का विज्ञान जानना आवश्यक है। इसलिये नरदेह के महत्त्व का प्रदर्शन करने के लिये इस देहके साथ संश्लिष्ट पदार्थ समूहका विवरण देना आवश्यक है। इन सब पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के बिना दिव्यदेह-सम्पादनकारी कौलिकी योगक्रिया आरम्भ करना सम्भव नहीं है।

वे पदार्थ कौनसे हैं, जिनका ज्ञान कायसाधक के लिये होना बहुत ही आवश्यक है। 'नेत्रागम' में महेश्वर ने इस विषय के पदार्थों का उल्लेख किया है। वे निम्न प्रकार है-

ऋतु (6) चक्रं स्वराधारं (16) त्रिलक्ष्यं (3) व्योमपञ्चकम् (5)। ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं (12) शक्तित्रयसमन्वितम्।। धामत्रयपथाक्रान्तं (3) नाडित्रयसमन्वितम् (3)। ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाढीपथावृतम् (10) द्वा सप्तत्यासहस्रैस्तु (72000) सार्ध्दकोटित्रयेण (35000000) च।

नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम्।।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु।
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः।

(1) कौलमत से षट्चक्र

(क) जन्मस्थानस्थ 'नाडीचक्र'। इसका आश्रय करके विशाल नाडीसमूह जालके समान फैला हुआ है।

(ख) 'मायाचक्र' नाभिदेश में अवस्थित है। इस स्थान से ही माया सर्वतः व्याप्त रहती है।

(ग) 'योगचक्र' हृदय में है। यह योगप्रसर का आश्रयस्थान है।

(घ) 'भेदनचक्र' तालुदेश में है।

(क) 'दीप्तिचक्र' बिन्दुस्थान भ्रूमध्य में है।

(च) 'शान्तचक्र ' नादस्थान में अवस्थित है।

(2) षोडश आधार

ये आधारसमूह जीवका आधार होने के कारण 'आधार' कहलाते हैं। पैर के अङ्गुष्ठ से द्वादशान्त कमलपर्यन्त इनका विस्तार है। इनके नाम हैं-अङ्गुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेद्र, पायु, कन्द, नाभि, जठर, हृत्कमल, कूर्मनाडी, कण्ठाघार, तालुदेश, भ्रूमध्य ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त। ये सब 'आधार' नामसे प्रसिद्ध हैं।

(3) तीन लक्ष्य

(क) अन्तर्लक्ष्य-तत्प्रभा के समान अतिसूक्ष्म कुण्डलिनी स्थित आकाशका दर्शन अथवा मस्तक के ऊर्ध्व में द्वादशाङ्गुलपर्यन्त ज्योति का दर्शन। यह आन्तर और बाह्य इन्द्रियोंके अगोचर है। इस विषय में कुछ मतभेद पाया जाता है। योगिगणका अन्तर्लक्ष्य सहस्रार में ज्वलज्ज्योति का दर्शन है। वैष्णवों के मत से बुद्धिगुहा में सर्वाङ्गसुन्दर पुरुषरूप का दर्शन है। शैवलोगों के मतसे शीर्षस्थ मण्डलमें उमामहेश्वर-रूप का दर्शन है। दहर-उपासकोंका अङ्गुष्ठमात्र पुरुषरूप दर्शन भी यही है।

(ख) मध्यलक्ष्य-सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की शिखा के समान नाना प्रकार के विचित्र वर्ण अथवा तद्विहीन अन्तरिक्ष के समान दर्शन।

(ग) बहिर्लक्ष्य-अपने नासिकाग्र में अभ्यास के फलस्वरूप थोड़ी दूरतक व्योम का दर्शन।

(4) पञ्चव्योम

ये व्योमसमूह जन्मस्थान, नाभि, हृदय, बिन्दु और नाद में भावना करने में आते हैं। इनमें प्रथम व्योम है अनन्त विश्व का आश्रय अनन्त शून्यरूप। यह अनन्त शून्य सुषुप्ति का आवेशकारक होने के कारण हेय है। पञ्च आकाश के नाम विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार के मिलते हैं। जैसे-आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश आदि।

(5) द्वादश ग्रन्थि

माया से लेकर शक्तिपर्यन्त द्वादश ग्रन्थि के स्थान हैं। मायाग्रन्थि देहकी उत्पत्तिका कारण है। पाशवग्रन्थि पशुओंकी संकुचित दृष्टिका कारण है। यह ग्रन्थि कन्दमें अवस्थित है। हृदय से आरम्भ करके ललाटपर्यन्त पाँच कारणग्रन्थि विद्यमान हैं। ये पशुओं की सृष्टि में कारण है; इसी कारण इनका निरोध करना कर्तव्य है। निरोध करने योग्य होने के कारण इनको 'ग्रन्थि' कहते हैं। ब्रह्मग्रन्थि हृदय में, विष्णुग्रन्थि कण्ठ में, रुद्रग्रन्थि तालुमूल में, ईश्वरग्रन्थि भ्रूमध्य और सदाशिवग्रन्थि ललाट में अवस्थित हैं। इनके ऊर्ध्व में और भी कई ग्रन्थियाँ हैं। वे नादशक्तिरूपी निरोधिका के ऊर्ध्व पर अवस्थित हैं। उनके नाम हैं-इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति। ये भी परचित्के प्रकाशमें आवरणस्वरूप हैं।

(6) तीन धाम

चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप तीन धाम वाम, दक्षिण और मध्यस्थानमें ब्याप्त होकर अवस्थित हैं। मानवदेह की अधिष्ठात्री तीन प्रकारकी वायुके द्वारा तीनों धाम सुष्ट हैं। इडा आदि तीनों नाड़ियाँ भी वायुत्रय के द्वारा नियन्त्रित है। वस्तुतः नाड़ी असंख्य हैं और वायु उनकी अधिष्ठाता है।

परचित्-शक्ति से प्रसृत अमृत के द्वारा दिव्य शाक्तकाय उद्भूत होता है। इस शक्तिका स्वरूप क्या है? आत्माका धर्म है, भगवान् की स्वरूपमहिमा है, शिवकी-यह प्राणरूप सामर्थ्य है। परंतु शक्तिरूप में व्यवहार होने पर वह स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है; क्योंकि वह स्वरूप में आश्रित नहीं है; स्वरूप से अभिन्न है और स्वरूप के साथ एकरस है। इस चितिरूपा परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्ति का आश्रय करके योगिगण परमपदकी ओर यात्रा करते हैं। वह समस्त विश्व के मध्य में है, विश्वकी हृदयगुहा में अति गुप्तभाव से निहित है।

मानव निरन्तर श्वास उच्छ्वासशील है तथा नाना प्रकार के द्वन्द्वों के घात-उपघात से पीड़ित होने के कारण मध्यमार्ग में संचरणशील, समस्त वस्तुओं के मध्य रहनेवाली इस शक्ति का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अन्योन्यविरुद्ध प्राण

और अपानकी वृत्तियोंके संघट्ट के द्वारा जीवदेह के सारे कार्य तथा चिन्तन परिव्याप्त रहते हैं। अतएव किसी-न-किसी प्रक्रिया से इन वृत्तियों को अभिभूत करना आवश्यक है। विरुद्ध शक्तियोंका विरोध शान्त होनेपर यह भावना करनी चाहिये कि सुषुम्णा में स्थित मध्यम प्राणमें पराशक्तिका संचार हो रहा है। यह मध्यम प्राण ही 'उदान' नामक प्राणब्रह्म है। जब देहादिमें अहंभाव का त्याग हो जायेगा तथा पूर्णाहंताके समावेशकी सिद्धि हो जायगी, तभी समझना होगा कि सब भावना सफल हो गयी। अहंभाव-परामर्श के लिये यही क्रमशः करना चाहिये। योगी पूर्णाहंतामय मूलमन्त्र के साथ पराशक्तिका सामरस्य चिन्तन करें। इस प्रकारकी भावना के फलस्वरूप प्राणादि-संस्पर्श से रहित स्पन्द स्वयं प्रकट होगा। इस स्पन्द के द्वारा पूर्वोक्त सामरस्य की प्राप्ति कठिन नहीं रहेगी।

यहाँ तक सिद्ध हो जाने पर भावना के मार्ग में मन्त्रवीर्य का सार समुदित होता है। यही अभिमान उदयरूप रहस्य है। तत्पश्चात् देह-प्राण आदि से परिच्छिन्न प्रमाता में विद्यमान अभिमान का परिहार करके उसको आनन्दचक्र से उठाकर मूलाधार में स्थापित करना पड़ता है।

यहाँ तक प्रारम्भिक प्रक्रिया हुई। इसके बाद वेधक्रिया का समय आता है। पहले आधार आदि सोलह केन्द्रों को एक-एक करके वेध करना पड़ता है। वेधकार्य में नाद करण होता है, वह मन्त्रात्मक प्राणरूप में अथवा स्फुरता के उन्मेष के रूप में प्रकट होता है। यहाँ सूक्ष्म योग और प्रयोग की आवश्यकता है।

उन्मिषित स्फुरता की तीव्र उत्तेजना का संचार ही 'सूक्ष्म योग' है। इसका प्रयोग इस प्रकार होता है कि प्राणात्मक मन्त्र पूर्वोक्त उत्तेजना के वश अपने स्थानको त्यागकर कुछ ऊर्ध्व सुषुम्णा के मार्ग से आरोहण करता है। इस आरोहणके साथ-साथ कौलिक मत के अनुसार सारे आधार और सारी ग्रन्थियों की वेधक्रिया सम्पन्न होती है। वेधक्रिया समावेशरूप है, इसमें कोई संदेह नहीं। द्वादशान्त में प्रवेश के साथ-साथ महामायापर्यन्त सारे बन्धन परिहृत हो जाते हैं। उसके बाद ध्रुवपद में स्थिति होती है। अन्तिम वेध सम्पन्न होने पर महाव्याप्ति का आविर्भाव होता है। यह नित्योदित पराशक्तिका सामरस्य रूप है। यहाँ तक योग

सम्पन्न होने पर पराशक्तिके साथ अभिन्नता स्फुरित होती है। यह अभिन्नता फिर शिवतादात्म्यरूप होती है।

कौलिक प्रक्रिया में प्रथम प्रपञ्च है परम शिवके साथ अभिन्नता और उसका फल-सब कुछ इस प्रपञ्च के अन्तर्गत है। इसके बाद द्वितीय प्रपञ्च आता है। द्वादशान्त में प्रसरण करनेवाली शक्तिधाराकी सहायता से मध्यम मार्गके पथमें हृदय के आपूरित होने पर परमानन्द प्रकट होता है। उस आनन्दको परामृत प्रवाह समझना चाहिये।

यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि हृदयमें प्रविष्ट परानन्द रसायनका काम करता है। जबतक वह हृदय में रहता है, तबतक भावना के बल से उसको स्वसंवेद्य बना लेना आवश्यक है। हृदय से उमड़ती हुई परमानन्द-प्रवाह की धारा को चारों ओर फैला देना कर्तव्य है, जिससे वह प्रवाह समस्त नाड़ियों के अनगिनत तन्तुओंमें गमन कर सके। इसके बाद अनुरूप ध्यान करना आवश्यक है।

तत्पश्चात् इस अमृतके द्वारा देहके बाहर और भीतरको पूर्ण कर लेना आवश्यक है। इस प्रकार स्वदेह अमृतमय हो जाय, तब तीव्रवेग से इस प्रवाह को देहस्थ रोमकूपके माध्यमसे बाहरके विषयों में निरन्तर प्रेरित करना चाहिये। तत्पश्चात् शाक्तानन्द-ज्ञान के द्वारा समस्त जगत् आप्यायित हो रहा है ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान के फलस्वरूप अजर और अमर भाव आता है तथा आत्मसिद्धि भी प्राप्त होती है। कौलिक शास्त्रमें मृत्युपर विजयके लिये यह प्रक्रिया उपदिष्ट हुई है।

तान्त्रिक वाङ्मय में भी इस प्रकार की तथा इससे भिन्न प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। तान्त्रिक लोग कहते हैं कि पहले मत्तगन्धस्थान-संकोच-प्रसरणरूपी किसी मुद्रा के द्वारा अपनी सूक्ष्म प्राणशक्ति का उद्बोधन आवश्यक है। इस शक्ति का आश्रय लेकर आगे की क्रियाओं का साधन होता। इस स्पन्दके द्वारा आविष्ट (मध्यमा कला' नामक प्रसिद्ध शाक्त-कन्द जन्मस्थान में प्रसुन अवस्था में है। कौलमत से जन्मस्थान आनन्देन्द्रिय है। तान्त्रिक प्रक्रिया में वह कन्द (मूल) रूप है। केवल इतना ही दोनों में भेद है।

योगी बहुत सावधान चित्त से निरन्तर इस शक्ति की भावना तबतक करते रहें, जबतक समावेश सिद्ध न हो जाय। तत्पश्चात् भावनी के बल से पादाङ्गुष्ठ में स्थित कालाग्नि के आधारका आश्रय लेकर ऊर्ध्व में आरोहण करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है।

यह प्रथम पर्व है। इसके समाप्त होने पर कन्द-भूमि से प्राप्त शक्ति-स्पन्दात्मक वीर्य को उसमें निक्षेप करके प्रस्फुट भावना के द्वारा व्यक्त करें। तत्पश्चात् प्राणस्पन्दरूपी क्रिया शक्ति उस बीर्यके द्वारा आपूरित होती है। इसकी मात्रा बढ़नेपर देहकी मध्यवर्ती नाभि प्राप्त होती है। वह तीन प्रकारकी है-एक 'इच्छारूप', जिसमें संकोचक्रम से उत्पन्न ऊर्ध्यारोहणका प्रयत्न मुख्य है। द्वितीय है 'भावनारूप' और...तृतीय है 'क्रियारूप', जिसके द्वारा ऊर्ध्वग्रन्थियोंका भेद या वेध होता है। ये ग्रन्थियाँ गुल्फ, जानु, मेद्र तथा कन्दरूप हैं।

मूलस्पन्द के आश्रय मत्तगन्धस्थान की बारंबार संकोचविकासक्रिया का तात्पर्य है-निरोध। यह स्वच्छन्द शास्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण है।

इडा और पिङ्गला-रूपी दोनों पार्श्व की नाड़ियों का परित्याग करके, इच्छा का अवष्टम्भ साधन करते हुए, मध्यमार्ग में प्रवाहित मध्यप्राणशक्तिके द्वारा सुषुम्णाका आश्रय लेना कर्तव्य है। सुषुम्णा में प्रवेश होने पर समस्त इन्द्रियों और विषयों से विरत होना चाहिये। तब मायारहित विज्ञान के द्वारा (चिदात्मक ज्ञानशक्ति के द्वारा) क्रमशः हृदय आदि स्थानों में स्थित ब्रह्मादि कारणों को एक-एक करके त्यागना पड़ता है। यहाँ प्राणादिकी प्रधानता न होने के कारण इसे विज्ञानरूप समझना चाहिये। यह ब्रह्मादि सृष्टि आदि संवित्-स्वभाव है। तत्पश्चात् मायाग्रन्थि-भेद करके पञ्च आकाश का त्याग करें। तब ब्रह्मा से लेकर शिवतक सब कारणों के ऊर्ध्वदेश में विराजमान 'समना' नामक कुण्डलीशक्ति को प्राप्त करना होगा। उसी के गर्भमें शून्यातिशून्य अखिल विश्व कुण्डलकी भाँति अवस्थित है। समना-प्राप्ति के बाद ऊर्ध्व में विरति है। वहाँ उन्मनाकी प्राप्ति होती है। वही परशिवदशा परसामरस्यरूप 'परव्योम' है।

अनर्थ का साधन अर्थ

अर्थैश्वर्यविमूढो हि श्रेयसो भ्रश्यते द्विजः।
अर्थसंपद्विमोहाय विमोहो नरकाय च।।
तस्मादर्थमनर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्।
यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी।।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।
योऽर्थेन साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्तितः।।
यः परार्थे परित्यागः सोऽक्षयो मुक्तिलक्षणः।। (पद्मपुराण)

'धन-सम्पत्ति मोह में डालनेवाली होती है। मोह नरकमें गिराता है; इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अनर्थ के साधन अर्थका दूर से ही परित्याग कर देना चाहिये। जिसको धर्मके लिये धन-संग्रह की इच्छा होती है, उसके लिये इच्छा का त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़ को लगाकर धोने की अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है। धनके द्वारा जिस धर्म का साधन किया जाता है, वह क्षयशील माना गया है। दूसरे के लिये जो धन का परित्याग है, वही अक्षय धर्म है, वही मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है। (महर्षि कश्यप)

जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, कैवल्य और पूर्णत्व

मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य यदि देहावस्था में ही उपलब्ध होता है और वह उपलब्धि यदि आभासमात्र नहीं होती तो उस अवस्था को 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है। विदेहमुक्ति देह त्यागके बाद प्राप्त हो सकती है, किंतु जीवन्मुक्ति इस देह में अवस्थान करते समय ही किसी भाग्यवान् के भाग्य में घटती है। प्रचलित ज्ञानमार्गकी दृष्टि के अनुसार सात ज्ञानभूमि में पञ्चम, षष्ठ और सप्तम-ये तीन जीवन्मुक्तिकी भूमि कहलाती हैं। पञ्चम भूमिके ज्ञानीको 'ब्रह्मविद्' कहते हैं, षष्ठभूमि में ज्ञानी का नाम 'ब्रह्मविद् वरीयान्' तथा सप्तम भूमि के ज्ञानी का नाम 'ब्रह्म विद्वरिष्ठ ' है। इन तीनों में परस्पर भेद है। चतुर्थ भूमिमें अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान का उदय होता है; परंतु अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होते ही जीवन्मुक्ति हो ही जायेगी, यह

निश्चय नहीं है। अपरोक्ष ज्ञानावस्था में ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। परंतु साक्षात्कार होने पर भी जबतक बुद्धि और देहके क्षेत्र में उसका प्रभाव नहीं पड़ता, तबतक जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं होती। बुद्धि-क्षेत्र में इस ज्ञानका प्रभाव पड़ने के लिये 'चित्तशुद्धि' आवश्यक है तथा भौतिक देह के क्षेत्र में इस ज्ञान के प्रतिबिम्बित होने के लिये 'भूतशुद्धि' और 'देहशुद्धि' आवश्यक हैं। भूतशुद्धि और देहशुद्धि हुए बिना देहावस्था में और मनोमय स्थितिमें ब्रह्मज्ञान का अपरोक्ष अनुभवात्मक विकास नहीं होता। जो साक्षात्कार चतुर्थ भूमिमें होता है वह स्वरूपसिद्ध ब्रह्मज्ञान है। जीवन में जबतक वह प्रतिफलित नहीं होता, तबतक जीवन्मुक्ति अवस्थाका उदय कैसे होगा। आकाश में सूर्य का उदय होने पर भी जबतक बादल आदि हट नहीं जाते, तबतक हम साक्षात् रूप में सूर्य को नहीं देख सकते। इसी प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में देहमय और मनोमय अनुभव में ब्रह्मानुभव अनुस्यूत होना चाहिये। इसके लिये देह और मनकी स्वच्छता आवश्यक है। वेदान्त-मार्गकी साधनामें साधारणतः दो मार्गों का अनुसरण किया जाता है-एक है उपासना-मार्ग और दूसरा है विचार-मार्ग। उपासना मार्ग में उपासना के द्वारा भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि सम्यक् रूप से सम्पन्न होने पर अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान के उदय के साथ-साथ ही चतुर्थ भूमि से पञ्चम भूमिमें प्रवेश होता है, अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान के उदय के साथ-साथ जीवन्मुक्ति का आविर्भाव होता है। जीवन्मुक्ति के आविर्भाव के बाद वह क्रमशः दृढ़ता प्राप्त करता है और पञ्चम से षष्ठ और सप्तमतक प्रगति होती है। वेदान्तकी दृष्टि मे अपरोक्ष ज्ञान के साथ-साथ जीव और जगत् की सत्ता बाधित हो जाती है, परंतु बाधित होनेपर भी वह अनुवृत्त रहती है तथा इसी कारण व्यवहार चलता है; किंतु जगत् के स्वरूप-बोध में क्रमशः तारतम्य हो जाता है। पञ्चम भूमि में जगत् स्वप्नवत् जान पड़ता है। अज्ञानी जैसे जगत् को सत्यरूप में अनुभव करता है, यहाँ वह भाव नहीं रहता। परंतु न रहने पर भी व्यवहार चल सकता है। षष्ठ भूमि में यह अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाता है, जगत् आभासमात्र रह जाता है। इस क्षेत्र में ज्ञान और भी तीव्र होता है। सप्तम भूमिमें जगत् एक प्रकारसे अनुभव में ही नहीं आता। उस समय व्यवहार अत्यन्त असम्भव होता है। उसके बाद ही देहान्त होता है। तब

ब्रह्मके साथ तादात्म्य प्राप्त होता है। पञ्चम और षष्ठभूमि को तुरीय अवस्था कह सकते हैं। सप्तम भूमि को तुरीयातीत कहना सुसङ्गत है। पञ्चम और षष्ठ भूमि में जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति विद्यमान रहते हैं। परंतु वे तुरीयद्वारा अनुविद्ध होते हैं। सप्तम भूमिमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को पृथक् रूपमें पकड़ना कठिन होता है। इसी कारण उसका तुरीयातीत कहकर वर्णन किया जाता है। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के रहते तुरीय कहने में कोई सार्थकता नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि चतुर्थ भूमिमें ब्रह्म-साक्षात्कार अपरोक्ष रूपमें होने पर भी जीवन्मुक्ति अवश्यम्भावी क्यों नहीं होती? इस सम्बन्ध में यही कहना है कि अपरोक्ष रूपमें ब्रह्मदर्शन होते ही जीवन्मुक्ति हो ही जायगी, यह नहीं कहा जा सकता। प्रकृत विदेहमुक्ति तभी हो जाती है। मृत्युके बाद जो विदेहमुक्ति होती है, वह कैवल्यका ही दूसरा नाम है। चतुर्थ के बाद जो विदेहमुक्ति होती है, वह अपरोक्ष ज्ञानके साथ-साथ ही होती है; परंतु देहाभिमान बने रहने के कारण देहाभिमानी पुरुष उसे पकड़ नहीं पाता। इस कारण देहाभिमान रहने की दशा में अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान की सत्ताका होना आवश्यक है। इसी कारण तान्त्रिक आचार्य कहते हैं कि सद्गुरुकी कृपा से पौरुष अज्ञान के निवृत्त होने पर अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार होता है; किंतु बुद्धि निर्मल हुए बिना यह अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिभास बुद्धि में आरूढ़ नहीं होता। बुद्धि में आरूढ़ न होने तक जीवन्मुक्ति कैसे सकेगी? इसके लिये उपासना, योग, तपस्या आदि की आवश्यकता है। उपासना आदि के द्वारा बुद्धि निर्मल होने पर गुरुकृपा से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान उसमें झलकता है। तो 'शिवोऽहम्' के रूपमें अपनेको अनुभव कर सकते हैं। यहाँ ही जीवन्मुक्तिका आरम्भ होता है। प्रारब्ध कर्म के अन्ततः देहान्त होने पर पौरुष ज्ञानका आविर्भाव होता है और साक्षात् शिवत्व की प्राप्ति होती है।

जीवन्मुक्त अवस्थामें केवल प्रारब्ध कर्म रहता है। वह प्रारब्ध जब भोगके द्वारा समाप्त हो जाता है, तब कर्म के अतीत परामुक्ति की प्राप्ति होती है। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि नरदेहसे मुक्त होने के साथ-साथ ही पूर्णत्व में प्रतिष्ठा हो जाती है। यदि किसी के ऊर्ध्वलोकमें भोगके लिये उपयोगी कर्म अवशिष्ट रहते हैं तो मृत्यु के बाद ऊर्ध्वलोक में जाकर भोग के द्वारा उन अवशिष्ट कर्मों का क्षय

करना पड़ता है। इन सब लोगों के नरलोकमें पुनः आने की सम्भावना नहीं होती। परंतु नरदेह का त्याग करने के साथसाथ ही पूर्णत्व में प्रवेश हो जायगा, यह कहा नहीं जा सकता; क्योंकि अभुक्त अथ च भोग्य भोगको समाप्त करने पर ही पराशान्ति प्राप्त होती है।

ऊर्ध्वस्तर में सभी प्रभुभाव लेकर जीवन्मुक्त होंगे, यह कहा नहीं जाता। प्रकृति के अनुसार कोई-कोई दास्यभाव में भी रह सकते हैं। जो भक्तिप्रधान हैं, उनको दास्यभाव और जो ज्ञानप्रधान हैं, उनको प्रभुभाव प्राप्त होता है। परंतु गुरुप्रदत्त दीक्षाकी प्रकृति के ऊपर यह विचित्रता निर्भर करती है। इस कारण दास्य और प्रभुभाव के अतिरिक्त प्रकृति के अनुसार कोई कोई ब्रह्मज्योतिमें भी प्रविष्ट हो सकते हैं। ये सब भोग के अन्तर्गत हैं। भोग के समाप्त होने पर ही मोक्ष होता है।

हमने जो जीवन्मुक्त की अवस्थाकी बात कही है, यह एक दृष्टिकोण है। आगम की दृष्टि से जीवन्मुक्ति का अनुभव ठीक इस प्रकार नहीं होता। इस दृष्टि के अनुसार जीवन्मुक्त अवस्था में समस्त विश्व को अपने विभवके रूप में अनुभव किया जाता है। यह आत्मशक्तिका स्फुरण है। जीवन्मुक्त अवस्थामें आत्मा शिवरूप में प्रकाशित होता है; क्योंकि विश्व शिव-शक्ति का प्रकाशरूप है तथा जीवन्मुक्त पुरुष शिवस्वरूप है, इसलिये यह विश्व उसके सामने अपनी शक्तिके खेलके रूप में अनुभूत होता है। यह मिथ्या नहीं है और अनिर्वचनीय भी नहीं है। यह पूर्णरूप में सत्य है। परंतु मुक्त आत्मा की शक्ति-सापेक्ष है। आगम के मत से मुक्त पुरुष को सर्वत्र शिवरूप का भान होता है। अतएव उसकी पञ्चेन्द्रिय के द्वारा अपने-अपने विषय का ग्रहण, तत्तत् उपचारद्वारा उपभोग आत्मा के द्वारा परमात्माकी सेवाके रूपमें ही गृहीत होता है। इसी कारण भगवान् शंकराचार्य स्वरचित 'मानस पूजा' में पूजा ते विषयोपभोगरचना' कहकर इसका वर्णन करते हैं।

साधारण ज्ञानीकी दृष्टिमें परामुक्ति निर्गुण ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठा है; किंतु आगमकी दृष्टि में परामुक्ति त्रिविध कैवल्य के (प्रकृति, माया और महामायारूप त्रिविध अचित् सत्तासे पृथक् भाव) अतीत निष्कल परम शिवकी अवस्था है। विश्वभेद करनेके बाद तथा सब प्रकारसे कैवल्यको अतिक्रम करनेके बाद उन्मनी

शक्तिके प्रभावसे निष्कल पदमें प्रवेश होता है। यही परम शिवकी अवस्था है। उसके बाद उन्मनी शक्ति निवृत्त हो जाती है। यह शिव-शक्ति के सामरस्यकी अवस्था है। इस अवस्थामें सब प्रकारका सङ्कोच कट जाता है तथा स्वातन्त्र्य शक्तिका उन्मेष होता है। तब शिवभाव और शक्तिभाव की अपूर्णता परिपूर्ण स्वरूप में आत्मप्रकाश करती है। अर्थात् शिवभाव में पूर्ण बोध होने पर भी स्वातन्त्र्य का अभाव ही अपूर्णता है। शक्तिभाव में स्वातन्त्र्य रहने पर भी बोध का अभाव ही अपूर्णता है। शिव-शक्ति का सामरस्य सम्पन्न होने पर यह अपूर्णता हट जाती है और परिपूर्णभावका उदय होता है।

जीवन्मुक्त पुरुष ही 'जगद्गुरु' पद वाच्य है। उनके द्वारा ही ज्ञानतन्तुका संरक्षण होता है। इस विश्व का सब प्रकार का अधिकार कार्य जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा ही सम्पन्न होता है। इन लोगोंको 'सिद्धपुरुष' कहते हैं। जगत् की सुष्टि, स्थिति और संहार, सभी सिद्धपुरुषोंके द्वारा ही निर्वाहित होता है। परंतु अनुग्रह और तिरोभाव साक्षात् परमेश्वरके ऊपर निर्भर करता है। परमेश्वर स्वयं अधिकारी पुरुषका रूप धारण करके जगत्के व्यापारका सम्पादन करते हैं। पहले वे अनाश्रित शिव के रूप में एक, ईश्वर और सदाशिवके रूपमें दो, तथा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप में तीन मूर्ति बनते हैं। इसका विस्तृत विवरण यहाँ आवश्यक नहीं है।

जीवन्मुक्त पुरुष कर्तृत्वहीन होने के कारण कर्मातीत होते है। आगमकी दृष्टिसे जीवन्मुक्त पुरुष कर्तृत्वसम्पन्न होने के कारण सब कार्यों में भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं। वास्तविक जीवन्मुक्त पुरुष मायिक देहसम्पन्न नहीं होते। वे बैन्दव देह अथवा महामाया-सम्भूत देहसम्पन्न होते हैं। जीवन्मुक्त अवस्थाके बाद परामुक्ति अवस्था में जब भौतिक, प्राकृत, मायिक, महामायिक देह समाप्त हो जाते हैं, तब शाक्त देह में अथवा चिन्मय देह में अवस्थिति होती है।

आगमवेत्ता कहते हैं कि चित्शक्तिरूप बल प्राप्त होनेपर योगी समस्त विश्व को आत्मसात् करनेमें समर्थ होता है। चित्-शक्ति के प्रभावसे देह-प्राण आदि आवरण हट जाते हैं और अनावृत स्वरूप प्रकाशित होता है। जब यह अनावृत आत्मस्वरूप खुल जाता है, तब समस्त विश्व ही अपने स्वरूपके साथ अभिन्न

रूपमें प्रकाशित हो उठता है। अग्नि प्रज्वलित होने पर जैसे दाह्य पदार्थ दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार वह प्रकाशित होनेपर समस्त विषय- पाशको ध्वस्त कर देता है। विश्व को अपने साथ अभिन्न रूपमें देखनेका नाम ही चिदानन्दकी प्राप्ति है । इस अवस्थाके उदय होने पर व्युत्थान अवस्थामें भी देह आदिकी प्रतीति होने पर भी तथा व्यवहार-जगत् में अवस्थान करने पर भी चैतन्य के साथ अपनी एकात्मताका बोध अक्षुण्ण बना रहता है। चिद्भाव के साथ तादात्म्य कभी भङ्ग नहीं होता। दृष्टान्तरूपमें कमलमें स्थितिको ले सकते हैं। तदनुसार समावेश अवस्थाकी स्थिति कर्णिका या बिन्दुमें स्थिति के अनुरूप तथा व्युत्थान अवस्थाकी स्थिति कमलके दलमें स्थिति के अनुरूप होती है। दोनों ही क्षेत्रों में स्थिति कमलमें ही होती है, कमलके बाहर नहीं होती।

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में विविध सम्प्रदायों के दृष्टिकोण से बहुत-सी बातें कही गयी हैं, परंतु यहाँ उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं अनुभूत हो रही है। रसेश्वरसम्प्रदाय तथा अन्यान्य सिद्ध सम्प्रदायवाले कहते हैं कि वास्तविक 'जीवन्मुक्ति' में देहपात नहीं होता। उनके मतसे जीवन्मुक्ति शब्दका अर्थ ही है- 'दैहिक अमरता'। वे कहते हैं कि मृत्यु पर विजय प्राप्त किये बिना जीवन्मुक्ति कैसे हो सकती है? देहसिद्धि हठयोगकी क्रिया से हो सकती है। वह कुण्डलिनी जागरणके बाद मन्त्रशक्ति की सहायतासे हो सकती है तथा अन्य उपायोंसे भी हो सकती है। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। उनमें एक है-भौतिक प्राकृत देह को शुद्ध करके 'सिद्धदेह' के रूपमें परिणत करना। गोरक्ष-सम्प्रदाय में 'काया-साधन' नामसे यह शोधनक्रिया प्रचलित है। दूसरे मतसे भौतिक देह के साथ गुरु कृपा से जो महामायासे उद्भूत बैन्दव देह' प्राप्त होता है, वह बैन्दव देह ही सिद्धदेह है। भौतिक देह के कालग्रस्त हो जानेपर भी बैन्दव देह काल पर विजय प्राप्त करता है। किसी-किसी मतसे सिद्धदेह प्राप्त हो जाने के बाद, अर्थात् मृत्युञ्जय के बाद 'प्रणवदेह प्राप्त करना ही 'परामुक्ति' है। सिद्धदेह जीवन्मुक्तका होता है। सिद्धदेह कालके अधीन नहीं होता; परंतु सिद्धदेह के ऊपर भी देह है-वही 'प्रणवदेह' है। इस दृष्टि से जीवन्मुक्त के प्रारब्ध कर्म रहनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में प्राचीन कालमें मनीषीगण ने विभिन्न दृष्टिकोण से विचार किया था। वैष्णवमत सें जीवन्मुक्ति को स्वीकार ही नहीं किया जाता। किसी-किसी सिद्ध मतसे विदेहमुक्तिको माना ही नहीं जाता। साधारण जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों ही अनेक सम्प्रदायों के के द्वारा स्वीकृत है। बौद्ध अर्थात् प्राचीन बौद्ध लोग 'अर्हत' शब्दक द्वारा इसी जीवन्मुक्तिका ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कोई कोई इसको 'सदेह निर्वाण' भी कहा करते हैं। इस विषय मे और अधिक कहना यहाँ आवश्यक नहीं है।

कैवल्य के विभिन्न अर्थ

'कैवल्य' शब्द का अर्थ यह है कि आत्मा अनात्मा के संस्पर्श से मुक्त होकर केवल अपने आप में अवस्थित हो जाय। सांख्य तथा पातञ्जल योगदर्शन में 'कैवल्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाशुपत योगीगण 'महैश्वर्य' के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में 'कैवल्य' शब्द की व्याख्या करते हैं। श्रीरामानुजादि भक्तिसम्प्रदायवाले 'भगवत्कैर्य' आदिके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कैवल्य शब्दकी व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य स्थलों में भी समझना चाहिये। सांख्य और पातञ्जल के मत से कैवल्य शब्द का अर्थ यह है कि आत्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अपनेको पृथक् करके अपने चित्-स्वरूपमें प्रवेश करता है। कैवल्य प्राप्तिका उपाय विवेकज्ञान है। पातञ्जलसिद्धान्त यह है कि आत्मा एकाग्रभूमि का आश्रय कर प्रज्ञा लाभ करके, प्रज्ञा की चरम अवस्था में अविवेकको दूर करने के लिये अचिदात्मक सत्त्वगुण से चिदात्मक पुरुष को क्रमशः पृथक् करके अपने स्वरूप में स्थित होता है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में आशा का उदय होता है तथा क्रमविकास होता है। इस क्रम विकासके फल से समाधिका आलम्बन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म में, अवयवी से अवयवमें स्थित होता है। पश्चात् ग्राह्य विषय से अतिक्रान्त होने पर वितर्क और विचारभूमि से पार होकर ग्रहणात्मक करण को अवलम्बन करके आनन्दसमाधि में स्थित होता है। इसके बाद ग्रहणभूमिसे अर्थात् करणभूमिसे ग्रहीतभूमि में प्रवेश होता है। इसका नाम 'अस्मिता-समाधि' है। इस समाधिमें ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता-

तीनों ही आयत्त हो जाते हैं; परंतु उस समय भी विशुद्ध आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। विशुद्ध आत्मा ग्रहीता नहीं है। अतएव अस्मिता अशाभूमि में उपलब्ध ज्ञान ऐश्वर्य-व्यञ्जक होने पर भी विशुद्ध आत्मज्ञान नही होता; क्योंकि अनात्म से आत्मभाव को पृथक् किये बिना विशुद्ध आत्मसत्ता का साक्षात्कार नहीं होता। इसी कारण आत्मसाक्षात्कार के लिये योगक्रिया आवश्यक है। पूर्ण 'विवेकख्याति' हुए बिना यह सम्भव नहीं है। विवेकख्याति के फलस्वरूप पुरुष का स्वरूपदर्शन होता है। तब उस चिदालोक में अपरिणामी पुरुष और परिणामी गुण देखने में आते हैं । तभी 'गुणवितृष्णा' रूप 'परवैराग्य' का उदय होता है। उसके बाद विवेक पूर्ण होने पर आत्मा अनात्म से पृथक् अपने चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वस्तुतः अस्मितासमाधि के बाद एकाग्रभूमि से अतीत निरुद्ध-भाव का आविर्भाव होता है। उसके बाद निरोध भी नहीं रहता। एकाग्रता के बाद निरोध चित्त का ही प्रगति रूप है। उसके बाद निरोध का संस्कार मात्र रह जाता है तथा उसके साथ ही चित्त निवृत्त हो जाता है। निरोध के बाद निरोध का भी निरोध हो जानेपर कह सकते हैं कि चित्स्वरूप पुरुष की अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी यही 'कैवल्य' है। सांख्य के मत से या पातञ्जल के मत से पुरुष त्रिगुणात्मिका प्रकृति से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है। पुरुष द्रष्टा और अपरिणामी है, प्रकृति परिणामशीला है।

इस कैवल्यके अनेक प्रकार हैं। तन्त्र में तीन प्रकार के कैवल्यका विवरण मिलता है। इसका कारण अचित्की तीन अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक अवस्थासे मुक्त होकर पुरुष को कैवल्य प्राप्त करना पड़ता है। इसी कारण कैवल्य तीन प्रकार का होता है। अचित् की स्थूलतम अवस्था त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। अचित् की मध्यावस्था माया है वह निर्गुण है।

इस माया से मुक्त होना द्वितीय कैवल्य है। जो लोग प्रकृति माया को एक मानते हैं, उनकी बात नहीं कही जाती प्रकृति के परे मायाका स्थान है। इसी कारण चिदात्मा रूप प्रकृति से मुक्त होकर भी मायासे निबद्ध रह सकता है। परंतु अन्त में माया से भी मुक्त होना पड़ता है। यही द्वितीय कैवल्य है।

परंतु माया से कैवल्य हो जानेपर ही केवल्य का चरम उत्कर्ष नहीं हो जाता; क्योंकि माया के परे शुद्ध माया या महामाया विद्यमान है। सिद्धान्तशैव के मत से यह महामाया ही बिन्दु या कुण्डलिनी के नामसे परिचित है। यह शुद्ध होने पर भी अचित् तथा परिणामशील है। सारा महामाया का जगत् इस बिन्दु से ही रचित है। आत्मा जब महामाया से मुक्त होता है तब वह श्रेष्ठ कैवल्य प्राप्त करता है। यही विशुद्ध कैवल्य है। इसकी ही विशिष्टतम अवस्थाको 'निर्वाण', 'परिनिर्वाण' या 'महानिर्वाण' कहते हैं। किं बहुना, इसकी भी परावस्था है। वही आत्मा की शिवावस्था है। अचित् सत्ता से पृथक होने पर ही आत्मा को चरम सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसी कारण महामायासे मुक्त होनेपर भी आत्माको पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता। आत्मा में जबतक शिवत्व का विकास नहीं हो जाता, तबतक पूर्णत्व सम्भव नहीं है। उन्मनी शक्तिका विकास हुए बिना आत्मा को शिवरूप में पहचाना नहीं जा सकता। वस्तुतः उन्मनी शक्ति ही चित्-शक्ति है। वह चित्स्वरूप शिवभावके साथ नित्य संश्लिष्ट है। चित्-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर त्रिविध कैवल्य मेद पूर्ण हो जाता है। तब आत्मा ही शिवरूपमें आत्मप्रकाश करता है। जब आत्मा शिवरूप में प्रकाशमान होता है तो उन्मनी शक्ति निवृत्त हो जाती है। तब शिव-शक्ति अभिन्न होकर प्रकाशित होती है। यही परशिव और परासंविद्की स्वरूपस्थिति है। यह अवस्था 'समना' और 'उन्मना' शक्तिके परे है तथा शिव और शक्तिके सामरस्यकी स्थिति है। यह आत्माकी निष्कल स्थिति है। कोई-कोई आचार्य इस स्थिति को ही कैवल्य कहते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि यही पूर्ण स्वरूप है।

पृथक होने पर ही आत्मा को चरम सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसी कारण महामाया से मुक्त होने पर भी आत्माको पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता। आत्मा में जब तक शिवत्वका विकास नहीं हो जाता, तबतक पूर्णत्व सम्भव नहीं है। उन्मनी शक्तिका विकास हुए बिना आत्मा को शिवरूप में पहचाना नहीं जा सकता। वस्तुतः उन्मनी शक्ति ही चित्-शक्ति है। वह चित्स्वरूप शिवभाव के साथ नित्य संश्लिष्ट है। चित् शक्तिका पूर्ण विकास होने पर त्रिविध कैवल्य मेद पूर्ण हो जाता है। तब आत्मा ही शिवरूप में आत्मप्रकाश करता है। जब आत्मा शिवरूप में प्रकाशमान होता है तो

उन्मनी शक्ति निवृत्त हो जाती है। तब शिव-शक्ति अभिन्न होकर प्रकाशित होती है। यही परशिव और परासंविकी स्वरूपस्थिति है। यह अवस्था 'समना' और 'उन्मना' शक्ति के परे है तथा शिव और शक्ति के सामरस्य की स्थिति है। यह आत्माकी निष्कल स्थिति है। कोई-कोई आचार्य इस स्थिति को ही कैवल्य कहते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि यही पूर्ण स्वरूप है।

आगमों के अनुसार पूर्णत्व की प्राप्ति

'पूर्णत्व' की प्राप्ति मनुष्य जीवनका एकमात्र उद्देश्य है; परंतु 'पूर्णत्व' शब्दका तात्पर्य क्या है-इस सम्बन्ध में दृष्टिभेद के कारण मतभेद है। वर्तमान निबन्धमें हम शैव और शाक्तदृष्टि के अनुसार आलोचना करेंगे। पाञ्चरात्र आगम तथा अन्यान्य वैष्णवशास्त्रों की दृष्टि से कुछ नहीं कहा जायगा; क्योंकि इसकी पृथक् धारा है। एक धाराके साथ अन्य धारा का सम्मिश्रण ठीक नहीं है। 'पूर्णत्व' शब्दका अभिप्राय क्या है, इसको समझने के लिये शास्त्रों के चरम सिद्धान्त को जानना आवश्यक है। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही पूर्ण सत्य है, इस विषय में किसीका मतभेद नहीं है। ब्रह्म प्रकाशस्वरूप और आनन्दस्वरूप है, अखण्ड सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु उसमें स्वातन्त्र्य नामकी अचिन्त्य शक्ति नित्य विद्यमान है। यह महाशक्ति उसकी स्वरूपा-शक्ति है और उसके स्वरूपके साथ अभिन्न है। आगमशास्त्र के अनुसार कहा जाता है कि ब्रह्म आत्मस्वरूप है और स्वातन्त्र्य उसकी विमर्शरूपा शक्ति है। यह स्वातन्त्र्यशक्ति ही किसी-किसी स्थानमें 'स्पन्द' नामसे अभिहित होती है। स्वातन्त्र्यहीन प्रकाश वस्तुतः 'ब्रह्म'पद वाच्य नहीं है; क्योंकि यह प्रकाश स्वरूप होकर स्वातन्त्र्यहीन होने से व्यवहार क्षेत्र में जडरूप में परिगणित होने योग्य है। आगमके मतसे पूर्ण सत्ता अखण्ड और अद्वैत है। सृष्टिकी ओरसे देखनेपर इसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। ये सब शक्तियाँ चरम स्थिति में इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति में पर्यवसित होती है। अतएव 'पूर्णत्व' शब्द से आगम के अनुसार तीनों दृष्टि से अखण्ड एकताका बोध होता है। प्रथम दृष्टि से एक, द्वितीय दृष्टिसे दो और तृतीय दृष्टि से तीन। इसे सर्वदा स्मरण रखना

चाहिये। तीन कहनेपर परब्रह्म की बहिरङ्ग दृष्टि लक्षित होती है, जहाँ इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति त्रिकोण अथवा योनिरूप में परिगृहीत होती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया समष्टिरूपमें ब्रह्म की बहिरङ्गा शक्ति है। चित् और आनन्द, अर्थात् चित् शक्ति और आह्लादिनी शक्ति बह्म या पूर्णका अन्तरङ्ग है। चित्का अभिप्राय है अखण्ड प्रकाश तथा आनन्दका अभिप्राय आत्मस्वरूप में अनुकूल भाव। चित् और आनन्द एक ही वस्तु हैं; किंतु चित् अन्तर्मुख और आनन्द बहिर्मुख है। आनन्द और इच्छा एक ही वस्तु है; किंतु आनन्द अन्तर्मुख है और इच्छा बहिर्मुख है। ब्रह्म का जो सत्स्वरूप है, यह न अन्तरङ्ग है और न बहिरङ्ग-बल्कि उसे दोनों अङ्गका अङ्गी कह सकते हैं। यहाँ तक धारणा कर लेने पर ब्रह्म के निगूढ़ स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट बोध हो सकता है। इसके बाद कला, तत्त्व और भुवनरूप में तीन क्रमिक अवस्थाएँ ब्रह्म के साथ संश्लिष्ट हैं। इसके पश्चात् विश्व की सृष्टिका आदिस्फुरण महासृष्टि के रूप में प्रकाशमान होता है। उसके बाद खण्ड-खण्ड पृथक् सृष्टि होती है और उसमें खण्ड काल का प्रभाव होता है। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण आदि को लेकर समस्त विश्व की तथा विश्वातीत निष्कल ब्रह्म की सत्ता है।

इन सबको लेकर ही परिपूर्ण ब्रह्मसत्ता समझनी चाहिये। इसीका नाम पूर्णत्व' है। आगममें इसका 'परम शिव' अथवा 'परासंवित्' के नामसे वर्णन किया गया है। प्रत्येक आत्माकी प्रकृत-वास्तविक सत्ता यही है। इस स्थितिमें प्रतिष्ठित हुए बिना यह नहीं कहा जा सकता कि 'पूर्णत्व' की प्राप्ति हो गयी। इस अवस्था की प्राप्ति परमेश्वरके शक्तिपात या सद्गुरु की कृपा के बिना असम्भव है। विवेकज्ञानके द्वारा एक अवस्था प्राप्त होती है। उसका 'कैवल्य' के नामसे वर्णन करते हैं। इस स्थिति में अचित्से चित् व्यावृत होकर निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। योगके द्वारा एक और अवस्था प्राप्त होती है, उसे 'प्रकृत ऐश्वर्य' के नामसे वर्णन कर सकते हैं। विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष पृथक् हो जाते हैं तथा पुरुष अपने को प्रकृति से पृथक् समझता है। योग के द्वारा प्रकृति और पुरुष एक हो जाते हैं। यही अवस्था ईश्वरका स्वरूप है। एक मार्ग से कैवल्य और दूसरे मार्गसे ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है,

यही नियम है। विवेक के मार्ग में प्रकृति को क्रमशः त्याग करना पड़ता है; परंतु योग के मार्ग में प्रकृति को अपना बनाना पड़ता है। यह अपना बना लेना तभी सम्भव है, जब प्राकृत शरीर से अर्थात् भूत और चित्त मलिनता दूर हो जाय। सङ्ग और स्मय, अर्थात् आसक्ति और अहंकार के रूपमें यह मलिनता अस्मिता-समाधिके बाद भी वर्तमान रहती है। इसको दूर किये बिना प्रकृति को अपना बना लेना सम्भव नहीं है। योगके मार्ग से ऐश्वर्य ही चरम प्राप्ति है। इसी का नाम 'इन्छाशक्तिका पूर्णत्व है। इसके बाद इच्छाशक्तिको भी समर्पण करना पड़ता है। तब 'महा-इच्छा' जागरूक रहती है। अपनी कोई इच्छा पृथक्‌रूप में नहीं रह जाती। यह इच्छा शून्य अवस्था नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत इच्छा के महा-इच्छा में समर्पित होने की अवस्था है। इस अवस्थामें बहिर्मुख दशा में महाकरुणा रहती है, इस कारण विश्वकल्याण सम्भव होता है तथा अन्तर्मुख दशामें अपने ही साथ अपनी अनन्त वैचित्र्यमयी प्रेमलीला का अभिनय होता रहता है। ये अभिनय नित्य हैं। कैवल्य भी नित्य है, लीला भी नित्य है। दोनों के ऊर्ध्व में निष्कल पूर्णस्वरूप विराजमान रहता है। आगम के पूर्णत्व से अनन्त होना तथा अनन्त सत्ता में सत्तावान् लीला का अभिनय करना अभिप्रेत है। केवल अभिनय करना ही नहीं, बल्कि अभिनय देखना भी। सो भी, केवल तटस्थरूप में नहीं, सामाजिकके समान भावरक्षित दृष्टि से। इसके अतिरिक्त अभिनय के ऊर्ध्व में लीलातीत सच्चिदानन्द तो हैं ही। लीलातीतमें अखण्ड आनन्द है और लीला में भीतर अनन्त लीलाका अनन्त वैचित्र्य है। पूर्णत्व कहने से इन सबका बोध होता है। यह एक साथ विश्व और विश्वातीत है। पृथक् आस्वाद भी है, अखण्ड आस्वाद भी है और साथसाथ आस्वादनके ऊर्ध्व में तटस्थ प्रकाशन तो है ही।

मृत्यु तथा पुनर्जन्म

(श्रीअरविन्द के कुछ पत्र)

मृत्यु और अमरत्व–मृत्यु इसलिये होती है; क्योंकि देहीने अबतक इतनी गति नहीं की कि बिना परिवर्तनकी आवश्यकताके एक ही शरीर में प्रवृद्ध होता

चला जाय और शरीर स्वयं भी काफी सचेतन नहीं हुआ है। यदि मन, प्राण तथा स्वयं शरीर अधिक अचेतन तथा अधिक सुनम्य हो तो मृत्युकी आवश्यकता नहीं रहेगी। बिना अतिमानसीकरण के (अतिमानसद्वारा रूपान्तरके) शरीर का अमरत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यौगिक शक्ति के भीतर क्षमता है तथा योगी 200 या 300 या इससे भी अधिक वर्ष जी सकते हैं; किंतु अतिमानसके बिना अमरत्व के वास्तविक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

भौतिक विज्ञानतक यह विश्वास करता है कि एक दिन मृत्युपर विजय प्राप्त होगी तथा इसके तर्क पूरे ठोस हैं तो कोई कारण नहीं कि अतिमानस शक्ति इसे न कर सके। यदि आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्तकर यह (मानव 1 आत्मा) पार्थिव अभिव्यक्ति से निकल जाना चाहे तो यह वैसा सचमुचमें कर सकता है-किंतु अज्ञान नहीं, ज्ञान के भीतर एक उच्चतर अभिव्यक्ति भी सम्भव है।

पुनर्जन्म तथा व्यक्तित्व-पुनर्जन्मकी प्रक्रिया में आत्मा को भयंकर कष्ट होता है, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं; लौकिक विश्वास, जब उनका कोई आधार रहता है तब भी बहुत कम ही प्रबुद्ध तथा बिलकुल सही होते हैं। देही अपने अनेक जन्मो के क्रम से गुजरने के समय बहुत प्रकारके व्यक्तित्व धारण करता है तथा बहुत प्रकारकी अनुभूतियों से होकर गुजरता है; किंतु नियमतः वह उन सबको अन्य जीवन में नहीं ले जाता। वह एक नया मन, प्राण और शरीर ग्रहण करता है। पुराने मन तथा प्राणकी, व्यस्तताएँ, रुचियाँ तथा स्वभावगत विलक्षणताएँ जितनी हद तक वे नये जन्मके लिये उपयोगी होती हैं, उतनी के अतिरिक्त नये मन तथा प्राणद्वारा ग्रहण नहीं की जातीं। किसी को एक जन्म में काव्यात्मक भाव-व्यञ्जना की क्षमता हो सकती है; किंतु अगले जन्ममें उसे ऐसी क्षमता या कवितामें रुचि नहीं भी हो सकती। दूसरी ओर, एक जन्म में दबायी जा चूकी या अपूर्णरूप से प्रबुद्ध प्रवृत्तियाँ दूसरे जन्म में बाहर प्रकट हो सकती हैं। अन्तरात्मा पुरानी अनुभूतियों का सारतत्त्व अपने साथ रखता है, किंतु अनुभूतियोंका अथवा व्यक्तित्वका स्वरूप वह नहीं रखता-सिवा वैसी अनुभूतियों या व्यक्तियों के स्वरूपको जो अन्तरात्मा की प्रगति के नये विकास-बिन्दु के लिये आवश्यक हैं।

मृत्यु के बाद अन्तरात्मा की यात्रा

मृत्यु के साथ तत्काल ही अन्तरात्मा (भौतिक कोष के अतिरिक्त) मनोमय और प्राणमय कोषका परित्याग नहीं करती। कहा जाता है कि पृथ्वी के साथ सारा सम्बन्ध काटनेमें उसे ले-देकर तीन वर्ष लग जाते हैं-यद्यपि कई बार अधिक देरसे या अधिक शीघ्रतासे भी संक्रमण होता है।

मृत्यु के समय देही मस्तक से होकर देह से बाहर निकल जाता है। वह सूक्ष्म शरीर में बाहर निकलता है तथा अल्पकाल के लिये अस्तित्वके कई स्तरों में (लोकों में) जाता है, जब तक कि वह चंद अनुभूतियों से होकर गुजर न ले, जो उसके पृथ्वीपरके जीवनके परिणाम होती हैं। बादमें वह अन्तरात्माके लोकमें पहुँचता है, जहाँ वह एक प्रकार की नींद में विश्राम करता है, जब तक कि उसके लिये पृथ्वी पर एक नया जन्म प्रारम्भ करने का समय न आ जाय। सामान्यतः ऐसा ही होता है-किंतु कुछ अन्तरात्माएँ अधिक प्रगति किये होती हैं और वे इस क्रम का अनुसरण नहीं करतीं। अन्तरात्मा सीधे अन्तरात्मा के लोक में भी जा सकती है, किंतु यह निर्भर करता है शरीर छोड़ने के समय की उसकी चेतना पर। यदि उस समय चैत्य पुरुष सामने हो तो तत्काल संक्रमण बिलकुल सम्भव है। यह मानसिक, प्राणिक तथा आन्तरात्मिक अमरत्वकी प्राप्तिपर निर्भर नहीं करता। जिन्हें इनकी प्राप्ति हो गयी है, उन्हें तो नाना लोकों में विचरने की तथा बिना बन्धनमें बँधे भौतिक जगत्पर क्रिया करने की शक्ति होगी। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन वस्तुओं के विषय में कोई रूढ़ नियम नहीं है। चेतनामें उसकी ऊर्जाओं, प्रवृत्तियों तथा रूपाकृतियों के अनुसार बहुत सी विविधताएँ सम्भव हैं, यद्यपि एक व्यापक चौकठा तथा खाका है, जिसके भीतर ये सभी आ जाते हैं और अपने स्थान ग्रहण करते हैं। जो अन्तरात्माएँ अन्तरात्मा के लोक में विश्राम के लिये जाती हैं, उनकी अवस्था बिलकुल अचल होती है; प्रत्येक अपने भीतर समाहित हो जाती है तथा एक दूसरे पर क्रिया नहीं करती। जब वे अपनी समाधि से बाहर निकलती हैं तब वे नये जीवन में प्रवेश करने के लिये उतरने को तैयार होती हैं; किंतु इस बीचमें क्रिया नहीं करती।

अन्तरात्मा के लोक का कोई जीव पृथ्वीपरकी किसी अन्तरात्मामें घुल नहीं जाता। किसी-किसी अवस्था में जो होता है वह यह कि कोई बहुत ही विकसित अन्तरात्मा कभी-कभी अपना एक अंश नीचे भेजती है, जो एक मानवप्राणी में रहकर उसे तैयार करता है, जबतक कि स्वयं अन्तरात्माके उस जीवन में प्रवेश करने योग्य वह तैयार न हो जाय। यह तब होता है जब कोई विशेष काम करना होता है तथा मानव-वाहन को तैयार करनेकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार का अवतरण व्यक्तित्व तथा स्वभावमें आकस्मिक प्रकारका विलक्षण परिवर्तन लाता है। सामान्यतः अन्तरात्मा एक ही लिङ्ग का अनुसरण करती है। यदि कभी लिङ्ग-परिवर्तन होता है, तो नियमतः वैसा व्यक्तित्व के अंशों के साथ होता है जो केन्द्रीय नहीं होते। वे अन्तरात्माएँ, जो पुनर्जन्म के लिये लौटती हैं, कब नये शरीर में प्रवेश करती हैं, इसका कोई नियम नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के साथ विभिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। कुछ अन्तरात्माएँ जन्म के पास-पड़ोस के वातावरण तथा माता-पिता के साथ गर्भाधान के समय से सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तथा अपने व्यक्तित्व और भविष्य को गर्भ में निश्चित करती हैं, कुछ दूसरी जन्मके बाद भी; तथा इस अवस्थाओं में अन्तरात्मा का एक अंश जीवन को अस्तित्व में रखे रहता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आगामी जन्म की अवस्थाएँ मूलतः अन्तरात्माके लोक में वास के समय नहीं, अपितु मृत्यु के समय निश्चित की जाती हैं। उस समय अन्तरात्मा यह चुनाव करती है कि उसके दूसरी बार पृथ्वीपर आने पर उसे कौन-सी गुत्थी सुलझानी होगी और परिस्थितियाँ उसी के अनुसार सज जाती हैं।

अन्तरात्मा कब ऊपर जाती और कब नीचे लौटती है?

वह (जीवन्मुक्त) जहाँ पर भी उसने अपना लक्ष्य स्थिर किया था वहाँ जा सकता है-निर्माण की अवस्था में या किसी दिव्य लोकमें और वहाँ रह सकता है। अथवा जहाँ कहीं भी वह जाय, पृथ्वीकी गतिविधि से सम्बन्ध बनाये रख सकता है और यदि पृथ्वी की गतिविधि में सहायता करनेकी उसकी इच्छा हो तो फिर लौट सकता है।

यह (अन्तरात्मा की वर्तमान उच्चतम उपलब्धिसे किसी और भी उच्चतर लोकमें जाने की बात) संदिग्ध है। यदि मूल रूपमें वह विकास-क्रम का जीव नहीं, बल्कि किसी उच्चतर लोक का जीव है, तो वह उस लोकको लौट जायगा। यदि वह और भी ऊपर जाना चाहता है तो यह सर्वथा युक्तिपूर्ण है कि जब तक वह उस उच्चतर लोक की चेतना विकसित न कर ले, तब तक विकास के क्षेत्र में वापस आवे। प्राचीन विचार कि यदि देवता लोग भी चाहें तो उन्हें पृथ्वी पर आना होगा, इस ऊर्ध्वारोहण के सम्बन्ध में लागू किया जा सकता है। यदि वह मूलतः विकास-क्रम का जीव है तो उसे विकास-क्रम के पथसे ही, चाहे निर्वाणद्वारा, यहाँ से नकारात्मक रूपमें निकल जाना होगा अथवा सच्चिदानन्दकी वर्धमान अभिव्यक्ति में कोई दिव्यभावात्मक चरितार्थता प्राप्त करनी होगी। वापस लौटने की असम्भाव्यता बड़ा गुत्थीदार प्रश्न है। कोई दिव्य जीव सदा ही लौट सकता है-जैसा रामकृष्ण ने कहा था कि ईश्वरकोटि अपने इच्छानुसार जब चाहे तब अमृतत्व तथा पुनर्जन्म की सीढ़ी के बीच उतर और चढ़ सकता है। दूसरोंके लिये यह सम्भव है कि वे एक सापेक्ष अनन्तकालतक ('शाश्वतीः समाः') विश्राम करें, यदि उनकी ऐसी इच्छा हो; किंतु उनका लौटना रोका नहीं जा सकता, जबतक कि वे अपनी उच्चतम सम्भाव्य स्थिति में पहुँच न गये हो। विकसित अन्तरात्माएँ इस संक्रमण काल में बहुत अधिक सतर्क रहती हैं तथा इस कामका बहुत कुछ अंश स्वयं करती है। समय भी जीव के विकास तथा उसकी एक प्रकार की समम्बरतापर निर्भर करता है-किसी के लिये करीब-करीब तत्काल ही पुनर्जन्म होता है, दूसरोंके लिये कुछ और अधिक समय लगता है, कुछ के लिये यह सैकड़ों वर्ष ले सकता है; किंतु यहाँ भी, अन्तरात्मा जहाँ एक बार पर्याप्त विकसित हो गयी, वह अपनी समस्वरता और मध्यवर्ती काल चुनने के लिये स्वतन्त्र होती है।

पिछले जन्मकी स्मृति

अन्तरात्मा के पुनर्जन्म में वापस आनेपर पूर्ण विस्मृति आ जाय, ऐसा कोई नियम नहीं। विशेषतः बचपनमें पिछले जीवनकी बहुत सी स्मृतियाँ अङ्कित रहती हैं, जो प्रबल और काफी स्पष्ट हो सकती हैं; किंतु भौतिकवादी बना देनेवाली शिक्षा

तथा अड़ोस-पड़ोस के वातावरण का प्रभाव उनकी वास्तविक प्रकृति को मान्यता देने में बाधक होता है। ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनमें किसी पिछले जन्म की बड़ी स्पष्ट स्मृतियाँ रहती हैं; किंतु शिक्षा तथा वातावरण द्वारा ये हतोत्साहित की जाती हैं और ये रह या बढ़ नहीं पातीं; बहुत अधिक अवस्थाओं में दम घुटकर ये अस्तित्वसे लुप्त हो जाती हैं। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अन्तरात्मा जो वस्तु अपने साथ ले जाती है और वापस ले आती है, वह सामान्यतः उसके पिछले जन्म की अनुभूतियों का सार होता है, ब्यौरे नहीं। इसलिये तुम वर्तमान जीवन जैसी पूरी स्मृतिकी आशा नहीं कर सकते।

यदि अन्तरात्मा अपने पूर्वजन्म का कोई एक या अधिक व्यक्तित्व वापस लावे, केवल तभी वह पिछले जन्म के ब्यौरे याद रख सकती है वरना यह स्मृति केवल योगदृष्टिद्वारा आती है।

प्रेत क्या है? प्रेत से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? जनसाधारण की भाषा में जो 'प्रेत' शब्दका व्यवहार किया जाता है, उसके अंदर अगणित घटित गोचर वस्तुएँ होती हैं, जो आवश्यक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होतीं। केवल कुछ मैं गिनाता हूँ।

(1) किसी मनुष्य की अन्तरात्मा के साथ उसके सूक्ष्म शरीर में वास्तविक सम्पर्क तथा एक आकृति के प्रकट होने या कोई शब्द सुनायी पड़ने द्वारा हमारे मनमें उसका प्रतिबिम्बित होना।

(2) किसी स्थान या क्षेत्र के वातावरणपर किसी दिवंगत मानव-प्राणी के विचारों और भावनाओं की छाप लगायी हुई एक मानसिक रूपाकृति, जो वहाँ घूमती रहती या बार-बार प्रकट होती है, जबतक कि वह थक नहीं जाती, अथवा किसी एक या दूसरे उपायद्वारा नष्ट नहीं हो जाती। भुतहा घर, जिसमें किसी हत्या के समय होनेवाले या उसके चतुर्दिक् वर्तमान या उसके पहले का दृश्य बारबार दुहराया जाता है तथा इसी प्रकार की अनेक अन्य घटनाओं की यही व्याख्या है।

(3) निम्नतर प्राणिक लोक का कोई जीव, जो किसी जीवित मानव-प्राणी अथवा किसी अन्य साधन या करणद्वारा अपनेको इतना काफी ठोस भौतिक बना

लेता है कि दृश्य रूपमें प्रकट हो सके, अथवा सुनायी पड़नेवाली आवाजमें बोल सके या बिना इस प्रकार दिखलायी पड़े भौतिक पदार्थों-जैसे कि टेबुल-कुर्सी आदिको इधरउधर सरकावे अथवा वस्तुओं को दृश्य बनावे या उन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाय। गरजनेवाले प्रेत, पत्थर फेंकने की घटना, पेड़ों में रहनेवाले भूतों तथा अन्य सुविदित घटनाओं का यही कारण है।

(4) निम्नतर प्राणिक लोकों का कोई जीव, जो किसी दिवंगत मानव-प्राणी का छोड़ा हुआ प्राणमय कोष या उसके प्राणिक व्यक्तित्व का एक खण्ड धारण कर लेता है तथा उस व्यक्तिके रूपमें और शायद उसके उपरितलीय विचारों तथा स्मृतियों के साथ प्रकट होता तथा क्रिया करता है।

(5) छायाएँ, जो स्वयं अपने मनकी रूपाकृति होती हैं तथा इन्द्रियों के सामने प्रत्यक्ष रूप धरे दिखलायी पड़ती हैं।

(6) प्राणिक सत्ताओ द्वारा कुछ काल के लिये किसी व्यक्तिपर अधिकार, जो कभी-कभी दिवंगत-सम्बन्धी होने का बहाना करती हैं, आदि।

(7) मरने के समय व्यक्तियों द्वारा प्रायः प्रक्षिप्त स्वयं उनकी विचारमूर्तियाँ, जो मृत्युके समय या उसके कुछ घंटों बाद उनके मित्रों या सम्बन्धियोंके सामने प्रकट होती हैं। देखो, कि इनमेंसे केवल एक अवस्था में ही, पहली में अन्तरात्मा को तथ्यरूप में माना जा सकता है और वहाँ कोई कठिनाई नहीं उठती।

भयंकर तरहका गड़बड़-प्रेतलोक के धूमिल प्रकाश और छाया के माध्यम से आती हुई सभी प्रकार की वस्तुओं की खचड़ी। अनेक माध्यम से ऐसे व्यक्ति लगते हैं जो सूक्ष्म जगत् में भाग गये हुए होते हैं, जहाँ से पार्थिव जीवन में एक अधिक सुधरे हुए संस्करणद्वारा अपनेको घिरा पाते हैं और समझते हैं कि मृत्यु के बाद का सच्चा और निश्चित जगत् यही है; किंतु यह मात्र मानव-लोकके विचार चित्रों और सम्बन्धों का आशावादी विस्तार है। यही परलोक जिसका वर्णन मृत आत्माओंको बुलानेवाले 'निदर्शक और दूसरे माध्यम करते हैं।

मृत आत्मा का बुलाया जाना

मृत आत्माओं को बुलाये जानेवाली गोष्ठी में जो प्रेत या आत्मा आती है, वह अन्तरात्मा नहीं होती। माध्यम के द्वारा जो कुछ आता है, वह माध्यमकी तथा बैठनेवालोंकी अवचेतना (अवचेतना शब्दको यहाँ सामान्य अर्थमें प्रयुक्त कर रहा हूँ, यौगिक अर्थ में नहीं) का मिश्रण होता है; दिवंगत व्यक्तिद्वारा छोड़े हुए अथवा शायद किसी प्रेत या किसी प्राणिक सत्ताद्वारा अधिकृत किये हुए या प्रयुक्त प्राणमय कोष, दिवंगत व्यक्ति स्वयं अपने प्राणमय कोष में या उस अवसरपर ग्रहण किये किसी अन्य वस्तु के भीतर (किंतु यह हैं, प्राणिक अंश होता है जो बातचीत करता है), प्राकृतिक तत्त्वों या वस्तुओं की आत्माएँ, पृथ्वी के निकटके निम्नतम प्राणिक भौतिक लोक के प्रेत आदि। अधिकांश में एक स्वचालित लिखन तथा प्रेतात्माओं को बुलानेवाली गोष्ठियाँ-बड़ा मिश्रित व्यापार हैं। कुछ अंश माध्यम के अवचेतन मन से आता है और कुछ बैठनेवालों के अवचेतन मन से। किंतु यह सच नहीं कि सब कुछ नाटकीयता लानेवाली कल्पना और स्मृति के ही परिणाम होते हैं। कभी-कभी ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं जो उपस्थित लोगोंमेंसे किसीको ज्ञात नहीं हो सकतीं और न याद आ सकती है। कभी-कभी, यद्यपि यह विरले होता है, भविष्य की झाँकियाँ। किंतु सामान्यतः ये गोष्ठियाँ आदि व्यक्तिको एक बड़े निम्न लोककी प्राणिक सत्ताओं और शक्तियोंके सम्पर्क में ले आती हैं, जो स्वयं अन्ध, असंगत और धोखेबाज होती हैं और उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना या किसी प्रकार के प्रभाव का ग्रहण करना खतरनाक होता है। **-(भाषान्तरकारक-व्रजनन्दन, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी)**

सुसाइड की बड़ी वजह बनी पढ़ाई में 'हार' व बेरोजगारी की 'मार'

नई दिल्ली। देश में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। आत्महत्या करने वालों में विद्यार्थियों और बेरोजगार युवाओं की संख्या सबसे ज्यादा है।

विद्यार्थियों की आत्महत्या पर किसी का बमुश्किल ध्यान जाता है और इसे 'केस-टू-केस के आधार पर निपटा दिया जाता है। स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मंत्रालय की स्थाई संसदीय समिति की राज्यसभा में पेश ताजा रिपोर्ट में इन तथ्यों पर चिंता जताते हुए ऐसे मामलों की रोकथाम के लिए गंभीरता से कदम उठाने की सलाह दी गई है। समिति ने एनसीआरबी की रिपोर्ट के हवाले से कहा कि एक साल में 26 हजार से ज्यादा छात्रों और बेरोजगारों ने जान दी है।

समिति ने स्वास्थ्य मंत्रालय से संघ लोक सेवा आयोग (यूपीएससी), नीट व जेईई जैसी प्रतियोगी परीक्षाओं में फेल हो जाने वाले युवाओं से जुड़ने के लिए फोन-आधारित संपर्क स्थापित करने की सिफारिश की है। समिति ने कहा कि सातों दिन-चौबीसों घंटे चलने वाली हेल्पलाइन के जरिए परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण युवाओं को चिह्नित कर उनकी काउंसलिंग की जानी चाहिए, ताकि इनका अवसाद कम किया जा सकें। समिति ने कहा कि आत्महत्या के कारणों पर नजर रखने के तरीकों को मजबूत करने और उनकी संख्या में कमी लाने की दिशा में काम किया जाना चाहिए।

स्कूलों में परामर्शदाताओं का कैडर बनें-संसदीय समिति के अध्यक्ष भुवनेश्वर कालिता की ओर से पेश रिपोर्ट में कहा गया है कि समिति की राय में 'निराश और आत्मसम्मान में कमी महसूस करना किसी व्यक्ति को आत्महत्या जैसा कदम उठाने के लिए प्रेरित करता है। ऐसी मनोवृत्तियों पर अंकुश के लिए मानसिक स्वास्थ्य जागरूकता और शिक्षा अभियानों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। समिति ने इसके लिए बच्चों, किशोरों और युवाओं के लिए मानसिक स्वास्थ्य देखभाल सेवाएं डिजाइन करने व आत्महत्या जैसा कदम उठाने के 'मनोदर्पण' जैसी पहल के तहत सभी स्कूलों में परामर्शदाताओं का एक समर्पित कैडर बनाने की भी सिफारिश की।

एक लाख लोगों पर एक मनोचिकित्सक भी नहीं-रिपोर्ट के अनुसार 2015 में हुए राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण में करीब 15 करोड़

लोगों के मानसिक रोगों से ग्रस्त होने की बात सामने आई थी और साल 2023 में भी वैसी ही स्थितियां हैं। भारत को मानसिक अवसाद से सर्वाधिक प्रभावित देशों की श्रेणी में रखा गया है। दुनिया के 64 देशों में हुए अध्ययन के आधार पर तैयार वैश्विक रिपोर्ट में भारत की रैंकिंग 56वीं है, लेकिन देश में प्रति एक लाख लोगों पर मनोरोग चिकित्सकों की मौजूदगी महज 0.75 है।

आत्म स्वभाव से विपरीत दुःख व स्वभाव से सुख

दिनांक -21-07-2023

परम पूज्य वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव वर्तमान में योगिन्द्र गिरी सागवाड़ा में चातुर्मास प्रवास के अन्तर्गत साधनारत है। वेबिनार में आत्मानुशासन शास्त्र अध्ययन के माध्यम से जन-जन में विषय सुख को भोगते हुए भी धर्म में प्रवृत्त कैसे किया जाय? धर्म की रक्षा करने का उपदेश दे रहे है। स्वाध्याय के माध्यम से भव्य प्राणियों के भावों में आमूलचुल परिवर्तन आ रहा है।

आत्मानुशान के स्वाध्याय की कड़ी में आज दिनांक 21.07.2023 को आचार्य श्री द्वारा आत्मानुशासन गांथा 106 एवं 107 की व्याख्या की गई विभिन्न उदाहरणों एवं तत्कालीन सामाजिक, वैज्ञानिक व कानून व्यवस्थाओं के साथ जोड़कर विषय को सुगम रूप से आचार्य श्री ने प्रस्तुत किया है। आचार्यश्री के मुखारविन्द से निकली वाणी को अल्पबुद्धि से लिपिबद्ध करने का प्रयास किया है।

''रागादि छोड़ने की प्रेरणा।।''

कुबोध रागादिविचेष्टितैः फलं, त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोम वृतिभिः, ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्।।(106)

अर्थः-हे भव्य! तूने स्वयं कुज्ञान और रागादिरूप, विपरीत चेष्टाओं के द्वारा जन्म मरणादि रूप फल प्राप्त किया है। अतः अब तू ऐसी प्रतीति कर कि इनसे विपरीत प्रवृत्तियाँ करके उनके फल से विपरीत फल (मोक्ष) प्राप्त हो।

आचार्यश्री ने इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा कि संसार में जीव कुबुद्धि से प्रेरित होकर जो रागद्वेष करता है वो पापवर्धन एवं संसारवर्धन का ही कारण है। इससे स्व एवं पर दोनों का अहित होता है। हमारे जीवन की व्यक्तिगत समस्या हो या वैश्विक सार्वभौमिक समस्याएँ हो, उनका समाधान आज ना ही कानून व संविधान के पास है, और ना ही विज्ञान के पास है। मनुष्यकृत निति नियमों से समाधान पाना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। विज्ञान ने पर्यावरण प्रदुषण से लेकर एटमबम तक का आविष्कार कर लिया हो लेकिन हर समस्या का समाधान मात्र भौतिक वस्तुओं के आविष्कार से हो जायेगा ऐसी धारणा पूर्णतः ठीक नहीं है। अभव्य जीव की योग्यता ही नहीं है कि सर्वज्ञ की वाणी को स्वीकार करे। अभव्य जीव शलाका पुरुष के घर जन्मा हो तब भी सत्य तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाता है। अतः भव्य जीव मात्र सत्य तथ्य को ही स्वीकारता है अन्य को नहीं। यदि कोई चतुर्थ काल में भी मुनि और आचार्य पद प्राप्त कर ले, लेकिन जब तक भावात्मक, वैचारिक व परिवर्तन नहीं होता तब तक सत्य के समीप नहीं सकता है। सामान्य व्यक्ति स्थूल परिवर्तन को ही जानता है व महत्व देता है लेकिन भावात्मक सूक्ष्म परिवर्तन को और नहीं जानता है।

वर्तमान की वैश्विक व सार्वभौमिक समस्याओं का कारण वैचारिक भाव व्यवहार नवकोटि से विपरीत नैतिक रूप से व्यवहार में आप सभी सम्यक् हो सकते है। चाहे वो राष्ट्रपति हो या प्रधानमन्त्री नैतिक मूल्यों में श्रेष्ठ हो सकते हैं लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त विपरीत है। अतः अन्त में आचार्य श्री कहते हैं कि जीवने अनन्तकाल तक राग-द्वेष, घृणा रूप परिणाम करके अनादि काल से मिथ्यादृष्टि ही बना रहा। अब गुरु उपदेश सुनकर स्वरूप की श्रद्धा कर, सम्यक्त्व सहित मोक्ष को प्राप्त कर। इसलिए सच्चा धार्मिक बन।

दया-दम आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा।

दया दमत्याग समाधि सन्ततेः, पथि प्रयाहि प्रगुणे प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वच सामगोचरं विकल्प दूरं परमं किमप्यसौ।। (107)

अर्थः-हे, जीव! स्व-पर की करुणा करना, दया, इन्द्रिय मन को वंश में करना। दम व पर पदार्थों से राग छोड़ना। त्याग और वीतराग दशा रूप सुख ही समाधि है। इनकी परम्परा रूप मार्ग पर प्रयत्नशील होता हुआ, निष्कपट होकर गमनकर- यही मार्ग तुझे वचन अगोचर और निर्विकल्प परम पद की प्राप्ति करायेगा।

इस गाथा में आचार्य श्री दया धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे रहे है। मोक्ष मार्ग का पथिक दया को धारण करके, इन्द्रियों के विषयों का दमन करके व सतत् समाधिस्थ होकर आगे बढ़ता है, क्रान्ति व शान्ति के पथ में अग्रसर है वह आत्मशान्ति एवं विश्व शान्ति को प्राप्त करता है।

श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथजी व अरहनाथ भगवान् चक्ररत्न से आत्मविजयी नहीं बने बल्कि आत्ममंथन से विश्व विजयी कहलाएँ।

अतः आचार्यश्री कह रहे है कि दया, दम त्याग व समाधि इन चार साधनों से ही जीव आत्मविशुद्धि व आत्मशान्ति को प्राप्त कर सकता है, आत्मसुख के समक्ष संसार के देवेन्द्रादि के सुख भी तुच्छ है। इसका वर्णन संसारी मिथ्यादृष्टि जीव नहीं कर सकता अतः वचन अगोचर कहा गया है। संसार के किसी भी सुख से इसकी तुलना नहीं हो सकती इसलिए इसे परम पद कहा है। दया, दम, त्याग व समाधि धारण करने से ही स्वाधीन सुख की प्राप्ति होती है इसी मार्ग से उस परम व पूर्ण सुख की प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं। **सुलेखः-ब्र. संध्या दीदी ग. पु. कॉलोनी सागवाडा**

सबसे महान् वीतरागी सन्त का लक्ष्य

(चालः 1. मेरे प्यारे सुन्दर भारत (तेरी प्यारी प्यारी सूरत)

तव लक्ष्य है सबसे महान्, वीतरागी सन्त प्रवर...आप महन्त...

हो धन-जन-मान परे तुम, 'शुध्द-बुध्द-आनन्द'...सच्चिदानन्द...(ध्रुव)

आपका लक्ष्य न सेठ-साहुकार, राजा-महाराजा-चक्री-इन्द्र...

आपका लक्ष्य न है स्वामी/भोगोपभोग व वर्चस्व...

ये सभी तो कर्मज- क्षणिक, इससे परे आध्यात्मिक वैभव...

अनन्त ज्ञान दर्श सुखवीर्य, अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रभुत्व...आत्मवैभव...(1)

इस हेतु ही करते साधना सतत, ध्यान-अध्ययन-मौनव्रत...

तप-त्याग से ले अकिञ्चन-ब्रह्म, जो सत्य-शिव-सुन्दरम्...

इस हेतु त्यागते (हो) ख्याति-पूजा-लाभ, इह-परलोक भोग साधनम्...

इस हेतु न करते संकल्प-विकल्प, संक्लेश-द्वन्द्व-बन्धकारकम्...निस्पृह सन्त...(2)

दीन-हीन-अहंकार त्यागते, समता- शान्ति शुचिता पालते...

आत्मविश्वास-ज्ञान-चारित्र से, क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच से...

अपेक्षा-उपेक्षा- प्रतीक्षा परे, निशंक-निःकांक्ष-अमूढ़ भाव से,

आत्मानुशासी-आत्मानुलम्बी से, स्वयं में ही स्वयं को पाते...सहज-सरल...(3)

यह ही शुद्ध-बुद्ध-आनन्द दशा, जीवों की अन्त्योदयी-सर्वोदयी दशा...

इसे पाने हेतु ही चक्री सन्त बनते, यह पदवी इन्द्र से भी गरिष्ठ....

अतः हे! वीतरागी सन्त-महन्त, आपका लक्ष्य विश्व में वरिष्ठ...

आपका अनुयायी है 'कनक सन्त', ''वन्दे तद्गुण लब्धये'' हेतु सतत...गुणाधीश...(4)...

योगेन्द्रगिरि, दिन 29/7/2023, अपराह्न 5.56

महिमावन्त आध्यात्मिक सन्त

(आध्यात्मिक सन्त को गलत मानते रागी-द्वेषी-मोही-स्वार्थी)

(चालः मेरे प्यारे सुन्दर भारत...तेरी प्यारी प्यारी सूरत)

साधु! तव महिमा भारी है ऽऽ/(सन्त की महिमा न्यारी है ऽऽ)

लौकिकजन से परे/(भिन्न)...धन्य सन्त...

तव महिमा है समता-शान्ति...आत्मविशुदि से पूरे/(पूर्ण) साम्य-शान्त...(ध्रुव)...

लौकिक जन की महिमा है, धन-जन-मान-सम्मान...

भोगोपभोग-सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि-वर्चस्व पूर्ण...

ये सभी है विभाव-परभाव, जो दुःख-शोक उत्पादक...

इससे भिन्न तेरी महिमा, आत्मिक शान्तिदायक...सुन चेतन...(1)...

तव महिमा है ज्ञान-ध्यान, तप-त्याग व वैराग्य...
एकान्त-मौन-निस्पृहता से, आत्मा के शोध-बोध पूर्ण...
इन्द्र-चक्री से भी है तेरी महिमा, श्रेष्ठ- ज्येष्ठ एवं श्रेय...
इनकी तो कर्मज-भौतिक, आपकी आत्मिक व कर्मनाशक...महिमा
श्रेष्ठ...(2)...
इसीलिए तो इन्द्र-चक्री भी, श्रद्धा से करते आपको प्रणाम...
आपके प्रवचन व आशीष से, वे मानते स्वयं को धन्य...
आप न करते ढोंग-पाखण्ड, मायाचार-शोषण-मिथ्याचार...
टोना-टोटका मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, तो भी प्रभाव इनसे अपार-धन्य सन्त...(3)...
किन्तु रागी-द्वेषी-मोही-कामी, स्वार्थी, तव महिमा न माने/(जाने)...
यथा शूकर, जौंक, गीध, बक (आदि), शुचिता से घृणा करे...
ऐसे जीव ही आपसे घृणा करके, निन्दा व अपमान करे...
किन्तु आप साधुता से क्षमाकर, पापक्षय आशीर्वाद देते...धन्य प्रवर...(4)...
आप तो अपनी साधुता से, स्वर्ग-मोक्ष सुख पाते हैं...
किन्तु आपके द्वेषी स्व-पाप से, उभयलोक दुःख पाते हैं...
ऐसे हो आप महिमावन्त, आध्यात्मिक गुणगण सम्पन्न...
'सूरी कनक' आप सम बनने हेतु, आपको करे
नमन...महिमावन्त...(5)...

योगेन्द्रागिरि, दि. 29/7/2023, रात्रि 12.50

सन्त का वैश्विक अवदान/(योगदान)

(चालः मेरे प्यारे सुन्दर भारत...तेरी प्यारी प्यारी सूरत)

सन्त! तव अवदान/(योगदान) महान्, लौकिकजन से भिन्न/(परे)-शान्त-सन्त...
तव अवदान है आत्मिक जो, स्व-पर-विश्व हितपूर्ण...धन्य सन्त..(ध्रुव)
आत्मशुध्दि हेतु आपका योगदान, जिससे होता आत्म विकास...
समता-शान्ति-उदारता व, शुचिता से होता आत्म विकास...

जिससे घटती विषमता-अशान्ति (समस्या), बढ़ती आत्मिक शक्ति...
जिससे तन-मन-आत्मा स्वस्थ्य (सबल) बनें, होती आत्म उन्नति...हितैषी सन्त...(1)
ये सभी सम्भव नहीं है केवल, लौकिक पढ़ाई-राजनीति तक...
अन्याय-अत्याचार-पापाचार, शोषण-मिलावट तक...
सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि-डिग्री, धन-जन-मान-सम्मान तक...
तव अवदान है इससे परे, जो इह-परलोक हितकर...हितकारक...(2)
यथा मूल में जल देने पर, विशाल वृक्ष फूले-फले...
ऐसा सम्भव नहीं है, पत्ती सींचने से, किन्तु मूढ़ न ये जाने...
मूढ़ तो क्रय से फूलादि सम प्राप्ति सम, आत्मविकास मान...
पढ़ाई-बढ़ाई-चमड़ी-दमड़ी के...भ्रम से आत्मविकास माने...मूढ़ जन...(3)
इससे परे आपका योगदान, शाश्वतिक व आत्मिक...
आपका व्यापक स्वरूप है, तीर्थंकर-बुद्ध-सूरी-पाठक...
आपसे ही मानव महामानव से, बनते भगवान् तक...
अतएव आप सबसे महान्, तव आदर्श माने 'कनक...शान्त सन्त...(4)

योगेन्द्रगिरि, दि. 29/7/2023, प्रातः 9.26

विश्व धर्म प्रभाकर आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(महान् वैयावृत्य-वात्सल्य धारक संकट मोचक विश्वगुरु) (चतुर्विध संघ-धर्म-आगम (जिनवाणी) साधु के रक्षक व जैन (जन) एकता-विश्व शान्ति के प्रयासक-प्रचारक-उद्बोधक वैज्ञानिक श्रमणाचार्य श्रीकनकनन्दी गुरुवर!)

गुणानुरागी-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चालः आल्हा (बुन्देलखण्डी)

सुनो सुनो ये दुनिया वालों...कनक गुरु की क्रान्ति अपार...
ज्ञान-दान-सेवा-सहयोग...वैयावृत्ति (आदि) की चले बयार...(स्थायी)

चतुर्विध संघ-धर्म पर...संकट आए हैं बहुबार...
साधु संघ की रक्षा हेतु...विश्व गुरुने किया पुरुषार्थ...
जैन एकता-विश्व शान्ति के...आप पुरोधा सूरी महान्...
पीस नेक्स्ट जैना आदि से ले...विश्व धर्म संसद के काम...(1)...
क्षुल्लक अवस्था से (1978) आपने...खण्डन किया एकान्तवाद...
मध्य प्रदेश के शाहगढ़-सागर ... जबलपुर से हुआ शंखनाद...
प्रायः सैतालीस वर्षों से...सतत चल रही क्रान्ति बयार...
शंका-समाधान-तत्वचर्चा से...सम्पूर्ण पृथ्वी में हुआ प्रभाव...(2)...
कर्नाटक-महाराष्ट्र-विहार...यू.पी.-एम. पी. राजस्थान...
मध्य भारत के नागपुर में...अनेकान्त का बिगुल बजाय...
एकान्त मत का खण्डन हुआ...हाईकोर्ट में हुए परास्त...
इस क्रान्ति का दूर दूर तक...होने लगा प्रचार-प्रसार...(3)...
विमल-भरत-कुन्थु (सन्मति) सिन्धु...आर्या विजयामती महान्...
इन सब गुरुओं की प्रेरणा से...साहित्य लेखन किया महान्...
सोनागिरि (1988-89) में विमल-भरत...सूरी के आदेशानुसार...
अनेक संघों के साथ पढ़ाया...द्रव्य संग्रह-समयसार...(4)...
कनक गुरु थे बड़ौत यू.पी....विमल सिन्धु से आदेश पाय...
जिनार्चना द्वय आगम सम्मत...आदि ग्रन्थों का सृजन कराय...
प्रतिभाशाली गुरु की ख्याति...पूर्ण भारत में हुई महान्...
ज्ञानमती आर्या ने गुरु को...हस्तिनापुर में लिया बुलाय...(5)...
सर्वसंघ के अनुरोध से (1989)...समयसार स्वाध्याय कराय...
आगम बाह्य मत-पन्थ का...प्रभावक निरसन कराय...
प्रायः पचास साधु-साध्वी जन...दो सौ पचास विद्वान् आय...
आर्षमार्ग संरक्षण किया...अकाट्य तर्क से हुआ प्रभाव...(6)...
विश्व धर्म प्रभाकर गुरु ने...अनेक ग्रन्थों का किया सृजन...
''श्रमण संघ संहिता'' द्वारा... सु समाचार विधि बताय...

विद्यासागर ससंघ निमित्त...''मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर'' खण्डन

''दंसणमूलो धम्मो तहा संसार मूल...हेदु मिच्छत्तं'' ग्रन्थ सृजन...(7)...

सागवाड़ा वर्षायोग (2006) द्वितीय हुआ...भरत गुरु की हुई समाधि...

सुधासागर जी ने निन्दा की (सभा में)...कनक गुरुने निरसन की...

प्रवचन-ग्रन्थ द्वारा निषेध किया...समाज को भेजा उदयपुर...

जैन साधु की समाधिका भ्रम...हाई कोर्ट का भी निरसन...(8)...

बहु प्रतिभा के धारी गुरुवर...अनेक क्रान्तियों में अग्रसर...

त्रयशत साधु-साध्वियों के...आप हैं महाशिक्षा गुरुवर...

लाखों विद्यार्थी के प्रशिक्षक...आबाल-वृद्ध वनिता सब...

देश-विदेश के वैज्ञानिक (शोधार्थी)...अनेक देशों में प्रभावक...(9)...

संकट आने पर श्रावक-श्रमण...अपेक्षा रखते करने समाधान...

नवकोटि से सहयोग न करते...धन-मान-फोटो : नाम चाहते...

शोध-बोध-नवाचार क्रान्ति...गलत मानते होकर मूढ़...

सफलता प्राप्त होने पर...जयकार कर बनते अमूढ़..(10)...

महामना कनक गुरुवर...विकृति के परिशोधक...

भाव न रखते प्रतिशोध का...आप समन्वय संगठक...

अवसरवादी-स्वार्थनिष्ठजन...अकर्मण्य व निष्क्रिय...

आग लगने पर कुआँ खोदते...ऐसे है ये धार्मिक जन...(11)...

इन कारणों से कनक मुनिवर...समता-शान्ति से शोध करे...

माध्यस्थ भावी समता साधक...किसी में हस्तक्षेप न करे...

इन सब आध्यात्मिक भावों से...सबकी भाव विशुद्धि कराय...

गुणनिधि वैश्विक गुरु के...गुण प्राप्ति में भाव लगाय...(12)...

दिशाहीन ऐसे समाज की...सुरक्षा हेतु कनक गुरु...

आधुनिक सर्वविधा सह...आगम का भी ज्ञान कराय...

प्रायः तीन वर्षों से चल रही...झूम चैनल पर वेबिनार...

क्रन्ति हो रही जन-गण-मन में...'सुविज्ञ' भव्य पावे ज्ञान...(13)...

योगेन्द्रगिरि, दि. 25/7/2023, प्रातः 8:44

जैन धर्म की दिशा-दशा की चिन्ता व समान उपाय

परम पूज्य वैज्ञानिक धर्माचार्य श्रीकनकनंदी जी गुरुदेव की निश्रा में एवं उनके सानिध्य में प्रतिदिन 3:00 बजे वेबिनार का आयोजन किया जाता है जिसमें मात्र सिद्धान्तों का वाचन ही नहीं होता बल्कि ये भी चर्चा की जाती है कि इन सिद्धान्तों को प्रायोगिक तरीके से जीवन में कैसे उतारा जाय? धर्ममय जीवन कैसे बने? आचार्यश्री वैज्ञानिक विधि से धर्म को प्रस्तुत करके भक्तों के जीवन का उद्धार कर रहे हैं। इस वेबिनार में केवल भक्तगण ही नहीं जुड़ते है बल्कि प्रबुद्ध वर्ग से आचार्यश्री के वैज्ञानिक प्रोफेसर शिष्य उपस्थित होते हैं और अपने विचारों का आदान प्रदान करते हैं। नीतिकारों ने भी कहा है-

ज्ञानी से ज्ञानी मिले, होवे दो-दो बात।
गधे से गधे मिले, खावे दो-दो लात।।

आचार्यश्री ज्ञानी है और उनके ज्ञानी शिष्य जब मिलते है तो वेबिनार में विचारों का अद्भूत निचोड़ सामने आता है। ये सभी शिष्य आचार्यश्री से अध्ययन करते हैं। उनके भक्त शिष्यों की श्रृंखला में आज वेबिनार में उपस्थित है आदरणीय डॉ. चिरंजीलालजी बगड़ा। जो आचार्यश्री के 35-37 साल से भक्त शिष्य हैं। आदरणीय बगड़ाजी क्रान्तिकारी विचारों से युक्त है। वे दिशाबोध मासिक पत्रिका के माध्यम से जैनसमाज को दिशा-प्रदान कर रहे है। सभी साधु सन्तों का सानिध्य प्राप्त करते रहते हैं, उनसे जैन धर्म के उत्थान हेतु चर्चा भी करते हैं। उन्हें आचार्यश्री की निस्पृहता, सरलता व निराडम्बरता अधिक आकर्षित करती है अतः गुरुदेव के पास आकर अपनी विचारों की श्रृंखला प्रस्तुत करते है।

आइए आज उन्हीं क्रान्तिकारी विचारक डॉ चिरंजीलालजी बगड़ा के अनुभव एवं विचारों का लाभ लेते है। उन्होंने आचार्य श्री एवं अन्य वेबिनार में उपस्थित भक्तगणों के सामने जैन धर्म में आ रही विकृतियों से सम्बन्धित अपनी पीड़ा प्रस्तुत की है। अपने अनुभव के मोती सभी में बाँटे ।

आदरणीय चिरंजीलालजी ने कहा कि जैन दर्शन प्राणी मात्र में आत्मा का

दर्शन करता है। महावीर स्वामी के ''जीओ और जीने दो'' के संदेश को आत्मसात करता हुआ प्रत्येक प्राणी के प्रति समत्व भाव रखता है। अहिंसा परमो धर्मः जैन दर्शन का महान् सिद्धान्त है व सम्पूर्ण जैन धर्म की आधार शिला है। परन्तु बडे दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि अहिंसा मात्र सिद्धान्त बनकर रह गया है। सर्वत्र हिंसा का ही बोलबाला है। चाहे व्यापार भोजन या मानसिक चिन्तन का क्षेत्र हो। मैं जैन धर्म के महान सिद्धान्त एवं शाकाहार पर गहनता से सम्पूर्ण विश्व में अध्ययन करता हूँ। इसका सार यही निकलता है कि जैन दर्शन के आदर्शों को सभी उच्चश्रेणी से देखते है। आज विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं का यदि समाधान मिल सकता है तो वह मात्र जैन दर्शन के पास। जैन दर्शन के दो महान् सिद्धान्त अहिंसा व अनेकान्त से मिल सकता है। बडे ही कष्ट के साथ पटल परं वर्तमान में जैन दर्शन को जिस गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया जाना चाहिए वह नहीं हो रहा है। इसके अनेक कारण है। हम चाहे शाकाहार, पशुहत्या या नैतिकता की चर्चा करे। जिन आदर्शों और सिद्धान्तों को विश्व पटल पर प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी उसमें हम असफल हो रहे है।

इसका क्या कारण है? इसकी समीक्षा करने की आवश्यकता है। विश्व की दो बड़ी समस्या है 1. पर्यावरण असन्तुलन 2. ग्लोबल वार्मिंग। ग्लोबल वार्मिंग का मुख्य कारण पशु हत्या है। ग्लोबल वार्मिंग के अन्य कारण धूआँ, वायु प्रदुषण एवं वाहन आदि भी है लेकिन मुख्य कारण तो पशु हत्या ही है। ग्लोबल वार्मिंग के कारणों में 14% कारण तो पशु हत्या ही है। सबसे अधिक पर्यावरण असन्तुलन पशुवध से होता है। हम रासायनिक उद्योगों Chemical Industries के माध्यम से भी पर्यावरण को क्षति पहुंचा रहे हैं।

जैन दर्शन में ''परपस्परोग्रहों जीवानाम्'' का सिद्धान्त है जिसको अपनाना अति आवश्यक है क्योंकि इस सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दू अहिंसा है। उन्होंने ''दिशाबोध'' पत्रिका (जुलाई अंक) सामाजिक चेतना को लेकर पाँच बिन्दूओं पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया।

हम अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाने का दावा करते हैं। तो हमें उसे वास्तविक धरातल पर अपनाकर पर्यावरण सुरक्षा में सहयोग अपेक्षित है। प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जीव दया प्रेमी संगठन 'पेटा' जो भारत में वर्षों से काम कर रही है उस संस्था ने तीन मन्दिरों को पत्र लिखकर निवेदन किया कि आप हाथियों को अपने संरक्षण में रखकर पालन-पोषण कर रहे है वो हमारी संस्था को सौंप दीजिए ताकि उनका हम संरक्षण करके उन्हें स्वतन्त्र जीवन दे सके। पेटा संस्था इन जीवित हाथियों के बदले में यान्त्रिक हाथी देने को तैयार थी। जो जीवित हाथी की तरह ही आँख, कान और पुंछ हिला सकता है। शोभायात्रा निकालने में भी सहयोगी बन सकता है, जैन अहिंसा दर्शन प्रधान धर्म है। इस दृष्टि से समाज को इस संस्थाको सहयोग प्रदान नहीं करना चाहिए? महानुभावों! इस पर चिन्तन अवश्य करना चाहिए।

अहिंसा को मात्र शब्दों तक ही सीमित नहीं करना चाहिए। भारत सरकार जीवित पशुओं को निर्यात करती है जो पर्यावरण एवं धर्म दोनों के लिए हानिकारक है। कर्नाटक सरकार ने विद्यालयों में मांसाहार को बढ़ावा देते हुए विद्यालयों में मिडडे-मिल में अण्डा व केले का विकल्प रखा गया। छात्र यदि अण्डा खाना चाहे तो अण्डा दियाजाय और यदि शाकाहारी छात्र है तो केला दिया जाया। सरकार के इस प्रस्ताव का जैन समाज ने प्रबल विरोध किया।

उन्होंने कहा कि मैं लगभग 30 वर्षों से शाकाहार पर कार्य करता हूं। भारत के जिलेवार लगभग 725 जिलों की रिपोर्ट मेरे पास है। तेलांगना, केरल, कर्नाटक तमिलनाडू एवं पश्चिम बंगाल में 98.5% लोग मांसाहारी है। और आश्चर्य यह है कि 83% लोग हिन्दू है परन्तु अधिकांश मांसाहारी है। मात्र 1% लोग विरोध करते हैं जिनके विरोध पर बहुमत के अभाव में कौन ध्यान देगा? अहिंसक समाज के लिए चिंताजनक स्थिति है।

हम मात्र सरकार के सामने मांसाहार का विरोध करके अपने कर्तव्य की इतिश्री मानते है इसकी अपेक्षा यदि मांसाहारी लोगों को शाकाहार के लाभ बताकर उनका हृदय परिवर्तित किया जाय तो हमारे लिए सुविधापूर्ण होगा। मुझे यह कहते

हुए शर्मीन्दगी महसुस हो रही है लेकिन कटु सत्य है- सर्वे रिपोर्ट से ज्ञात हुआ कि 12% जैन भी मांसाहारी है। मात्र हम सरकार के सामने मांसाहार का विरोध करके हम अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहते है। लेकिन हम सबको चिन्तन करना चाहिए कि जैन दर्शन के महान् सिद्धान्त अहिंसा की धरातल पर कितना सार्थक कर पाते हैं। कही हमारी-कथनी और करनी में अंतर तो नहीं है? मात्र मंच पर बड़ी-बड़ी उद्घोषणाओं के लिए ही तो इस महान् सिद्धान्त का सहारा नहीं लेते? या वास्तव में बदलाव चाहते हैं? ये हमें तय करना होगा। मैं बंगाल का निवासी हूँ। बंगाल में 99% लोग मांसाहारी है। हमारा शाश्वत सिद्धक्षेत्र तीर्थराज सम्मेदशिखर जो झारखण्ड राज्य में स्थित है उस राज्य में 97.8% लोग मांसाहारी है।

अतः मैं जैन समाज से ये प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि हमने इन राज्यों और जिलों में स्थित मांसाहारी से शाकाहारी में परिवर्तित करने के लिए क्या प्रयास किया? हम उनका मानस परिवर्तन क्यों नहीं कर पाये? हम मात्र मंच पर बड़ी-बड़ी धर्म सिद्धान्तों की चर्चा कर मन्त्र मुग्ध हो रहे हैं। अतः हमें उपर्युक्त पहलुओं पर चिन्तन करना होगा। जैन धर्म आत्मधर्म है। अपने आत्मकल्याण हेतु प्रयास करना चाहिए लेकिन सामाजिक स्तर पर हित का चिन्तन करना होगा। हमें जाग्रत होना होगा। पिछले 100 वर्षों के इतिहास में जैन लोगों का राष्ट्र के लिए क्या योगदान रहा?

अभी वर्तमान में 1750 साधु अनेक स्थानों पर चातुमार्स रत है। उसमें जैन समाज समृद्धता का परिचय हेते हुए करोड़ों रुपये खर्च करने वाला है गर्व है कि जैन समाज समृद्ध है एवं साधु भक्त है लेकिन चिन्तन का विषय उपयोगिता कितनी है? समाज को इन पैसों का कितना लाभ मिल रहा है? चार महिने के बाद समीक्षा की जाये कि कितनी युवा पीढ़ी को संस्कारित कर पाये? यदि पूरे भारत में चार महीने के चातुर्मास का अध्ययन किया जाये तो 90% धर्मसभाओं में 50-60 वर्ष के ऊपर से प्रौढ भक्तों की संख्या ही दिखाई देगी। जबकि भारत सर्वाधिक युवाओं का देश है। युवा पीढ़ी को आकर्षित करना हो तो आचार्यश्री

कनकनन्दीजी धर्म को विज्ञान से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं ऐसी पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। आज का युवा प्रमाण चाहता है उसके प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमारे पास श्रुत का ज्ञान होना आवश्यक है। युवा पीढ़ी को स्वाध्याय की ओर मोड़ना आवश्यक है। दो माह पूर्व में एक सेमिनार में गया था जहाँ मुझे चिन्तन के लिए एक बिन्दू मिला। सन् 1870 से सन् 1970 सौ सालों मैं नैतिकता या मानव मूल्यों में जो परिवर्तन हुए उतने परिवर्तन मात्र तीस सालों में अर्थात् 1980 से 2010 में हो गये है। हम और आप कोई भी भविष्य को नहीं देख पा रहे है। लेकिन 20 वर्ष बाद की युवा पीढ़ी जिनके हाथों में भारत का भविष्य होगा वह हाईटेक सोसायटी व हाईटेक सेक्टर वाले होंगे। आज अधिकांश युवा पीढ़ी उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर पलायन कर रही है। यदि सम्पूर्ण युवा पीढ़ी दक्षिण में बेंगलोर, पूना एवं विदेशों में चला जायेगी और आज जो 50 वर्ष के प्रौढ़ है वे 20 वर्ष वाद 70-80 के हो जायेंगे जो रिटायर्ड नहीं होंगे बल्कि रि-टायर्ड हो जायेंगे। भविष्य उनका अंधकारमय हो जायेगा। क्योंकि एकल परिवार पद्धति के कारण पिता-पुत्र साथ नहीं है। हम भविष्य के लिए तीर्थ बनवाते जा रहे है, किसके लिए बनवाते जा रहे है? जब युवा पीढ़ी रहेगी ही नहीं तो ऑनलाइन शान्तिधारा के लिए बनवा रहे है? (आचार्यश्री की प्रियात्मक हँसी) इन मन्दिरों की सुरक्षा व रखरखाव के लिए कौन आयेगा? इन मन्दिरों की संस्कृति को कौन जीवित रखेगा?

समाज के दो पहिए है एक पहिया श्रमण वर्ग व दूसरा श्रावक वर्ग का। समाज रूपी गाड़ी तभी संतुलित रूप से गति कर पायेगी जब दोनों पहिए बराबर चलेंगे। आज वो संतुलन गड़बड़ा रहा है। आज श्रमण वर्ग अपने छोटे-छोटे भक्त समूह बना रहे है। पिच्छी कमण्डल धारी का भक्त मुनि भक्त है लेकिन एक विशेष मुनिराज का भक्त गुरु भक्त कहलाता है। अतः मुनि भक्त तो सिमित मात्रा में है लेकिन गुरु भक्त आपको बहुत मिल जायेंगे। जिससे समाज संतवाद, पंथवाद व मतवाद में विभक्त हो रहा है। जिससे समाज की

पीड़ादायी स्थिति हो रही है। मैने चिन्तन और अध्ययन करना प्रारम्भ किया कि 2035 में हमारे जैन धर्म की दशा और दिशा कैसी होगी? यदि हमें जैन धर्म बचाना है तो समझना होगा कि जैन धर्म, जैन दर्शन व जैन संस्कृति स्वतन्त्र धर्म है ये मानना होगा।

जैन संस्कृति को अनेक प्रकार से खतरा बढ़ रहा है। एक तरफ श्वेताम्बर व दिगम्बर की विरोधाभास स्थिति, दूसरा खतरा तेरापंथ व बीसपंथ के नाम पर हो रहा है और तीसरा खतरा संतों के अहम् के कारण बढ़ रहा है। और सबसे बड़ी समस्या यह है कि हमारी युवा पीढ़ी धर्म से विमुख हो रही हैं। सम्पूर्ण जैन धर्म का भविष्य और बागडोर जिनके कन्धों पर हैं उन्हें ही इस संस्कृति व दर्शन में रुचि नहीं तो जैन धर्म के भविष्य की क्या कल्पना करना?

मैं सन्तों के पास धर्मचर्चा भी करता हूँ! इन समस्याओं पर उनके साथ मिलकर चिन्तन भी करते हैं लेकिन धर्म प्रभावना के नाम पर विज्ञापन, जुलुस बड़े-बड़े आयोजन हो रहे है। गहराई से अवलोकन करे तो कर्म सिद्धान्त को जानने वाले और उसमें रुचि रखने वाले श्रावक नहीं के बराबर है। जैन धर्म को मन्दिर व भोजन तक सिमित कर दिया है जो हमारे लिए घातक है। हम संकीर्णता का परिचय दे रहे है जबकि जैन धर्म उदार व व्यापक है।

जनवरी 2024 में बगडाजी ने सामाजिक जीवन को तिरोहित करते हुए वैराग्य एवं आध्यात्मिकता की ओर कदम बढ़ाने का संकेत दिया जो बहुत ही प्रशंसनीय कदम है हम उनकी अनुमोदना करते हैं।

उन्होंने धर्म की संकीर्णता पर कटाक्ष करते हुए कहा कि एक समय भोजन करना या त्याग करना ही धर्म मान लिया है, त्याग एवं भोजन में रसों का त्याग भी आवश्यक है लेकिन अन्तरंग आसक्ति का त्याग करना उससे भी अधिक आवश्यक है। मात्र ऊपरी त्याग करना स्वयं को धोखा देना है। हम त्याग किसी एक रस का करते है लेकिन उसका दूसरा विकल्प ढूँढ लेते है जिसके कारण अंतरंग तृष्णा हमेशा जाग्रत रहती है।

उन्होंने कहा कि जो अधिक धार्मिक हैं एवं मन्दिर जाते हैं वे अधिक कषाय करते हैं। मन्दिर में हम निराकुल होने के लिए जाते है लेकिन वही अधिक आकुल-व्याकुल रहते है। मन्दिर में मन शान्त व अनाकुल रहना चाहिए तभी मन्दिर जाना सार्थक है। बगडाजी ने विदेशों में भ्रमण के समय के अनुभवों को साझा करते हुए कहा कि वे 1998 में अमेरिका गये थे। वहाँ वॉशिंगटन में Voice of Amerika ने एक इंटरव्यू लिया था। उसमें उनसे प्रश्न किया गया था कि भारत में अनेक धर्म व धर्म गुरु भी विराजमान है फिर भी भारत में हिंसा, झूठ, चोरी आदि बुराईयाँ क्यों? मैं उस समय निरुत्तर हो गया। मैंने कई धर्म गुरुओं से प्रश्न किया लेकिन किसी के भी पास संतोषप्रद उत्तर नहीं था।

उपरोक्त सभी विषयों पर चिन्तन के बाद मैंने यही सार निकाला कि ''जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन''। हमारा अनाज व सब्जियों में केमिकल्स का उपयोग होता है, जिससे हमारे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हम दुषित अन्न का उपयोग कर रहे है। हमारा भोजन सात्विक नहीं तो परिणामों व विचारों में विशुद्धता कैसे आयेगी? इसमें संत भी कुछ नहीं कर सकते क्योंकि संत भी हमारा दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं। अनाज ही नहीं बल्कि दुध व पानी की शुद्धता में भी प्रश्नचिह्न है। यूरोप दूध को मांसाहार मानता है मैं उसे मांसाहार नहीं मानता लेकिन जिस पद्धति से दूध प्राप्त होता है वो मांसाहार से कम नहीं है। गाय के बछडों को बुचड़ खाने भेज दिया जाता है ताकि गाय का दूध पूरा प्राप्त हो सके। इस प्रकार की हिंसक प्रवृत्ति से दूध प्राप्त करते है उसका निषेध करते हैं। इसके पीछे सम्पूर्ण Milk Industry का हाथ है। लेकिन परम्परा से तीर्थंकर से लेकर मुनिराज तक अहिंसक तरीके से एवं प्रासुक दूध को ग्रहण करते हैं उसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। वैज्ञानिक शोध से ज्ञात हो रहा है कि 80% बिमारियाँ मात्र प्रदुषित पानी से होती है।

अतः दूध, पानी, हवा के साथ आचरणों में परिवर्तन होना आवश्यक है। इनकी विशुद्धता के बिना धर्म नहीं। जीवन में आमूलचूल परिवर्तन का नाम ही धर्म है। यदि हमें बुनियादी बदलाव लाना है तो हमें संस्कृति की ओर लौटना होगा। उसकी जड़ तक जाना होगा तभी परिवर्तन संभव है। हमें पशुवध को रोककर शाकाहार को अपना कर अहिंसक होने का परिचय देना होगा। अन्त में उन्होंने कहा कि मैं आचार्यश्री कनकनन्दीजी का 35-37 वर्ष से भक्त-शिष्य हूँ। उनकी सब साधुओं में एकमेव निस्पृहता व निराड़म्बरता मुझे हमेशा आकर्षित करती है। वे ज्ञानी-विज्ञानी संत है धर्म की व्याख्या वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत करते है यह बहुत अधिक सराहनीय है। आज सम्पूर्ण विश्व में सत्य धर्म, जैन धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे है उनके प्रयासों का जितना गुणानुवाद करे उतना कम है।

मेरा सभी वरिष्ठ संतो से व्यक्तिगत परिचय है लेकिन हम युवा पीढ़ी को प्रायोगिक तरीके से धर्म की व्याख्या नहीं दे पा रहे है। हमने धर्म को पारम्परिक व रूढिगत रूप से ही प्रस्तुत किया है जो उनकी तार्किक बुद्धि से परे हैं।

अन्त में उन्होंने वेबिनार में उपस्थित सभी भक्तगणों व विद्यार्थियों से अनुरोध किया कि आप आचार्यश्री के शिष्य है वैज्ञानिक तरीके से चिन्तन करने वाले हैं अतः आप और मैं मिलकर उपर्युक्त सभी विषयों पर चिन्तन कर उनका व्यावहारिक प्रारूप सबके समाने प्रस्तुत करे क्योंकि सभी समस्याओं को अनुभव सभी करते है लेकिन बदलाव की दिशा में कोई प्रयास नहीं है, अतः आने वाले पीढ़ी का क्या होगा? आगे बदलाव कौन लायेगा? इस पर भी चिन्तन करना होगा।

इस प्रकार चिरंजीलालजी बगड़ा ने समाज व धर्म के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर हमारा ध्यान आकर्षित किया और हमारे मन मस्तिष्क को झकझोर दिया। अहिंसा के महान् सिद्धांत को जीवन्त कैसे रखा जाय उस पर चिन्तन व प्रयास करने के लिए हमें प्रेरित किया।

दिनांक-21/07/2023

सुलेख-ब्र. संध्यादीदी ग.पु.कॉलोनी सागवाड़ा

वैज्ञानिकों ने 46,000 साल से बर्फ में दबे जीवों को गहरी नींद से जगाया

मास्को। साइबेरिया की बर्फीली सतह के 40 मीटर नीचे 46 हजार साल से गहरी नींद में सो रहे जीवों (राउंडवॉर्म) को जगाने में वैज्ञानिकों ने कामयाबी हासिल कर ली है। ये जीव उस दौर के हैं, जब धरती पर ऊनी मैमथ, बड़े दांतों वाले बाघ और विशाल बारहसिंगा घूमा करते थे। ये जीव वास्तव में मरे नहीं थे, बल्कि साइबेरिया की बर्फ में सुसुप्तावस्था (क्रिप्टोबायोसिस) में चले गए थे। वैज्ञानिकों ने जब इन्हें पानी और भोजन उपलब्ध कराया तो ये जाग गए और इधर-उधर टहलने के साथ-साथ प्रजनन भी किया। इससे पहले वैज्ञानिकों को 48 हजार साल से ज्यादा पुराने जोंबिक वायरस को भी सुसुप्तावस्था से जगाने में सफलता मिली थी।

वैज्ञानिक पहले यही मानते थे कि राउंडवॉर्म इस अवस्था में 40 साल से कम समय तक ही जीवित रह सकते हैं। लेकिन जहां ये मिले वहां के पौधोंकी रेडियोकार्बन डेटिंग से पता चला कि ये जीव 45,839 से 47,769 साल पुराने हैं। यह अध्ययन पीएलओएस जेनेटिक्स जर्नल में प्रकाशित हुआ है। यह शोध जीवन और उत्पत्ति के संबंध में नई दिशा तय कर सकता है। हालांकि वैज्ञानिकों को यह डर भी सताने लगा किजलवायु परिवर्तन के साथ ग्लेशियर पिघलने पर उनमें दबे ऐसे हजारों खतरनाक रोगाणु भी फिर से हरकत में आ सकते हैं, जिनके प्रति इंसानों में इम्युनिटी कमजोर हो सकती है।

मृत्यु और जीवन के बीच-क्रिप्टोबायोटिक अवस्था में जीवों को पानी या ऑक्सीजन की जरूरत नहीं होती। वे उच्च तापमान, अत्यधिक ठंड या खराब परिस्थितियों का भी सामना कर लेते हैं। ऐसे में जीव 'मृत्यु व जीवन के बीच' की स्थिति में नींद में सो जाते हैं।

एक नई प्रजाति-पांच साल पहले वैज्ञानिकों ने दो तरह की सउंडवॉर्म प्रजातियां पाई। जर्मनी में विश्लेषण से पता चला कि ये कीड़े नई प्रजाति के थे,

जिन्हें पैनाग्रोलाईमस कोलिमेंसिस नाम दिया। ये घूम सकते थे व प्रजनन कर सकते थे।

सुरक्षा कवच...शोधकर्ताओं ने जीवों की कठोरता का परीक्षण किया तो कीड़ों ने ट्रेहलोज नामक शर्करा का निर्माण किया, जो शायद उन्हें शुष्कता व ठंड से बचाने में मदद कर रही थी।

शोध से दिखी संभावनाएं-यह खोज भविष्य में कोशिकाओं या ऊतकों को संग्रहित करने में मदद कर सकती है।

पता चलेगा कि कोई जीव कब तक जीवित रह सकता है और पुनर्जीवित हो सकता है। कैसे जीव जलवायु परिवर्तनों के प्रति अनुकूलित होकर जीवित रह सकता है। राउंडवॉर्म की हजारों प्रजातियां। 2018 में पाए गए थे बर्फ में जमे हुए ये राउंडवॉर्म।

मक्खी ने नर के बिना ही पैदा की संतान

लंदन। ब्रिटेन के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने एक खास तरह की मक्खी में सफल जेनेटिक इंजीनियरिंग करने का दावा किया है, जिसके बाद ये मादा मक्खियां बिना नर के संतान पैदा कर सकती हैं। इनकी पहचान फ्रूंज फ्लाइज (फल मक्खी) ड्रोसोफिला मेलानोगास्टर के तौर पर की गई है। लैंगिक संबंध बनाकर प्रजनन करने वाले किसी भी जीव में बिना नर के बच्चों को जन्म देने का पहला उदाहरण भी है। इस वैज्ञानिक प्रयोग को बहुत बड़ी सफलता बताया जा रहा है, जिसका इस्तेमाल भविष्य में इंसानों के ऊपर रिसर्च के लिए किया जा सकता है। ये प्रयोग सफल होता है तो बड़ी क्रांति साबित होगा। इस प्रक्रिया को 'वर्जिन बर्थ' का नाम दिया गया है। वर्जिन बर्थ को वैज्ञानिक भाषा में पार्थेनोजेनेसिस कहा जाता है। यह ऐसी घटना है जो शायद ही कभी होती है। कुछ अंडे देने वाले प्राणी जैसे मादा छिपकली और मादा पक्षी बिना संभोग के बच्चे को जन्म देने की क्षमता रखती हैं। वे अपने अंडे को बिना शुक्राणु के ही भ्रूण में बदल देती हैं।

तीन वर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय वेबिनार का सुफल

26 July को अंतरराष्ट्रीय वेबीनार प्रारंभ हुए पूरे 3 वर्ष हो गए हैं। वेबीनार का प्रारंभ पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष निर्मल कुमार जी सेठी की भावना के अनुसार ग्लोबल महासभा के अध्यक्ष जमनालाल हपावत, पारसमल जी लोहाडे, राष्ट्रीय उपाध्यक्ष डॉ राजमल जी कोठारी सब के अथक प्रयासों से यह वेबीनार प्रारंभ हुआ। आचार्यश्री के ज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु इस वेबीनार का प्रारंभ स्वेच्छा से महासभा के सभी सदस्यों ने किया है। हम उनके आभारी है तथा उनको धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। उनके इस महाअभियान से हम सभी लाभान्वित हो रहे हैं तथा धर्म का मर्म समझ रहे हैं। कोरोना की आपातकालीन स्थितिओं में भी इस वेबीनार के माध्यम से सबको मानसिक आध्यात्मिक संबल प्राप्त हुआ है। आत्म बल जागृत हुआ हैं। कोरोना में सभी मानसिक रूप से डिप्रेशन में आ गए थे तथा डर बैठ गया था कि हम भी कभी भी कोरोना के ग्रास बन सकते हैं अतः घर बैठे सभी ने आचार्य श्री की ज्ञान गंगा का लाभ लिया। अभी भी सभी इस कड़ी से जुड़े हुए हैं। साक्षात् समवशरण जैसा है यह वेबीनार। सब को एक दूसरे के प्रति वात्सल्य मैत्री भाव, अपनत्व लगता है। आचार्यश्री संघ से हम अनंत उपकृत हैं कि आचार्य श्री एक बार भोजन पानी लेते हुए भी गर्मी के दिनों में भी दो दो घंटे हमें ज्ञानार्जन कराते हैं। यह विश्व की अद्वितीय अलौकिक ज्ञानशाला है। जिसमें विश्व के अनेक देशों के विद्वान यूके के योगेंद्र भैया, यूएसए से राम गोपाल जी, जर्मनी से अजीत जी दिल्ली से प्रोफेसर टीकम चंद जी, कोलकाता से चिरंजीलाल जी बगड़ा, मुंबई से Dr Rita Jain, पंडित पंकज जी, कीर्ति, निर्मला जी, सुषमा जी नागपुर से अनुराग भैया, उदयपुर से प्रोफेसर श्यामलाल, डॉ नारायण लाल कछारा, कोटा से महावीर जी आदि के अनुभवों को हम प्राप्त कर रहे हैं। अनेक आचार्यों का जैसे आचार्य विद्यानंदीजी, आचार्यगुप्तिनंदी, आचार्य चंद्रगुप्त जी, मुनिश्री आज्ञा सागरजी, आस्थाश्री क्षमाश्री माताजी आदि के ज्ञान से भी हम लाभान्वित हो रहे हैं। इस वेबीनार के संचालन में सहयोगी चितरी से मधोकजी शाह, कोटा से महावीर

जी पुनर्वास कॉलोनी से कु.वर्ण, अभय, गर्व, मासूम, निधिप, खुशी आदि का सहयोग अविस्मरणीय है। जिनवाणी सेवा में ब्र. सोहन दादा का सहयोग प्रशंसनीय है। अभी वेबीनार के 3 वर्ष पूर्ण होने के बाद सभी श्रोताओं ने क्या खोया, क्या पाया तथा क्या पाना है इस हेतु भावाभिव्यक्ति रखी गई। इसमें मधोकजी, पंकज भैया महावीर दादा, D. Rita, विजयलक्ष्मी,दीपिका, नगीन जी, निर्मला, काजल, आनल आदि ने अपने अनुभव प्रस्तुत किए। यह कार्यक्रम 3 दिन तक चला। सभी प्रतिभागी ने अपना अपना अनुभव प्रस्तुत किया।

इस वेबीनार के माध्यम से हम सब ने विकथाओं का त्याग किया है। मिथ्यात्व का त्याग किया है। सम्यक्त्व को ग्रहण किया है, सुज्ञान प्राप्त किया है। समय का सदुपयोग किया है। अनावश्यक निंदा मोबाइल देखना आदि से बचे हैं। इससे मोक्ष मार्ग प्रशस्त हुआ है। आत्मा को परमात्मा बनाने का ज्ञान प्राप्त हुआ है। वेबीनार के कारण अनंत कर्मों की निर्जरा संवर हो रहा है, आस्रव कम हो रहा है। अनेक विषयों का ज्ञान हो रहा है। इसके माध्यम से हम सभी धर्म के मर्म को समझ रहे हैं। धर्म की गहनता, सूक्ष्मता व्यापकता अनेकांतवाद आदि को समझ रहे हैं हमारे तीर्थंकर किस प्रकार दूर दृष्टि रखते थे, वैज्ञानिकों के महा वैज्ञानिक हमारे तीर्थंकर थे, जिन्होंने वैज्ञानिकों के सिद्धांत को हजारों वर्ष पहले लिपिबध्द कर लिया है। उसको समझना सरल नहीं है परंतु हमारे वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी गुरुदेव हमें सरलीकरण करके उदाहरण के माध्यम से Big Bang Theory, Kriya pratikriya Siddhant बटरफ्लाई थ्योरी आदि अनेक सिद्धांत जो जैन धर्म में निहित है उनका उद्घाटन आचार्य श्री के माध्यम से हो रहा है। पूरे विश्व को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो रहा है। अनेक वैज्ञानिक, प्रोफेसर, इंजीनियर कुलपति आचार्यश्री से पढ़ करके समझ कर के विदेशों में उनके ज्ञान का प्रचार प्रसार निस्वार्थ भाव से कर रहे हैं। मुनि श्रीसुविज्ञसागरजी आचार्यश्री द्वारा रचित सटीक गुढ, गहन, आध्यात्मिक कविताओं का पाठ अपने सुमधुर कँठ से अनेक रागों में प्रस्तुत करते हैं, जिससे कविताएं समझने में आसानी रहती है। बीच-बीच में कविताओं के रहस्य को, भावार्थ को भी हम अबोध प्राणियों को समझाते हैं।

अध्यात्म नंदी गुरुदेव, आ. सुवत्सलमति, क्षु भक्ति श्री, ब्र. सोहनदादा, ब्रह्मचारिणी वीणा दीदी, Manju didi आदि पुरा संघ आचार्यश्री के साहित्य के लेखन पठन प्रचार प्रसार वेबिनार संचालन, आदि में सहयोगी है। जिससे आचार्यश्री को आत्म ध्यान में अधिक समय मिल पाता हैं।

हम सबको आचार्यश्री के ज्ञान के माध्यम से भावो को शुद्ध करके कर्मों की निर्जरा करके अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना है।

आचार्यश्री के गुण समता, विश्वमैत्री, क्षमा, सहिष्णुता, वात्सल्य प्रेम, करुणा, सोहार्द्र हम सबको प्राप्त हो ऐसी भावना करते हैं। **-प्रस्तुतकर्ता विजयलक्ष्मी**

योगेंद्रगिरी पर विराजमान सिद्धांत चक्रवर्ती जिनवाणी नंदन धर्माचार्य कनकनंदी गुरुदेव ने बताया कि जिसका कुछ भी नहीं वह अकिचन्य है। जिनके विभाव राग द्वेष मत्सर कुछ भी नहीं तथा जो अनंतज्ञान अनंत दर्शन अनंत वीर्य अनंत सुख से परिपूर्ण है वह अकिंचन्य है। बंधन से रहित पर से रहित स्वयं में पूर्ण सिद्ध भगवान् आकिंचन्य है। ओम् पंच परमेष्ठी का प्रतीक है। ब्रह्म का अर्थ विस्तार से होता है। भगवान् का मोक्ष कल्याण होने पर समवशरण भी नहीं रहता, दिव्य ध्वनि भी नहीं, शरीर भी नष्ट हो जाता है, पाप के साथ पुण्य भी नष्ट हो जाता है, तब आत्मा की अनंत शक्ति की अभिव्यक्ति होती हैं उसे आकिंचन्य कहते हैं। इन्फिनेट प्योर सोल अकिंचन्य है। समस्त संकल्प विकल्प राग द्वेष से परे निरंजन बनना ही अकिचन्य है। विश्व के महान् पुण्य शाली महानायक विश्व के अधिपति सौभाग्यशाली साधु होते हैं। स्वयं में शांति अन्य से परे अन्य से रिक्त साधु होते हैं, जो लौकिक जन से परे होते हैं। समता शांति शुचिता से आत्म विकास करने वाले साधु होते हैं। जिससे आत्मा की उन्नति होती हैं। साधु का अवदान अमूल्य है। साधु का योगदान आत्मिक शाश्वतिक होता है। साधु का अवदान महान् है। जो स्व पर विश्व हितकारी है।

परिग्रह धर्म से अनंत विपरीत है यहां के सब लोग धन रूप पाप से लिप्त थे परिग्रह के लिए प्राणी वध करते हैं पाञ्च इंद्रिय जीवो का घात करते हैं असत्य भाषण करते हैं। असत्य भाषण परिग्रह के लिए अनिवार्य हो जाता है। त्याग से

आकिंचन्य बन सकते हैं दान से नहीं। पारिग्रह से काम वेदना, क्रोध उत्पन्न होता है, हिंसा उससे अनेक पाप है जिससे नरक निगोद में जाना पड़ता है, जिसके दुखों का हम कथन नहीं कर सकते। इस वेबीनार का मंगलाचरण आचार्यश्री रचित कविता ''संत का वैश्विक अवदान (योगदान)'' सुविज्ञसागरजी के मधुर कण्ठ से हुआ।

-संकलनकर्ता विजयलक्ष्मी गोदावत

क्यों बढ़ रही अमीरी-गरीबी की खाई?

नई दिल्ली। विश्व की लगभग आधी संपत्ति केवल 1.2 फीसदी आबादी के हाथों में है। आर्थिक असमानता का यह अंतर रूस, ब्राजील और भारत में कहीं ज्यादा है। रूस की लगभग 59 फीसदी संपत्ति पर शीर्ष एक फीसदी अमीरों का नियंत्रण है। वहीं, ब्राजील में यह हिस्सेदारी 50 प्रतिशत के करीब है। जबकि 40 प्रतिशत से भारत में यह आंकड़ा थोड़ा अधिक है। क्यों गहरा रही असमानता की खाई, एक नजर.....

क्या है आर्थिक असमानता?

आय और संपत्ति का व्यक्तियों के बीच असमान वितरण। ज्यादातर देशों में देश की कुल संपत्ति के बड़े हिस्से पर चुनिंदा अमीरों का कब्जा है। दुनियाभर में 2,640 अरबपति हैं। यह संख्या 1987 की तुलना में 19 गुना है। भारत अरबपतियों की संख्या के मामले में विश्व में तीसरे, रूस पांचवे और ब्राजील 11 वें स्थान पर है।

किन कारणों से बढ़ी वैश्विक विषमता?

डिजिटलीकरण जैसी तकनीकी प्रगति से मार्केट और बिजनेस मॉडल बदले हैं, काम के स्वरूप में बदलाव ने आय असमानता बढ़ाई है। वैश्वीकरण से कमकुशल श्रमिकों की मजदूरी और नौकरियों पर बुरा प्रभाव पड़ा है। संवेदनशील नीतियों का अभाव समस्या को गहरा कर रहा है।

रूस व ब्राजील में क्यों यह स्थिति?

रूस में भ्रष्टाचार व अमीरों के लिए कम कर जैसे कारकों ने अमीरी-गरीबी की खाई को बढ़ाया है। वहीं, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में भिन्नता, करों की अनुचित व्यवस्था और शिक्षा के स्तर में कमी ने ब्राजील को प्रभावित किया है।

भारत में कैसे बढ़ रहे अमीर?

दो दशक पहले देश की 33% संपत्ति पर 1% पूंजीपतियों का नियंत्रण था। 2005 में चुनिंदा अमीरों का 42% संपत्ति पर मालिकाना हक हो गया। 2020 में 40.5% और 2021 में 40.6% संपत्ति भारत के सबसे अमीर एक फीसदी लोगों के पास थी। वैश्विक वित्तीय संकट, कोरोना महामारी के प्रभावों का भी असर पड़ रहा है जबकि बड़े-बड़े निवेशों से अमीरों की संपत्ति में और वृद्धि हो रही है।

यह स्थिति क्यों खतरनाक?

अपराधों में वृद्धि की आशंका गरीबी से बढ़ता सामाजिक असंतोष
सार्वजनिक स्वास्थ्य में गिरावट शिक्षा के स्तर में कमी।

इंसानी प्रयोगों से खतरनाक स्तर पर जा पहुंचा अंतरिक्ष का कचरा

नई दिल्ली। अंतरिक्ष तकनीकों ने दूरदराज के इलाकों में बैठे लोगों की इंटरनेट तक पहुंच बनाकर इनोवेशन को बढ़ाया है। लेकिन, सैटेलाइट की बढ़ती संख्या स्पेस जंक और इनके टकराव के खतरे को बढ़ा रही है। एजेंसी स्पेस डेबरीज कॉर्डिनेशन कमेटी के मुताबिक पृथ्वी की कक्षा में 10 सेमी से बड़े 34,000 व एक सेमी से अधिक के करीब नौ लाख अंतरिक्ष के मलबे वाले टुकड़े मौजूद हैं।

एंटी-सैटेलाइट परीक्षणों से भी बढ़ रहा मलबा: वर्तमान

में 8767 सक्रिय सैटेलाइट पृथ्वी के चक्कर लगा रहे हैं लेकिन 2030 तक यह संख्या 60,000 होने की संभावना है। विस्फोट से निकले मलबे की मात्रा सबसे ज्यादा है। 1961 के बाद से ही यह बढ़ रहा है। इसके बाद स्पेसक्रॉफ्ट और रॉकेट का मलबा जोखिम बढ़ा रहे हैं। एंटी-सैटेलाइट परीक्षणों ने भी अंतरिक्ष के कचरे में वद्धि की है। सैटेलाइट को मार गिराने की अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते हुए कई देश ऐसे परीक्षण करते आए हैं, जिनमें अमरीका, रूस, चीन और भारत शामिल हैं।

इसरो लगातार उठा रहा सक्रिय कदम-पिछले साल अमरीका ने लो अर्थ ऑर्बिट में सैटेलाइट की सुरक्षा के लिए एंटी-सैटेलाइट परीक्षणों पर रोक लगा दी थी। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) बाहरी अंतरिक्ष में सैटेलाइट को टकराव से बचाने सक्रिय कदम उठा रहा है। 2022 में इसरो ने ऐसे 22 अभ्यास किए थे। हाल में 7 सैटेलाइट ले जाने वाला पीएसएलवी-सी56 रॉकेट लॉन्च किया। उद्देश्यों में कचरे की समस्या को कम करना शामिल है।

कचरे का धरती पर गिरने का खतरा-अंतरिक्ष में मलबा अनिश्चित काल तक पृथ्वी का चक्कर लगा सकता है। पृथ्वी के घने वायुमंडल में दोबारा प्रवेश करने के दौरान होने वाली भीषण गर्मी से मलबे की बड़ी मात्रा जल जाती है, लेकिन जो अवशेष रह जाते हैं, वे महासागरों और दुनिया के कम आबादी वाले क्षेत्रों में गिरते हैं। पिछले 50 साल में औसतन रोजाना मलबे का एक टुकड़ा धरती पर गिरा है। सिर्फ 2022 में ही गिरने वाले मलबे के टुकड़ों की संख्या लगभग 1,600 थी।

आत्मविशुद्धि ही परम धर्म-कर्म-उपलब्धि

(चालः 1. देहाची तिजोरी... 2. भातुकली... 3. इक परदेशी...)

भाव विशुद्धि ही परम धर्म, परम पुरुषार्थ, परम उपलब्धि।
इससे ही करते जीव आत्म विकास से आत्मा की उपलब्धि।। (1)

इस हेतु चाहिये आत्म विश्वास ज्ञान चारित्रकी साधना।
जिससे नशे राग-द्वेष मोह-काम क्रोध मद ईर्ष्या घृणा तृष्णा।। (2)

परनिन्दा अपमान वैर-विरोध, पंच पाप, सप्त व्यसन त्याग।
अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, मिलावट, शोषण, आतंकवाद।। (3)

इसके साथ ही त्याग होता, ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्ध वर्चस्व।
संकल्प, विकल्प, संक्लेश, द्वन्द्व, इह परलोक भोगाकांक्षा निदान।। (4)

इस हेतु ही समस्त धर्म, कर्म, व्रत उपवास से ले तप, त्याग।
ध्यान-अध्ययन, मौन संयम, पूजा पाठ, प्रभावना तीर्थयात्रा, दान।। (5)

ये सभी विधान है भाव शुद्धि हेतु, जिससे संवर-निर्जरा मोक्ष।
किन्तु भाव शुद्धि के बिना सभी व्यर्थ है यथा आत्मा बिना देह।। (6)

सर्वज्ञ कथित आगम में वर्णित, भाव विशुद्धि बिना करोड़ों भव के तप।
सभी होते हैं व्यर्थ किन्तु भाव विशुद्धि से अन्तर्मुहूर्त में होता मोक्ष।। (7)

भाव विशुद्धि बिना निगोदिया महान् पापी द्रव्य पंचपाप सप्त व्यसन बिन।
तंदुलाकार तंदुलमत्स्य जाता सप्तम नरक, जीवों को खाये बिन महामत्स्य सम।।(8)

द्वीपायन-भव्यसेन मुनि न मोक्षगामी, भाव विशुद्धि बिन बने निम्नगामी।
भाव शुद्धि से अञ्जन चोर बने निरंजन, अशुद्ध भाव से बन्ध शुद्ध से निर्वाण।। (9)

भाव शुद्धि से ही चिन्ता-तनाव, डिप्रेशन, अशान्ति होते दूर।
जिससे तन-मन-आत्मा स्वस्थ्य सबल होते जिससे होते पुरुषार्थ।। (10)

इह परलोक सुख-सम्वृद्धि हेतु भाव विशुद्धि ही परम उपाय।
इसके बिना शिक्षा, कानून, राजनीति, विज्ञान, धर्मादि न है श्रेय।। (11)

भाव विशुद्धि बिना शिक्षादि से समता-शांति-मैत्री उन्नति न संभव।
इस हेतु विश्व इतिहास साक्षी है व वर्तमान काल में प्रत्यक्ष प्रमाण।। (12)

राजा, महाराजा चक्रवर्ती तक से जो कार्य न हो पाता भाव विशुद्धि बिना।
वे सभी कार्य होते भाव विशुद्धि से, तीर्थंकरों से सत्तादि बिना।। (13)

अतएव भाव विशुद्ध करणीय इह परलोक सुख से ले मोक्ष सुख हेतु।
आगम अनुभव विश्व साहित्य से 'कनक' काव्य लिखा सर्वोदय हेतु।। (14)

योगीन्द्र गिरि-दि. 2-8-2023 रात्रि 9:06 व 12:45

संदर्भ-

यः कर्म हुतवान् दीप्ते, ब्रह्माग्नौ ध्यानध्याय्यया।
स निश्चितेन यागेन, नियागप्रतिपत्तिमान्।। (1) (ज्ञानसार)

जिसने प्रदीप्त ब्रह्म रूप अग्नि में ध्यान रूप वेद के मंत्र द्वारा कर्मों का होम किया हैं उस मुनि ने निश्चित ही भाव यज्ञ द्वारा नियाग को प्राप्त किया है।

Liberation

The sage who has offered karmas as oblution purifying them with meditation as the mantra from Vedas to the burning pyre in the form of Brahma has certainly earned liberation through the spiritual yajna.

पापध्वंसिनि निष्कामे, ज्ञानयज्ञे रतो भव।
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं, भूतिकामनयाविलैः।। (2)

पाप का नाश करने वाला और कामना रहित ऐसे ज्ञान यज्ञ में तूं आसक्त बन। सुख की इच्छा द्वारा मलिन बने पाप सहित कर्म यज्ञों का क्या काम है?

Indulge in the yajna of knowledge that is devoid of desires and destroys sins. Of what use are the mundane or ritual yajnas that are tarnished with desire for pleasure and are full of sins ?

वेदोक्तत्वान्मनःशुद्ध्या, कर्मयज्ञोऽपि योगिनः।
ब्रह्मयज्ञ इतीच्छन्तः, श्येनयागं त्यजन्तिं किम्?।। (3)

वेदोक्त होने से मन की शुद्धि द्वारा किया गया कर्म-यज्ञ भी ज्ञान योगी के लिये ब्रह्म यज्ञ समान है, ऐसा मानने वाले श्येन यज्ञ का फिर क्यों त्याग करते हैं।

There are those who propagate that, for a spiritual practitioner even the ritual-yajna as per the Vedas done with pure heart is like the ultimate yajna (Brahma yajna). Why, then, they abandon the sacrificial yajnas.

ब्रह्मयज्ञः परं कर्म, गृहस्थस्याधिकारिणः।

पूजादि वीतरागस्य, ज्ञानमेव तु योगिनः।। (4)

अधिकारी गृहस्थ को मात्र वीतराग की पूजा आदि क्रिया ब्रह्म यज्ञ है और योगी के लिये तो ज्ञान ही ब्रह्मयज्ञ है।

For the worthy house-holder the worship of the Vitaraga and other related activities are like ultimate yajna. For a Yogi the true knowledge is the ultimate yajna.

भिन्नोद्देशेन विहितं, कर्म कर्मक्षयाक्षमम्।

क्लृप्तभिन्नाधिकारं च, पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम्।। (5)

भिन्न यज्ञ से किया गया अनुष्ठान कर्म क्षय करने में असमर्थ होता है। जैसे भिन्न अधिकार की कल्पना वाला पुत्र प्राप्ति के लिये किया जाने वाला यज्ञ।

Performance of the yajna ritual for some specific purpose does not help wiping of Karmas. As it can not be expected of the son-giving yajna to yield any thing other than a son.

ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्म-यज्ञान्तर्भावसाधनम्।

ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्तं, स्वकृतत्वस्मये हुते।। (6)

ब्रह्म यज्ञ में अन्तर भाव का साधन ब्रह्म को अर्पण करना भी ब्रह्म रूप अग्नि में कर्म का और स्व कर्तृत्व के अहंकार का हवन करने पर ही युक्त होता है-

The ultimate (Brahma) yajna, where all feelings and thoughts are amalgamated in the Brahma (the creator), can be performed only if all the Karmas and the ego of being the "doer" are vanquished in the ultimate fire.

बह्मण्यर्पितसर्वस्वो, ब्रह्मदृग् ब्रह्मसाधनः।

ब्रह्मणां जुह्वदब्रह्म, ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान्।। (7)

जिसने बह्म में सर्वस्व अर्पण किया है, ब्रह्म में ही जिसकी दृष्टि ब्रह्म रूप ज्ञान ही जिसका साधन है और बह्म के द्वारा बह्म में जो अब्रह्म का हवन करता है, जो बह्म गुप्ति वाला है।

He who has submitted all to the Brahma, who sees only the Brahma, whose only goal as Brahma, who in pure burns everything other than the ultimate fire through this submission is the true detacched ascetic.

ब्रह्माध्ययन निष्ठावान् परब्रह्मसमाहितः।

ब्राह्मणो लिप्यते नाद्यैर्नियागप्रतिपत्तिमान्।। (8)

ब्रह्म अध्ययन में जो निष्ठावान् है, पर ब्रह्म में समाहित है और नियाग को जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसा ब्राह्मण (निर्गन्थ) कभी पाप से लिप्त नहीं होता।

Further, he who is true to the study of Brahma, who has amalgamated the self with the Brahma and attained liberation, such an ascetic (Brahman) is never consumed by sin.

भावपूजा

दयाम्भसा कृतस्नानः, सन्तोषंशुभवस्त्रभृत्।

विवेकतिलकभाजी, भावनापावनाशयः।। (1)

दया रूपी पानी से जिसने स्नान किया है, संतोष रूप उज्ज्वल वस्त्र धारण किये हैं, विवेक रूप तिलक से शोभायमान है, शुभ भावनाओं से पवित्र आशय वाला है।

Spiritual Worship

Taking a bath with the water of compassion, wearing the clean white dress of contentment, painting the Tilak (a spot of

paint on the forehead) of rational judgement on the forehead, and with a purpose purified by auspicious intent worship your own purified self.

भाक्त श्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरजद्रवैः।

नवब्रह्मङ्गतो देवं, शुद्धमात्मानमर्चये।। (2)

भक्ति और श्रद्धा रूप केसर मिश्रित चंदन के द्वारा शुद्ध आत्म देव की नव प्रकार के ब्रह्मचर्य रूप नव अंगों की तूं पूजा कर।

Worship the pure soul by putting spots of the auspicious mixture of sandal wood of devotion and saffron of faith on the nine parts of the conceptual body of the pure soul that is Brahma,

क्षमापुष्पस्त्रजं धर्मयुग्मक्षौमद्वयं तथा।

ध्यानाभरणसारं चं, तदङ्गे विनिवेशय।। (3)

उस शुद्ध आत्म देव को क्षमा रूप फूल की माला अर्पण कर, निश्चय और व्यवहार धर्म रूप दो वस्त्र तथा ध्यान रूप श्रेष्ठ अलंकार अर्पण कर।

To that pure soul offer the garland of the flowers of benevolence, two aparrels of ultimate and mundane viewpoints, and the best ornament of meditation.

मदस्थानभिदात्यागैलिखाग्रे चाष्टमङ्गलम्।

ज्ञानाग्नौ शुभसङ्कल्पकाकतुण्डंच धूपय।। (4)

उस परमात्मा के सामने आठ मद स्थानों के त्याग रूप अष्ट मंगल का आलेखन कर और ज्ञान रूप अग्नि में शुभ संकल्प रूप कृष्णागरु का धूप कर।

Draw before the conceptual form of pure soul the eight auspicious things in the form of abandonment of eight types of egos. Offer the insence by burning the fragrant powder of good resolution in the fire of knowledge.

प्राग्धर्मलवणोत्तारं, धर्मसन्यासवह्नियना।

कुर्वन् पूरय सामर्थ्य राजन्नीराजनाविधिम्।। (5)

धर्म संन्यास रूप अग्नि के द्वारा पूर्व का क्षायोपशमिक धर्म रूप लून उतारता हुआ सामर्थ्य योग रूप देदीप्यमान आरती की विधि पूर्ण कर।

Perform the brilliant Arati-ritual in the form of proficiency in Yoga by curing it with the fumes of the state of disciplining and destroying the past karmas, emanating out of the fire of asceticism.

स्फुरन् मङ्गलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः।

योगनृत्यपरस्तौर्यत्रिकसंयमवान्भव।। (6)

अनुभव रूप स्फुरायमान् मंगल दीप की शुद्ध आत्म देव के समक्ष स्थापना कर। संयम योग रूप नाट्य पूजा में तत्पर बना हुआ तूं गीत नृत्य और वांजिंत्र इन तीनों के समूह के जैसा संयम वाला बन।

Install the burning auspicious lamp of e&perience before the pure soul. Then prepare yourself for the Natya - Puja (ritiual worship by music and dance) by disciplining yourself like the synchronized song, dance and orchestra (choreography).

उल्लसन्मनसः सत्यघण्टां वादयतस्तव।

भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः।। (7)

उल्लसित मन से सत्य रूप घष्टा वादन करता हुआ और भाव पूजा में लीन बना हुआ तेरा मोक्ष तेरी हथेली में ही है।

Sounding the gong of truth with the blissful attitude, loose your identity in the spiritual worship and the liberation will come within your reach.

द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनाम्।

भावपूजा तु साधूनामभेदोपासनात्मिका।। (8)

गृहस्थों को भेद पूर्वक उपासना रूप द्रव्य पूजा योग्य है और अभेद उपासना रूप भाव पूजा तो साधुओं को ही योग्य है।

There are two types of worship. One is the physical, done

through material things with seperate identities suitable for the house-holders and the other the spiritual, done through thought and feelings with fusion of identities, suitable for the asceties.

ध्यान आत्म ध्यान से दुःखों से मुक्ति

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम्।

मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते।। (1)

ध्याता ध्येय और ध्यान इन तीनों की एकरूपता को जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसे एकाग्रचित्त मुनि को कोई दुःख नहीं होता।

Meditation

That absolutely poised ascetic who accomplishes the fusion of subject, object and process in meditation, becomes free of all sorrows.

ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः।

ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता।। (2)

ध्यान करने वाला अन्तरात्मा है ध्येय परमात्मा को कहा गया है और ध्यान एकाग्रता की बुद्धि है। इन तीनों की एकता को समापत्ति कहा जाता है।

The subject or the individual who meditates is the soul. The object of meditation is the super or pure soul. Concentration of thoughts is meditation or the process. Coming together of these three is called Samapatti or fusion.

मणाविव प्रतिच्छाया, समापत्तिः परात्मनः।

क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले।। (3)

जिस प्रकार मणि में अन्य वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार क्षीण वृत्ति वाले शुद्ध-निर्मल अन्तरात्मा में ध्यान द्वारा परमात्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, इसी को समापत्ति कहते हैं।

As in a clear rock-crystal bead is seen a reflection of other things, in a pure soul with vanishing desires is seen the reflection of the super-soul. This is termed. as Samapatti or fusion.

आपत्तिश्च ततः पुण्यतीर्थकृत्कर्मबन्धतः।

तद्भावाभिमुखत्वेन, सम्पत्तिश्च क्रमाद् भवेत्।। (4)

उस समापत्ति से पुण्य प्रकृति रूप तीर्थंकर नाम कर्म के बंध स्वरूप फल की प्राप्ति होती है और तीर्थंकर नाम कर्म की अभिमुक्ता से क्रमशः आत्मिक संपत्ति रूप फल होता है।

This fusion gives rise to virtuous transformations that result in acquisition of Tirthankar-nam-karma (the karma that causes birth as a Tirthankar). This culminates in the unparalelled bliss of ultimate transformation into the pure and liberated state.

इत्थं ध्यानफलाद्युक्तं, विंशतिस्थानकाद्यपि।

कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवेत्।। (5)

इस प्रकार के ध्यान फल से ही बीसस्थानक आदि तप भी योग्य है कष्ट मात्र रूप तप तो इस संसार में अभव्यों को भी दुर्लभ नहीं हैं।

The penances like Vishasthanak are also beneficial like the results of such meditation. And there are other simple penances which are not impossible to do even for the unworthy.

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः।

सुखासनस्थस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः।। (6)

जो जितेन्द्रिय हैं, धैर्यशाली है, प्रशान्त है, जिसकी आत्मा स्थिर है, सुखासन पर स्थित है, जिसने नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि को स्थापन किया है, जो योग सहित है।

One who has absolute control over the senses, who is composed and serene, whose soul is unwavering, sitting in a convenient posture who has focused his gaze on the tip of his nose, and who is meditating.

रुद्धबाह्यमनोवृत्तेर्धारणाधारया रयात्।

प्रसन्नस्याऽप्रमत्तस्य चिदानन्दसुधालिहः।। (7)

ध्येय में मन की स्थिरता रूप धारण की सतत धारा के वेग से जिसने बाह्य इन्द्रियों का अनुसरण करने वाली मन की वृत्ति को रोका है, जो प्रसन्न मन वाला है, प्रमाद रहित है, ज्ञाननन्द रूप अमृत का आस्वादन करने वाला है।

With the force of a continuous flow of serenity emerging out of the deep concentration on the goal, he has disciplined the attitudes that are stirred by senses. Who has joyous mind, who is free of illusions and enjoys the nectar of bliss of knowledge

साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः।

ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि।। (8)

अपनी अन्तर आत्मा में ही विपक्ष रहित अपने साम्राज्य का विस्तार करता हुआ ऐसे ध्यानवंत साधकों की देवलोक और मनुष्य लोक में भी वास्तव में कोई उपमा नहीं है।

He who expands his inner empire where exists no adversary. There exists no metaphor on earth or in heaven for such a meditating sage.

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः कर्मणां तापनात्तपः।

तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम्।। (1)

कर्मों को तापने वाला होने से तप यह ज्ञान ही है ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।(तप के दो भेदों में से) अन्तरंग तप ही इष्ट है, बाह्य तप तो उसका सहायक अर्थात् उसकी वृद्धि करने वाला है।

Penance

As it burns Karmas, Tap (penance) is nothing but knowledge, so say the sages. Out of the two types the desired one is the inner penance. The outer one is only of supportive nature.

परमसमाध्यधिकार

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण।

जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।। (122) नियमसार

जो वचनोच्चारण की क्रिया को छोड़कर वीतराग भाव से आत्माका ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है।

संयमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।। (123)

जो संयम, नियम और तपसे तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है।

समता के बिना सब व्यर्थ है-

किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदा रहियस्स समणस्स।। (124)

समताभाव से रहित साधुका वनवास, कायक्लेश, नाना प्रकार का उपवास तथा अध्ययन और मौन आदि धारण करना क्या करता है? कुछ नहीं।

स्थायी सामायिक व्रत किसके होता है?

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे।। (125)

जो समस्त सावद्य-पापसहित कार्यों से विरत है, तीन गुप्तियों को धारण करनेवाला है तथा जिसने इंद्रियों को निरुद्ध कर लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासनमें कहा गया है।

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (126)

जो स्थावर अथवा त्रस सब जीवों में समभाववाला है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (127)

जिसका आत्मा संयम, नियम तथा तप में सन्निहित रहता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेदि दु।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (128)

राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं करते हैं उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जो दु अट्ट च रुद्दं च, झाणं वच्चेदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (129)

जो निरंतर आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वच्चेदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (130)

जो निरंतर पुण्य और पापरूप भाव को छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जो दु हस्सं रई सोगं, अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (131)

जो दुगंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (132)

जो निरंतर हास्य, रति, शोक और अरति का परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जो निरंतर जुगुप्सा, भय और सब प्रकार के वेदों को छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

जो दु धम्मं च सुक्कं, झाणं झाएदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (133)

जो निरंतर धर्म्य और शुक्ल ध्यान का ध्यान करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

परमभक्त्यधिकार

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।

तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।। (134)

जो श्रावक अथवा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करता है उसे निवृत्ति भक्ति-मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है।

मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि।

जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं।। (135)

मोक्ष को प्राप्त करनेवाले पुरुषों के गुणभेद को जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है उसे भी निवृत्ति भक्ति-मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसा व्यवहारनय से कहा गया है।

मोक्खपहे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।

तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं णियप्पाणं।। (136)

मोक्षमार्ग में अपने आपको स्थापित कर जो निवृत्ति भक्ति-मुक्ति की आराधना करता है उससे जीव असहाय-स्वापेक्ष गुणों से युक्त निज आत्मा को प्राप्त करता है।

रायादीपरिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।

सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य कह हवे जोगो।। (137)

जो साधु अपने आत्मा को रागादिक के परित्याग में लगाता है वह योगभक्ति से युक्त है, अन्य जो साधु के योग कैसे हो सकता है?

सव्वविअप्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।

सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो।। (138)

जो साधु अपने आत्मा को समस्त विकल्पों के अभावों में लगाता है वह योग भक्ति से युक्त है, अन्य साधु के योग किस प्रकार हो सकता है?

विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।

जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावे सो हवे जोगो।। (139)

जो विपरीत अभिप्राय को छोड़कर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्वों में अपने आपको लगाता है उसका निजभाव ही योग है।

उसहादिजिणवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्तिं।। (140)

ऋषभादि जिनेंद्र इस प्रकार योग की उत्तम भक्ति कर निर्वाण के सुख को प्राप्त हुए हैं इसलिए तू भी योगि की उत्तम भक्ति को धारण कर।

निश्चयपरमावश्यकाधिकार

आवश्यक शब्द की निरुक्ति

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो।। (141)

जो अन्य के वश में नहीं होता उसके कार्य को आवश्य (आवश्यक) कहते हैं। कर्मों का नाश करनेवाला योग है वही निवृति-निर्वाणका मार्ग है ऐसा कहा गया है।

आवश्यक युक्ति का निरुक्तार्थ

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य, णिरवयवो होदि णिज्जेत्ति।। (142)

जो अन्यके वश नहीं है वह अवश है और अवश का जो कर्म है वह आवश्यक (आवश्य) है ऐसा जानना चाहिए। युक्ति इसका अर्थ उपाय है। आवश्यक की जो युक्ति है वह आवश्यक युक्ति है। इस तरह आवश्यक युक्ति शब्दका संपूर्ण निरुक्ति अर्थ है।

भावार्थ–शब्द से निकलनेवाले अर्थको निरुक्ति कहते हैं। यहाँ आवश्यक युक्ति शब्द का ऐसा ही अर्थ बतलाया गया है।

वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे।। (143)

जो साधु अशुभ भाव से प्रवृत्ति करता है वह अन्य वश है इसलिए उसका कार्य आवश्यक नाम से युक्त नहीं है।

भावार्थ-अवश साधु का कार्य आवश्यक है, अन्यवश साधु का कार्य आवश्यक नहीं है।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे।। (144)

जो साधु निश्चयसे शुभ भाव में प्रवृत्ति करता है वह अन्यवश है इसलिए उसका कर्म आवश्यक नामवाला नहीं है।

भावार्थ-एकसो तैंतालीस तथा एकसौ चवालीसवीं गाथामें कहा गया है कि जो साधु शुभ अशुभ भावों में प्रवृत्ति करता है वह अवश नहीं है, किंतु अन्यवश है। इसलिए उसका जो कर्म है आवश्य अथवा आवश्यक नहीं कहला सकता है।

दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं।। (145)

जो साधु द्रव्य, गुण और पर्यायों के मध्य में अपना चित्त लगाता है अर्थात् उनके विकल्प में पड़ता है वह भी अन्यवश है ऐसा मोहरूपी अंधकार से रहित मुनि कहते हैं।

आत्मवश कौन है?

परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसं सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।। (146)

जो परपदार्थ को छोड़कर निर्मल स्वभाववाले आत्मा का ध्यान करता है वश आत्मवश है। निश्चय से उसके कर्म को आवश्यक कर्म कहते हैं।

शुद्ध निश्चय आवश्यक प्राप्ति का उपाय

आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स।। (147)

यदि तू आवश्यक की इच्छा करता है तो आत्मस्वभाव में अत्यंत स्थिर भाव को कर। उससे ही जीव का श्रामण्यगुण मुनिधर्म पूर्ण होता है।

आवश्यक करने की प्रेरणा

आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।

पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा।। (148)

क्योंकि आवश्यक से रहित साधु चारित्र से अत्यंत भ्रष्ट है इसलिए पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक करना चाहिए।

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा।

आवासय परिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा।। (149)

जो साधु आवश्यक कर्म से युक्त है वह अंतरात्मा है और जो आवश्यक कर्म से रहित है वह बहिरात्मा है।

अंतरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।

जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा।। (150)

जो साधु अंतर्जल्प और बाह्य जल्प में वर्तता है वह बहिरात्मा है और जो (किसी भी प्रकार के) जल्पों में नहीं वर्तता है वह अंतरात्मा कहा जाता है।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरंगप्पा।

झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि।। (151)

जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है वह भी अंतरात्मा है। ध्यानविहीन साधु बहिरात्मा है ऐसा जान।

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की सार्थकता

पडिकमणपहुदि किरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।

तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि।। (152)

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करनेवाले के निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्र से साधु वीतराग चारित्र में उद्यत होता है। **भावार्थ**-यहाँ प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की सार्थकता बतलाते हुए कहा गया है कि जो साधु प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना आदि क्रियाओं को करता रहता है उसी के निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्र के द्वारा ही साधु वीतराग चारित्र में आरूढ़ होता है।

वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चखाण णियमं च।

आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउं।। (153)

जो वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान और वचनमय आलोचना है उस सबको तू स्वाध्याय जान।

भावार्थ-प्रतिक्रमण आदि के पाठ बोलना स्वाध्याय में गर्भित हैं।

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।

सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं।। (154)

हे मुनिशार्दूल! यदि करने की सामर्थ्य है तो तुझे ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करना चाहिए और यदि शक्ति से रहित है तो तुझे तब तक श्रद्धान ही करना चाहिए।

जिणकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीक्खऊण फुंड।

मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं।। (155)

जिनेंद्रदेव के द्वारा कहे हुए परमागम में प्रतिक्रमणादि की अच्छी तरह परीक्षा कर योगी को निरंतर मौनव्रत से निजकार्य सिद्ध करना चाहिए।

विवाद वर्जनीय है

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।

तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।। (156)

नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, इसलिए स्वधर्मियों और परधर्मियों के साथ वचनसंबंधी विवाद वर्जनीय है-छोड़ने के योग्य है।

सहजतत्त्व की आराधना की विधि

लद्धूणं णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तें।

तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।। (157)

जिस प्रकार कोई एक मनुष्य निधि को पाकर स्वजन्मभूमि में स्थित हो उसका फल भोगता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव ज्ञानरूपी निधि को पाकर परसमूह को छोड़ उसका अनुभव करता है।

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं य काऊण।

अपमत्तपहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा।। (158)

समस्त पुराणपुरुष इस प्रकार आवश्यक कर अप्रमत्तादिक स्थानों को प्राप्त करके केवली हुए हैं। **भावार्थ**-जितने पुराणपुरुष अब तक केवली हुए हैं वे सब पूर्वोक्त विधि से प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थान में आवश्यक कर्म को करके अप्रमत्तादि गुणस्थानों को प्राप्त हुए हैं और तदनंतर केवली हुए हैं।

शुद्धोपयोगाधिकार

निश्चय और व्यवहार नय से केवली की व्याख्या-

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।

केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। (159)

व्यवहार नय से केवली भगवान् सब को जानते हैं और देखते हैं, परंतु निश्चय नय से केवलज्ञानी अपने आपको जानते देखते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ-साथ होते हैं-

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।

दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।। (160)

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ वर्तता है उसी प्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तता है ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ-छद्मस्थ जीवों के पहले दर्शन होता है उसके बाद ज्ञान होता है, परंतु केवली भगवान् के दर्शन और ज्ञान दोनों साथ ही होते हैं।

ज्ञान और दर्शन के स्वरूप की समीक्षा

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।

अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि।। (161)

ज्ञान परप्रकाशक है, दर्शन स्वप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है ऐसा यदि तू वास्तव में मानता है (तो यह तेरी विरुद्ध मान्यता है।)

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।। (162)

यदि ज्ञान परप्रकाशक ही है तो दर्शन ज्ञान से भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया है।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।। (163)

यदि आत्मा परप्रकाशक ही है तो दर्शन आत्मा से भिन्न होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता ऐसा पहले कहा गया है।

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा।

अप्प परप्पयासो, ववहारणयेण दंसण तम्हा। (164)

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है इसलिए दर्शन परप्रकाशक है और आत्मा व्यवहारनय से परप्रकाशक है इसलिए दर्शन परप्रकाशक है।

णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।

अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।। (165)

निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक है इसलिए दर्शन स्वप्रकाशक है और निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है इसलिए दर्शन स्वप्रकाशक है।

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं।

जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ।। (166)

केवली भगवान् निश्चय से आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोक-अलोक को नहीं देखते हैं, यदि ऐसा कोई कहता है तो उसे क्या दूषण है? अर्थात् नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन-

मुत्तममुत्तं, दव्वं, चेयणमियरं सगं च सव्वं च।

पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिंदियं होइ।।

मूर्त, अमूर्त, चेतन, अचेतन द्रव्य तथा स्व और समस्त परदव्य को देखनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय होता है।

परोक्ष ज्ञान का वर्णन-

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।

जो णय पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।। (168)

जो नाना गुण और पर्यायों से संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को अच्छी तरह नहीं देखता है उसकी दृष्टि परोक्ष दृष्टि है अर्थात् उसका ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।

जई कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ।। (169)

केवली भगवान् (व्यवहार से) लोकालोक को जानते हैं, आत्मा को नहीं, ऐसा यदि कोई कहता है तो क्या उसका दूषण है? अर्थात् नहीं है।

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।

अप्पाणं ण वि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं।। (170)

ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिए आत्मा आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न-पृथक् सिद्ध हो।

अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।

तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसण होदि।। (171)

आत्मा को ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है ऐसा जानो, इसमें संदेह नही है इसलिए ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं।

केवलज्ञानी के बंध नहीं है-

जाणंतो पस्संतो, ईहा पुव्वं ण होइ केवलिणो।

केवलणाणी तम्हा, तेण दु सोऽबंधगो भणिदो।। (172)

जानते देखते हुए केवली के पूर्व में इच्छा नहीं होती इसलिए वे केवलज्ञानी अबंधक-बंधरहित कहे गये हैं।

भावार्थ-बंध का कारण इच्छा है, मोह कर्म का सर्वथा क्षय होने से केवली के जानने देखने के पहले कोई इच्छा नहीं होती और इच्छा के बिना उनके बंध नहीं होता।

केवली के वचन बंध के कारण नहीं है-

परिणामपुव्ववयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।

परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।। (173)

ईहापुव्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।

ईहारहियं वयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।। (174)

परिणामपूर्वक-अभिप्रायपूर्वक वचन जीव के बंध का कारण है। क्योंकि ज्ञानी का वचन परिणामरहित है इसलिए उसके बंध नहीं होता।

इच्छापूर्वक वचन जीव के बंध का कारण होता है, क्योंकि ज्ञानी जीव का वचन इच्छारहित है इसलिए उसके बंध नहीं होता।

ठाणणिसेज्जविहारा, ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।

तम्हा ण होइ बंधो, साकट्ठं मोहणीयस्स।। (175)

केवली के खड़े रहना, बैठना और विहार करना इच्छापूर्वक नहीं होते हैं, इसलिए उन्हें तन्निमित्तक बंध नहीं होता। बंध उसके होता है जो मोह के उदय से इंद्रियजन्य विषयों के सहित होता है।

कर्मक्षय से मोक्ष प्राप्त होता है-

आउस्स खएण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।

पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण।। (176)

आयु के क्षय से केवली के समस्त प्रकृतियों का क्षय हो जाता है, पश्चात् वे समयमात्र में शीघ्र ही लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं।

कारण परमतत्त्व का स्वरूप-

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।

णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं।। (177)

वह कारणपरमतत्त्व जन्म जरा और मरण से रहित है, उत्कृष्ट है, आठ कर्मों से वर्जित है, शुद्ध है, ज्ञानादिक चार गुणरूप स्वभाव से सहित है, अक्षय है, अविनाशी है और अच्छेद्य-छेदन करने के अयोग्य है।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावविणिमुक्कं।
पुणरागमणविरहियं, णिच्चं अचलं अणालंबं।। (178)

वह कारणपरमतत्त्व अव्याबाध, अनिंद्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप से निर्मुक्त, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और अनालंब-पर के आलंबन से रहित है।

निर्वाण कहाँ होता है?

णवि दुःखं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।। (179)

जहाँ न दुःख है, न सांसारिक सुख है, न पीडा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण होता है।

ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हियो णि णिद्दा य।
णिय तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।। (180)

जहाँ न इद्रियाँ है, न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न तृषा है न क्षुधा है वहीं निर्वाण होता है।

ण वि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।। (181)

जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिंता है, न आर्त्त-रौद्र ध्यान है और न धर्म्य शुक्ल ध्यान हैं, वही निर्वाण होता है।

सिद्ध भगवान् का स्वरूप-

विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरयं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सपदेसत्तं।। (182)

उन सिद्ध भगवान् के केवलज्ञान है, केवलसुख है, केवलवीर्य है, केवलदर्शन है, अमूर्तिकपना है, अस्तित्व है तथा प्रदेशों से सहितपना है।

निर्वाण और सिद्ध में अभेद-

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छह लोयग्गपज्जंत्तं।। (183)

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण हैं ऐसा कहा गया है। कर्म से विमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यंत जाता है।

कर्मविमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यंत ही क्यों जाता है?

जीवाणं पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति।। (184)

जीव और पुद्गलों का गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक होता है। लोकाग्र के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से कर्मुयक्त आत्माएँ नहीं जाती हैं।

विकसित देशों में पीने का चलन हो रहा कम

नई दिल्ली। विकसित देशों में जहां शराब की खपत कम हो रही है, वहीं भारत जैसे देशों में इसकी खपत बढ़ रही है। विकसित देशों में भी विशेषकर युवाओं में शराब की खपत कम हो रही है। जर्मनी, कनाडा, यूरोप के आंकड़े इस बात की गवाही दे रहे हैं कि यहां अब शराब का सेवन अब कोई कुल चीज नहीं रह गई है। सेहत के साथ-साथ इसको सोशल स्टेटस के भी खिलाफ माना जाने लगा है।

जर्मनी में एक दशक में 12.2% घटी खपत

जर्मनी का नाम यूरोप में सबसे अधिक शराब पीने वाले देशों में शुमार होता आया है। पर यहां जनवरी से जून 2023 में बीयर की खपत 2.9 फीसदी गिरावट के साथ 4.2 अरब लीटर रह गई। इसमें भी घरेलू बीयर की खपत 3.5 फीसदी की गिरावट दर्ज की गई, जिसका हिस्सा कुल खपत में 82 फीसदी-हिस्सा है। निर्यात में भी 0.4 फीसदी 'की गिरावट देखी गई। पिछले 10 सालों में ये कमी 12.2 ठहरती है।

युवाओं में घट रहा पीने का चलनः जर्मन सेंटर फॉर हेल्थ एजुकेशन 2004 से ही बिंज ड्रिंकिंग पर सर्वे कर रहा है। कम-से-कम पांच ड्रिंक लेना बिंज ड्रिंकिंग कहलाता है। सर्वे के अनुसार, 12 से 25 साल के आयुवर्ग में शराब का सेवन घट रहा है।

8.86% की दर से बढ़ रही शराब की खपत भारत में

1.2% की कमी कनाडा में शराब की खपत में एक दशक में आई

भारतः तेजी से बढ़ता बाजार-यूरोप और पश्चिमी देशों में जहां शराब कम पीने का रुझान है वहीं भारत एल्कोहल पेय पदार्थ का सबसे तेजी से बढ़ता हुआ बाजार है। स्टेटिस्टा के एक अध्ययन के मुताबिक भारत में 2022 से 25 के बीच एल्कोहल पेय पदार्थ का बाजार 8.86 फीसदी की दर से बढ़ेगा।

शराब पीने से दूरी, दो अहम कारण

1. अध्ययनों के मुताबिक, सोशल मीडिया के युग में अब अपने पर काबू रखना युवाओं के लिए अहम होता जा रहा है। कोई भी बेकाबू हालात में सोशल मीडिया पर नहीं दिखना चाहता, इसलिए वे उतनी ही पी रहे हैं कि काबू में रह सकें।

2. कोरोना महामारी के बाद से सेहत के प्रति सजगत बढ़ी है। कई अध्ययन स्पष्ट बताते हैं कि शराब की जरा सी भी मात्रा हानिकारक है। ऐसे में अब पीने को कूल समझने की प्रवृत्ति घट रही है।

आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव के व्यक्तित्व-कृतित्त्व

मेरा 33 वर्षों (1990) का अनुभव-शिष्या वीणा जैन

गुरुदेव के चरणों में नव कोटि पूर्वक नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम त्वद भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरोति, तच्चाम्र चारू कलिका निकरैक हेतु

मेरे समक्ष ब्रह्मा और बृहस्पति समान गुरुवर हैं। इनका गुणगान क्या और कैसे करूँ? क्योंकि मैं अल्पज्ञ हूँ, लेकिन फिर भी मेरे भाव हुए हैं कि मैं अपने हृदय के उदगार व्यक्त करूँ।

मेरे गुरुवर मुझ से अभिन्न हैं, क्योंकि मेरे हृदय में मेरे गुरुवर सदैव प्रति समय विराजमान हैं। जब से मुझे इनका सानिध्य मिला है, गुरुदेव का गुणगान

करने के योग्य न तो मेरी जिह्वा पर कोई ऐसे शब्द आते हैं और न ही मुझमें ऐसी कोई योग्यता या क्षमता है कि मैं इनका गुणगान कर सकूँ। क्योंकि यह अनंत गुणों के स्वामी हैं। वैसे भी गुरुदेव मुझे बोलते हैं कि मैं गूंगी हूँ, यह सत्य है, भगवान्! मैं गूंगी के साथ अल्पबुद्धि भी हूँ। जब मैं देखती हूँ छोटे छोटे श्रेयस जैसे बच्चे कितनी अच्छी अभिव्यक्ति करते है। श्रीमती विजयालक्ष्मी, आनल वगैरह सभी कितना सुन्दर वेबिनार का सार लिखकर हमें लाभान्वित करती है। और भी अन्य बहुत से लोग सभी बहुत अच्छा बोलते हैं। उन सभी के सामने मैं स्वंय को नगण्य ही मानती हूँ। क्योंकि मुझ में यह सुख योग्यता नहीं हैं।

वैसे तो गुरुदेव ने हमें इतना दिया है कि न तो मैं उसे ग्रहण कर पाई और नहीं समझ पाई और संभाल पाई। वैसे तो गुरुदेव के पास जो भी आता है वह निश्चित रूप से मालामाल हो जाते हैं, क्योंकि गुरुदेव इतने उदारवादी और वात्सल्य से भरपूर हैं कि सबको उनकी योग्यता के अनुसार अधिक से अधिक पढ़ाते हैं समझाते हैं और उनके भविष्य को उज्ज्वल बनाते हैं। इनके दरबार में कोई भेदभाव, ईर्ष्या, द्वेष, राग, मत्सगर भाव किसी से कोई पक्षपात नहीं है। कोई छोटा बडा, धनी गरीब, शिक्षित, अशिक्षित किसी के प्रति भी गुरुदेव खोटा व्यवहार नहीं करते हैं। यह सभी के लिए समान हैं। बल्कि जिसमें जो भी विधा है उसे प्रोत्साहित करके उसे उभारते हैं। हां, गुरुदेव को समझने में कुछ समय अवश्य लगता है, लेकिन अब तो उसमें भी अन्तर है। जब मैं गुरुदेव के सम्पर्क में आई थी, तब गुरुदेव के कक्ष में आसानी से जाने की कोई हिम्मत नहीं कर सकता था।

गुरुदेव का सदैव से ही अन्त्योदस से सर्वोदयी का लक्ष्य रहा है। आप सदैव से ही सभी जीवों का उद्धार ही चाहते हैं और सभी में भगवान् आत्मा को ही देखते हैं, तभी तो गुरुदेव के कक्ष में आने पर सभी को शान्ति की अनुभूति होती है। कोई कैसे ही भाव में हो पर उसे यहाँ पर आकर एक अलग ही शान्ति का अनुभव होता है।

यै शान्त राग रुचिभि परमाणु भिस्त्वं, निर्मापितस्-त्रिभुवनैक ललामभूत
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथ्वियाँ, यत्ते समान-भपरं न हि रूप-मस्ति।।

क्योंकि लोकाकाश में जितने भी शुद्ध परमाणु हैं, वह सभी सिमट कर गुरुदेव में समा गए हैं। इसलिए गुरुदेव के कक्ष में आकर सभी को शान्ति की और अलग सी अनुभूति होती है। गुरुदेव के भाव सदा पवित्र रहते हैं जिसका प्रभाव सभी जीवों पर पड़ता है। गुरुदेव अनेक विधाओं के ज्ञाता है इनसे किसी भी विषय पर या कानून संविधान आदि पर चर्चा की जाएं यह सभी ज्ञान में अग्रणीय है और सभी इनके आगे इसीलिए नतमस्तक रहते हैं। गुरुदेव की दूरदृष्टि है, समय से पहले सभी स्थितियों और परिस्थितियों को जान लेते हैं और सतर्क रहते हैं। सभी प्रकार के दिखावा, आडम्बर और प्रपंच आदि से कोसों दूर हैं यहाँ तक कि सिंहान का भी सदैव से त्याग है 47 वर्षों से साधु बनने पर कमी भी ऐसी किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं किया। होर्डिंग बोर्डिंग या पत्रिका आदि का भी त्याग रहता है। किसी भी फिजूल खर्ची में विश्वास नहीं रखते है। और न ही चन्दा चिट्ठा आदि करवाते हैं न ही किसी प्रकार की याचना करते हैं हाँ अगर स्वेच्छा से कोई अल्पदान भी करता है तो उसका सत्कार करते हैं और स्वीकार भी करते हैं। क्योंकि गुरुदेव का ऐसा मानना है कि उसे यदि स्वीकार नहीं किया गया तो दानान्तराय का बंध होगा। गुरुदेव छोटे-छोटे बच्चों की भावनाओं का भी सम्मान करते हैं। गुरुदेव हमें जो भी पढाते हैं वह मूलग्रन्थों और शास्त्रों के अनुसार ही बतलाते हैं उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपनी ओर से नहीं बतलाते और स्वयं भी उसी प्रकार आचरण करते हैं। अन्यथा एक शब्द भी नहीं बोलते हैं। पाँच प्रकार के स्वाध्याय के अतिरिक्त अन्य समय में सदैव से मौन रहते हैं।

गुरुदेव की जिह्वा पर सरस्वती विराजमान रहती है। यह जो परिस्थिती के अनुसार बोलते हैं पूर्ण रूप से जो सत्य ही होता है। और कभी भी यह नहीं कहते कि यह मेरे द्वारा यह कोई चमत्कार हुआ है यह मैंने अपनी प्रज्ञा और अन्तरात्मा से जो जाना वही आपको बताया है। गुरुदेव जिनवाणी माँ के अनन्य सपूत हैं। और गुरुदेव की स्मरण शक्ति तो अद्वितीय है जो भी एक बार पढ़ या सुन लेते हैं वह इनके कम्प्यूटर में समय दिन और व्यक्ति के हिसाब से स्मृति में रहती है।

जब कि हमारे द्वारा स्वयं का बोला हुआ बताया हुआ भी हम कुछ समय बाद ही भूल जाते हैं। परन्तु गुरुदेव की स्मृति में निरन्तर रहता है। गुरुदेव सभी जीवों के उत्थान की भावना रखते है और सदैव से यही कहते हैं कि मैं जंगम नहीं अपितु जीवन्त चैतन्य भगवानों का निर्माण करूँगा और इसी प्रकार से सभी में संस्कार आरोपित भी करते हैं, खासतौर से बच्चों में भी ऐसे संस्कार ही डालते हैं और बच्चों से प्यार भी बहुत करते हैं। गुरुदेव माँ जिनवाणी का और अपने गुरुओं का प्रथम रूप में सम्मान देते हैं, इनके जीवन माँ जिनवाणी से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। यह कैसे भी परिस्थति में हो अगर माँ जिनवाणी का स्वाध्याय या गुणगान करते हैं तो यह बहुत आनन्दित होते हैं और अगर इनको कोई शारीरिक या आन्तरिक कष्ट भी हो रहा हो तो वह भी मूल जाते हैं। क्योंकि माँ जिनवाणी भी गुरुदेव पर अपना पूरा आशीर्वाद बनाये हुये हैं। मुझे स्मरण है कि गुरुदेव के वर्षायोग की स्थापना 2009 में रामगढ़ में हो रही थी। हम भी वहाँ पर उसी समय पहुंचे थे और हमने सरप्राइज के रूप में गुरुदेव को ताम्रपत्र पर अकिंत श्रीद्रव्यसंग्रह ग्रन्थ को भेंट किया। गुरुदेव उसे देखकर इतने प्रफुल्लित हुए कि वह 'स्मृति' अभी भी मेरे हृदय में अंकित है गुरुदेव ने उसके लिए ऐसे ही उत्सव किया। जिस प्रकार श्रुतपंचमी पर आ. वीरसैनजी महाराज द्वारा श्रीषटखंडागम जी के पूर्ण होने पर उत्सव हुआ होगा। गुरुदेव जिसे जो भी आशीर्वाद देते हैं वह निश्चित रूप से फलीभूत होता है और सभी को खूब-खूब आशीर्वाद देते हैं इसीलिए जो भी गुरुदेव के पास आता है, निश्चित रूप से उसका हर क्षेत्र में विकास होता ही है। और गुरुदेव अन्तर्यामी भी है। यह हमारी मन की बातों को भी हमारे बिना बताऐं ही जान लेते हैं। क्योंकि मेरे साथ तो ऐसी घटनाऐं बहुत बार घटित हुई हैं यह साक्षात् कलिकाल सर्वज्ञ हैं। मैं नवम्बर माह 2022 में भीलूड़ा अपनी सुपुत्री के साथ गुरु दर्शनों के लिए आई थी और मैं भगवान् के सामने अपने आगामी जीवन के लिए निर्णय लेने की सोच रही थी कि मुझे भविष्य में कहाँ रहना चाहिए क्योंकि दोनों बच्चों ने मुझे अपने साथ रहने के लिए काफी

आग्रह किया था जो कि मुझे कुछ अधिक कम्फर्टएबल नहीं लग रहा था इसलिए कुछ असमंजस की स्थिति में थी। थोड़ी ही देर बाद नीचे चौके में थी, तब गुरुदेव ने मुझे अपने कक्ष में बुलाया और आदेश दिया कि तुम पहले भी यहां संघ में रहती थी, अब भी यहाँ रह सकती हो मैं यह सोच कर हैरान हो गई कि गुरुदेव को मेरे अंतरंग की दुविधा का कैसे ज्ञात हुआ मैं कुछ सोचती तो मेरी पुत्री ने मुझे कहा कि मम्मी आपको क्यों सोचना है, आप कितनी सौभाग्यशाली हो, कि गुरुदेव स्वयं आपको संघ में रहने के लिए बोल रहे हैं, तो मैंने गुरुदेव के आदेश का सहृदय स्वीकार किया, इस बात से गुरुदेव को भी प्रसन्नता हुई। वैसे भी गुरुदेव को स्नेह और कृपा सदैव से ही हम पर निरन्तर रही है और इनके पास आकर स्वयं ही सब ही समस्याओं का समाधान स्वयं ही हो जाता है। गुरुदेव के गुणों का गुणानुवाद जितना भी किया जाए, यह इनके अनन्त गुणों के सामने नगण्य ही है। सव्वे सुद्धा हु सुद्धनया। गुरुदेव यही व्यापक दृष्टि रखते हैं, प्रत्येक जीव में सिद्ध बनने की क्षमता है, इसी रूप में सब को जानते हैं और इसीलिए प्राणीमात्र पर करुणा का भाव रखते हैं। यहाँ तक कि पेड़ पौधे के गुणों की भी प्रशंसा करते हैं और सभी का उपकार मानते हैं। गुरुदेव की दृष्टि कभी भी किसी के दोषों पर न जाकर बस गुणों को ही देखते हैं। किसी की कभी भी न तो निन्दा करते हैं और न ही किसी के द्वारा सुनते भी नहीं है। अपितु प्रत्येक शिष्यों का विधाओं की जानकर समझकर उन्हें और उभारते हैं ऐसी विशेषता केवल गुरुदेव में ही है प्रत्येक को प्रोत्साहित भी करते हैं, ऐसा कहीं पर भी अन्य देखने को नहीं मिलता। गुरुदेव एक कुम्हार की भाँति उसे सुन्दर आकार और रूप भी देते हैं और निरन्तर उसे उनन्त बनाते हैं और कभी भी किसी के प्रति भेदभाव नहीं रखते। गुरुदेव भारत को महापुरुषों को जन्म देने वाली भूमि ही मानते हैं। इनकी दृष्टि में इस भूमि पर जन्मा प्रत्येक बालक बालिका महापुरुष है। इसीलिए यह बच्चों से अत्यधिक स्नेह रखते हैं। और उनमें सुंस्सकार आरोपित करते हैं और यह अपने बालपन से ही सभी को और सहपाठियों को भी सद्गुणें के लिए ही प्रेरित करते हैं। किसी के

लिए अन्याय सहन नहीं कर सकते थे और सदैव न्याय का ही पक्ष लेते थे चाहे वह छोटा हो या बड़ा, दूसरों के दुख को देखकर थे स्वयं द्रवित हो जाते हैं और कभी भी किसी की भी स्वयं तो निंदा न करते है और न ही अन्य के द्वारा सुनते हैं। चाहे कोई इनका विरोधी या शत्रु भी क्यों न हों। क्योंकि इनकी दृष्टि कभी किसी के दोषों पर नहीं जाती अपितु उनके गुणों को जानकर उनकी प्रशंसा ही करते हैं और उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। गुरुदेव अपनी उदार भावना से हम सभी को समझते हैं और निरन्तर ज्ञानदान और अभयदान देते है और सभी के लिए समान व्यवहार रखते हैं। कोई भेदभाव नहीं करते। गुरुदेव के द्वारा दिया ज्ञानदान हमारे भवों भवों तक को उज्ज्वल बनाएगा और यही मोक्ष तक ले जाएगा। जो उपकार गुरुदेव हम सभी पर कर रहे हैं इस उपकार के लिए हम सदैव इनके ऋणी रहेंगे क्योंकि ऐसा ज्ञान हमें कहीं से भी प्राप्त न तो हुआ है और भविष्य में भी शायद ही कहीं से प्राप्त होगा, हम जो आहारदान या चारों प्रकार का दान करते हैं वह तो हम इस ही भव के लिए करते परन्तु यह जो गुरु देय द्वारा दिया ज्ञानदान महान् दान तो मोक्ष तक ही हमारे साथ रहेगा। गुरुदेव स्व-पर प्रकाशक हैं। स्वयं भी अपना कल्याण कर रहे हैं और ऐसे गुरु हैं पर का भी कल्याण कर रहे हैं और मोक्ष मार्ग बता रहे ऐसे गुरु सदैव के उपकार कैसे विस्मृत कर सकते हैं। हमें तो शुद्ध भाषा का भी ज्ञान न ही है और न ही मातृभूमि और अपने गुरुओं पर भी गौरव ही करते हैं। ऐसे महान् गुरु के महान्गुणों की भी सम्यक् पूर्वक विनय कर पाते हैं और न ही उनका गौरव करते हैं बहुमान करते हैं। गुरुदेव सदैव से अनुशासन प्रिय रहे हैं, अपनी क्षु. अवस्था से सन् 1978 से संघ के सभी साधुओं को शिक्षण और उन्हें संस्कार आदि देने का कार्यभार इन्हें ही दिया गया। क्योंकि इनके गुरु और साथ ही दादा गुरू ने इनकी विद्वता को देखकर और उचित मानकर इन्हें ही यह कार्यभार सौंपा। गुरुदेव अपने गुरुओं का नाम बहुत आदर से और नतमस्तक होकर लेते हैं। और उन्हें स्मरण करने पर भाव विभोर हो जाते हैं। गुरुदेव अपने संघ के अतिरिक्त अन्य संघ के साधुओं को भी अपने संघ में रखकर उन्हें भी शिक्षित करते हैं। इौर

उनकी जिज्ञासाओं का समाधान भी करते हैं और सभी के साथ समान और उचित व्यवहार रखते हैं और उनके रहने की आहार की और औषधि वगैरह की भी व्यवस्था समानरूप में ही करवाते हैं। क्योंकि अन्य संघों के साधु साध्वी ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी आदि गुरुदेव के पास शिक्षा लेने हेतु आते हैं या उन्हें भेजा भी जाता है कि आपकी जिज्ञासाएँ का समाधान और शिक्षण आ. कनकनन्दी जी से ही मिल सकता है इसीलिए बहुत से संघों से साधु साध्वी निरन्तर आते हैं।

गुरुदेव एकान्तवाद का भी खण्डन करने में अग्रणीय है। क्योंकि बहुत से स्थानों पर समाज में इस प्रकार की धारणा बना दी जाती है जो आगम के विरुद्ध होती है जो आगमोक्त प्रकार से आपने ही उनकी मान्यताओं और विचारों को सन्मार्ग पर लाए और यह कार्य आप द्वारा मध्यप्रदेश में कुछ जगह पर शाहगढ सागर जबलपुर में हुआ और यह कार्य भी 1978 से आप द्वारा हो रहा है। आपका जहाँ पर विहार हुआ विभिन्न प्रदेशों में आप द्वारा एकान्तवाद का खण्डन किया गया। क्योंकि जैनधर्म अनेकान्त और सापेक्षवाद है और व्यापक दृष्टि रखता है। अगर हम एकान्त बने रहेंगे तो समाज में निरन्तर फूट और कलह होंगी इसीलिए हमें सभी आयाम द्वारा प्रत्येक विषय जानना और समझना चाहिए यही गुरुदेव सभी कुछ पक्षों को जानकर निर्णय लेते है इसी प्रकार से गुरुदेव कर्नाटक महाराष्ट्र, बिहार, यू.पी. राजस्थान आदि सभी जगह एकान्त को दूरकर अनेकान्त का पाठ पढ़ाया और धर्म का सही अर्थ बतलाया। गुरुदेव दूसरों के ग्राह्य गुणों को भी स्वीकार करते हैं चाहे वह छोटा सा बालक भी क्यों न हो। क्योंकि गुरुदेव बालपन से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के हैं और स्वयं को सदैव विद्यार्थी ही मानते हैं क्योंकि गुरुदेव ने बतलाया कि अरहंत बनने से पहले की अवस्था तक सभी विद्यार्थी ही होते हैं। इसीलिए गुरुदेव सब के गुणों की प्रशंसा भी करते हैं और उन्हें मानते भी हैं। गुरुदेव के गुणगाण करने के लिए मेरे पास न तो कोई योग्यता और क्षमता है और न ही कोई सुन्दर से शब्द है। मैं तो एक सूर्य के सामने जुगनू के समान हूँ। क्योंकि इनमें जो अनन्त-गुण हैं उनके लिए मेरे पास ऐसा कोई ज्ञान भी नहीं है। जो साधु में गुण होने चाहिए वह

गुरुदेव में सभी विद्यमान है। जैसा आचार्यश्री वीरसेन स्वामीजी ने श्रीधवला जी में वर्णन किया है। यह सिंह वृत्ति वाले हैं बिल्कुल निर्मीक और अपना रास्ता स्वयं बनाने वाले क्योंकि जंगल का राजा सिंह होता है किसी के आधीन नहीं होता और अपने पद के अनुरूप ही व्यवहार करते हैं। गज के समान स्वाभिमानी है, किसी के सामने झुकते नहीं है और याचना भी नहीं करते हैं। जो सम्मान के साथ व्यवहार करता है वही स्वीकार्य है। भिक्षुक है, भिखारी नहीं है। वृषभ के समान उन्नत और भद्र प्रकृति वाले हैं। मृग के समान कोमल और सरल है किसी के प्रति कोई खोटे भाव नहीं रखते।उरग के समान अपने लिए कोई वसतिका या कुटिया आदि का निर्माण नहीं करवाते अपितु काँतार चर्या करते है किसी के द्वारा छोड़े गए या जंगल आदि में अपनी साधना करते हैं किसी को भी बाध्य नहीं करते हैं। गोचरी वृत्ति से आहार ग्रहण करते हैं और अन्य का भी ध्यान रखते हैं। जिससे किसी को कोई कष्ट न हो। इस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं। आकाश के समान विशाल और सहृदयी है सभी को अभयदान भी देते हैं जैसे आकाश सभी को अवगाहित करता है। उसी प्रकार गुरुदेव का वात्सल्य है। पृथ्वी के समान सभी आपत्ति विपत्तियों को सहन करते है धैर्यशील हैं। बाईस परीषहों को सहन करते हैं। पवन के समान निःसंग है। बिना किसी रुकावट के अपना रास्ता स्वयं बनाते हैं। किसी के आश्रित नहीं है। सूर्य के समान तेजस्वी हैं। जो भी इनके पास आता है। इनकी तेजस्विता को देखकर निश्चित रूप से प्रभावित होता है। चन्द्रमा के समान सभी को शीतलता प्रदान करते हैं। अगर कोई क्रोधी मनुष्य भी इनके कक्ष में आता है वह तो स्वयं ही शान्त हो जाता है। समुद्र के समान गंभीर है। गहन चिन्तन करते हैं। अपनी आत्मा में लीन रहते हैं।

सुमेरु के समान अकम्प, अडोल अटल है। सभी उपसर्ग और परीषहों को समतापूर्वक सहन करते हैं। अतिथि है, किसी निमंत्रण के लिए बाध्य नहीं है छोटे से छोटे बच्चों की भावनाओं को भी सम्मान देते हैं। सदा ज्ञान ध्यान और तप में लीन रहते हैं। पूर्ण रूप से आकिन्चन्य हैं। संसार में कुछ भी मेरा नहीं है। इसी उद्देश्य से परमपद में अग्रसर हैं, निस्पृही है। किसी प्रकार लोभ लालच में नहीं आते हैं और

अपने नियमों के विरुद्ध कोई समझौता नहीं करते हैं और नियमों का पूर्णरूप से निर्वाह करते हैं। स्वयं अनुशासन में रहते हैं और शिष्यों को भी अनुशासन में ही रखते है। गुरुदेव सबसे बड़े दानी है जो कि ज्ञानदान देकर पूरे विश्व को उपकृत कर रहे हैं। क्योंकि ज्ञानदान से बड़ा कोई भी दान नहीं है जो कि वेबिनार के माध्यम से पूरा विश्व इसका लाभ ले रहा है। गुरुदेव की महिमा का गुणगान करने में मैं असमर्थ ही हूँ अनन्त गुणों के सामने मेरे द्वारा कहा गया सब नगण्यय ही हैं और सामर्थ्य से बाहर है। अन्त मैं गुरुदेव से यही आशीर्वाद चाहूँगी कि मैं भी आपकी भाँति गुणग्राही बनूँ और जो लक्ष्य आपका है मैं भी आकिंचन्य बनूँ और उसी लक्ष्य की प्राप्ति करूँ। मेरे गुरु का वृहदहस्त मुझपर निरन्तर बना रहे। इन्हीं भावनाओं के साथ नमन करते हुए। **-आपकी शिष्या वीणा**

प्रस्तुत कृति का उपादेयभूतसार

परम धर्म या जैन धर्म का सार

वस्तु स्वभाव मय जीव धर्म ही जैन धर्म-निजधर्म

(जीव से जिनेन्द्र, भव्य से भगवान् बनने हेतु धर्म)

-आचार्य कनकनन्दी

जेण तच्चं विषुज्झेज्ज, जेण चित्त णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसम्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।। (मूला.)
जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभाजेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।
आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। (र. श्रा.)

(चाल : 1. चाँदी की दीवार...2. भातुकली...3. इक परदेशी...)

जिनेन्द्र/(सर्वज्ञ) कथित जिनधर्म है, जीवधर्म व निजधर्म।
वस्तु स्वभाव धर्म होने से यह धर्म है वैश्विक स्वतंत्र।।

जिनेन्द्र होते (हैं) अठारह दोष रिक्त, सर्वज्ञ व हितोपदेशी।
राग द्वेष मोह काम क्रोध मद ईष्या तृष्णा घृणा से रिक्त समदर्शी।। (1)
जिनेन्द्र भी पूर्व में थे अशुद्ध जीव किन्तु आत्मशुद्धि से बने सर्वज्ञ।
दोष रहित होकर बने शुद्ध बुद्ध-आनन्द।।
अतएव उनके द्वारा अनुभूत सत्य प्रायोगिक व उपलब्ध।
उसे ही उन्होंने उपदेश दिया सर्वजीव हित हेतु हो निरपेक्ष।। (2)
उन्होंने कहा विश्व शाश्वतिक है जीव-अजीव द्रव्य सहित।
धर्म-अधर्म-आकाश काल-पुद्गल अजीव चेतनायुक्त द्रव्य जीव।।
जीव पुद्गल ही गति क्रिया युक्त है तथाहि शुद्ध-अशुद्ध।
अनन्तानन्त जीव होते हैं पुद्गल भी अणु स्कन्ध वर्गणा स्वरूप।। (3)
अनन्तानन्त अणु होते हैं स्कन्ध भी होते हैं अनन्तानन्त।
वर्गणायें भी होती हैं तेईस (23) प्रत्येक वर्गणा में अणु अनन्तानन्त।।
अनादि काल से होते अनन्तानन्त अशुद्ध जीव जो कर्म सहित।
राग द्वेष मोहादि भाव कर्म से (असंख्यात) आत्म प्रदेश कम्पन से-कर्माणु आकर्षिता।। (4)
आठ ग्राहय कर्मवर्गणा से बन्धते हैं आठ प्रकार के द्रव्यकर्म।
ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र।
कर्मास्रव में धर्म द्वय सहायक तथाहि जीव-पुदुगल की गति में।
जीव-पुद्गल की स्थिति में अधर्मद्रव्य सहायक, आकाश अवकाश में।।(5)
काल द्रव्य सभी के परिणमन में सहायक ऐसी है विश्व व्यवस्था।
अनन्त, स्वयंभू, स्वतंत्र, मौलिक, प्राकृतिक, विश्व व्यवस्था।।
इन सबका श्रद्धान जब होता है भव्यों को देव शास्त्र गुरु से।
तब होता उसे सम्यग्ज्ञान जिससे शुद्ध बनते समयग्चारित्र से।। (6)
जिस विधि से जिनेन्द्र बने उसी विधि से भव्य बनते भगवान्।
यह है जैन धर्म या जीव धर्म या मानवधर्म, शाश्वत, अकृत्रिम।
इस हेतु ही समस्त धर्म कर्म, व्रत, नियम व तप, त्याग, ज्ञान, ध्यान।
आत्म-विश्वास-ज्ञानल्चारित्र द्वारा 'भगवान बनना 'कनक' का लक्ष्य।।(7)

योगीन्द्र गिरि 7/8/2023 प्रातः 8.04

अमूर्तिक आत्म चिन्तन

-आचार्य कनकनन्दी

इतीदमात्मनस्तृत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्ड मेकमचलं स्वसंवेद्यम बाधितम।। 246 अ. क.
इति वस्तुस्वभावं स्वज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।। 176 अ.क.

(चालः-1. भातुकली...2. चाँदी की दीवार 3. सायोनारा...4. इक परदेशी...)

मम अमूर्तिक आत्मा रे! तू तो चेतन गुणगणमय।
तू हो अनन्त ज्ञान दर्शन, सुखवीर्य व अस्तित्वमय।। (1)
आकाश सम अनन्त अमूर्तिक, किन्तु मेघाछन्न नभ सम अभी।
तथापि मेघ न होता नभ, तथा कर्म तव स्वभाव नाहिं।। (2)
मेघ के आकार रंग-रूप यथा, न होते नभ तथा तू भी।
मेघ के छिन्न-भिन्न से न नभ, तथाहि शरीर से न हो तू भी।। (3)
मेघ आछन्न सूर्य सम तू हो, सूर्य सम तू भी कर्म से भिन्न।
मेघ विलीन से सूर्य न नाश, कर्म नाश से तू भी ज्योतिर्मय।। (4)
तेरी ज्योति है अनन्त अमूर्तिक, अनन्त सूर्य से भी अधिक।
लोकालोक त्रिकाल प्रकाशी तथाहि तव अनन्त गुण राशि।। (5)
तव ज्योति से तुझे मैं जाना, तू व मैं अभेद-एकत्व।
तुझे मैं मुझसे ही मैं पाऊँ, मैं न ''कनक'' मैं हूँ आत्मा।। (6)
पुद्गल कर्मजन्य चतुर्गति, व चौरासी लक्ष योनियाँ।
तन-मन-अक्ष व धनजन, ख्यातिपूजालाभ प्रसिद्धियाँ।। (7)
राग द्वेष मोहादि भाव कर्म, तथाहि द्रव्य व नोकर्म।
सचित्त-अचित्त-मिश्र परिग्रह, सभी ही भौतिक तू हो चैतन्य/(अमूर्तिक)।।(8)

योगीन्द्रगिरि दि. 7-8-2023 रात्रि 11:30 व प्रातः 7:42

संदर्भ-

अशुद्ध एवं शुद्ध जीव के उपयोगः-

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा शुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं।। (6)

According to Vyavahara Naya, the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jnana and four kinds of Darshana. But according to Shuddha Naya (the characteristics of Jiva) are pure Jnana and Darshana.

आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक वह जीव है यह व्यवहारनय से सामान्य जीव का लक्षण है और शुद्धनय से शुद्ध जो ज्ञान, दर्शन है वह जीव का लक्षण कहा गया है।

व्यवहार नय से सामान्यतः जीव का लक्षण-8 ज्ञान एवं 4 दर्शन है। इसका भावार्थ यह है कि किसी विवक्षा के बिना संपूर्ण जीव में उपरोक्त ज्ञान में से कोई न कोई ज्ञान अवश्य रहेगा ही। शुद्ध निश्चय नय से जीव का लक्षण शुद्ध दर्शन एवं ज्ञानमय है यह कथन ''शुद्ध सद्भूत'' शब्द से वाच्य कहने योग्य ''अनुपचरित सद्भूत'' व्यवहार नय है और छद्मस्थ ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से तो अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य ''उपचरित सद्भूत'' व्यवहार नय है तथा कुमति, कुश्रुत, विभंग इन तीनों में उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है और शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध अखंड, केवलज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही जीव के लक्षण हैं।

निश्चय से जीव अमूर्त व्यवहार से जीव मूर्त

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।। (7)

According to Nischaya Naya, Jiva is without form; because the five kinds of colour and taste, two kinds of smell, and eight kinds of touch are not present in it. But according to Vyavahara Naya (Jiva) has form through the bandage (of karma.)

निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं है इसलिए जीव अमूर्त है और बंध से व्यवहार की अपेक्षा करके जीव मूर्त है।

विश्व के छह मौलिक द्रव्य में से केवल पुद्गल द्रव्य ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त होने के कारण मूर्तिक है और अन्य सब द्रव्य अमूर्तिक है तथापि संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक है क्योंकि अनादिकाल से संसारी जीव पौद्गलिक कर्म से युक्त होने के कारण व्यवहार नय से मूर्तिक है। देवसेन आचार्य ने आलापद्धति में कहा भी है-

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः।।

असद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्त स्वभाव है। यदि एकांततः संसारी जीव को भी अमूर्तिक स्वीकार किया जाएगा तो अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्मों को न आकर्षित/आस्रव कर सकता है न बंध कर सकता है। आस्रव एवं बंध से रहित जीव की संसार अवस्था भी नहीं रह सकती। संसार के बिना मोक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि बंधनपूर्वक मोक्ष होता है। संसार का भी अभाव नहीं मान सकते हैं क्योंकि संसार की उपलब्धि प्रत्यक्ष है, क्योंकि संसार के कर्म परतंत्र, राग-द्वेष से युक्त जीव पाए जाते हैं। यदि संसारी जीव भी व्यवहार नय से अमूर्तिक है तो फिर सचित्त एकेन्द्रिय आदि जीव के शरीर में छिन्दभिन्द करने पर उस शरीर में स्थित जीव को कष्ट नहीं होता और द्रव्य हिंसा भी नहीं होती। इसलिए धवला आदि सिद्धांत ग्रंथ में कहा गया है कि ''अनादि काल से बंधन में बद्ध रहने के कारण जीव के अमूर्तत्व का अभाव है।

संसारी जीव पौद्गलिक कर्मोदय से एवं पौद्गलिक बाह्य अस्त्र, औषध, विष, पानी, अग्नि आदि से भी प्रभावित होता है। यदि संसारी जीव भी अमूर्तिक होता तो उपर्युक्त पौद्गलिक द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण यह है कि क्षुधावेदनीय आदि पौद्गलिक कर्म के उदय से भूख नहीं लगती और योग्य भोजन करने पर भी भूख नहीं मिटती। अमृतचंद्र सूरी ने संसारी जीव को मूर्तिक सिद्ध करते हुए कहा है-

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।

नह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी।।

आत्मा मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाता है, किंतु अमूर्तिक आकाश को मदिरा मदकारिणी नहीं होती है।

''यथा खलु पयः पूरः प्रदेशस्वादाभ्यां

पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रवत्यस्वादुत्व

स्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां

कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरूप रागविशुद्धिम् स्वभावमुपलभते।''

जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब, चन्दनादि वनराजिरूप परिणमित होता हुआ द्रव्यत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व और विकाररहित विशुद्ध स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।

जीवाजीवं दव्वं रूवारुवित्ति होदि पत्तेयं।

संसारात्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया।।

संसारी जीव रूपी/मूर्तिक है और कर्मरहित सिद्ध जीव अमूर्तिक है।

कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवदव्वाणं।

च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं।।

कर्म के संबंध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है।

''अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां

मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धः।''

जीव के प्रदेश अनादिकालीन बंधन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं अतः उनका मूर्त शरीर के साथ संबंध होने से कोई विरोध नहीं आता।

परंतु शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध जीव तथा संसारी जीव भी अमूर्तिक है। यदि शुद्ध निश्चय नय से अर्थात् स्वाभाविक दृष्टि से जीव मूर्तिक होता तो सिद्ध अवस्था में भी जीव मूर्तिक ही होता परंतु सिद्ध अवस्था में अमूर्तिक है।

ये सब नय विवक्षा में अनेकांत दृष्टि से ही सिद्ध होता है क्योंकि हर विषय की सिद्धि अनेकांत से होती है एकांत से नहीं। कहा भी है-

बंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं।

तम्हा अमुत्ति भावो णेगंतो होदि जीवस्स।।

बंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उसकी भिन्नता है, इसलिए जीव के अमूर्तिक भाव एकांत से नहीं है।

रूवरसगंधफासा सद्दवियप्पा वि णत्थि जीवस्य।

णो संठाणं किरिया तेण अमुत्तो हवे जीवो।।

जीव में न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है, न शब्द के विकल्प है, न आकार है, न क्रिया है, इस कारण से जीव अमूर्तिक है।

जो हु अमुत्तो भणिओ जीव सहावो जिणेहि परमत्थो।

उवयरियसहावादो अचेयणो मुत्तिसंजुतो।।

जिनेंद्र देव ने जो जीव को अमूर्तिक कहा है वह जीव का परमार्थ स्वभाव है। उपचारित स्वभाव से तो मूर्तिक और अचेतन है।

कर्त्ता के विभिन्न रूप

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।। (8)

According to Vyavahara Naya is the dear performer of the Pudgala Karmas. According to Nischaya Naya (Jiva is the dear perfomer of) Thought Karmas. According to Shuddha Naya (Jiva is the dear) of Shuddha Bhavas.

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

इस गाथा में जीव के विभिन्न कर्तृत्वभावों का वर्णन किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से ''स्वतंत्र कर्त्ता'' अर्थात् जो कर्म को स्वतंत्र रूप से करता है उसे कर्त्ता कहते हैं। जीव भी विभिन्न अवस्था में विभिन्न कर्मों का कर्त्ता बनता है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिण्ड रूप नो/ईषत् कर्म है उसका कर्त्ता है। स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से घट, पट, कुर्सी, टेबल, घर, चटाई, विभिन्न वैज्ञानिक उपकरण, ईंट, मूर्ति आदि का भी जीव कर्त्ता है। निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय से जीव चेतन कर्म अर्थात् मिथ्यात्व भाव, ईर्ष्या भाव, घृणा, द्वेष, लोभ, काम प्रवृति, अहं प्रवृति का कर्त्ता है परंतु परम शुद्ध निश्चय नय से जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन, सच्चिदानंद स्वरूप स्वभाव में परिणमन करता है तब अनंत ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय सुखादि भावों का कर्त्ता होता है। छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से स्वभाव का कर्त्ता भी होता है परन्तु केवली एवं मुक्त अवस्था में तो शुद्ध निश्चय नय से पूर्णरूप से अनंत ज्ञानादि भावों का कर्त्ता होता है। वस्तुतः यहाँ जो आध्यात्मिक दृष्टि है उसकी अपेक्षा अशुभ, शुभ, शुद्ध भावों का जो परिणमन है, उसी का कर्तृत्वपना यहाँ पर कहा गया है, न कि हस्तपादादि से जो कार्य किया जाता है उसे यहाँ कर्त्तापने में स्वीकार किया गया है और एक विशेष आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जो शुद्ध भावों का कर्त्ता कहा गया है उसका अर्थ यह है कि उन शुद्ध भावों का जीव वेदन करता है न कि उन शुद्ध भावों का निर्माण करता है या बनता है। प्राचीन आचार्यों ने भी जीव के विभिन्न कर्त्तापने का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। यथा-

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमदि।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदे।।

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्मभाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव (कर्म) को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष परम पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थ है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं।

मंसवसारुहिरादिभावे उदराग्गे संजुत्तो।।

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

एवं नियमं निरूप्य निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्

शुद्ध-एकआत्ममये महसि अचलितैः ज्ञानिता आसेव्यताम्।।(167)

अर्थ-अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति के स्वभाव में लीन होने से (शुद्धात्म ज्ञान का अभाव होने से) उस कर्मप्रकृति को अपना स्वभाव जानता है इसलिए सदैव कर्मफल का भोक्ता होता है तथा ज्ञानी पुरुष तो प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से (उसे पर का स्वभाव मानता है क्योंकि इसके स्व-पर के विभाग का और ज्ञान-दर्शन मय परिणति होने से शुद्धात्मज्ञान का अनुभव होता है इसलिए कदापि वेदक नहीं है। (अर्थात् उदयागत वेदनीय कर्म के फल का भोक्ता नहीं है)। इस प्रकार भेदज्ञानी के बन्धाबन्ध लक्षण के नियम को भली प्रकार जानकर निपुण पुरुषो! अज्ञान स्वभाव को छोड़ दो और शुद्ध एक निष्कलंक आत्मज्योति में निश्चल होकर ज्ञानस्वभाव का सेवन करो।

ज्ञानी मात्र ज्ञाता ही है-

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,

जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।

जानन्परं कररण वेदनयोरभावाच

छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव।। (198)

अर्थ-ज्ञानी पुरुष न शुभ-अशुभ करता है और न उनके कर्मफल को भोगता है। वह ज्ञानी तो मधुर और कटुक कर्म के स्वभाव को केवल जानता है, इस प्रकार कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। इस तरह मात्र जानते हुए कर्मकर्तृत्व और कर्मफल-भोक्तृत्व का अभाव होने के कारण अपने शुद्ध स्वभाव में निश्चल होने से, वास्तव में, वह मुक्त ही है।

आत्मा के कर्त्तापने को दूषण देते हैं-

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।

सामान्यजनवत् तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्।। (199)

अर्थ-जो अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छदित होकर विचारशून्य होते हुए आत्मा को (कर्मों का) कर्ता मानते हैं, वे (जैनाभास) भले ही मोक्ष के इच्छुक हों परन्तु सामान्यजन के समान (अर्थात् आत्मा को कर्ता स्वीकार करने से सदैव कर्मबन्ध का प्रसंग प्राप्त होने से) उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।

कर्तृकर्मत्व सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।। (200)

अर्थ-परद्रव्य (पुद्गलद्रव्य) और जीवद्रव्य का किसी भी (तादात्म्यादिलक्षरण) सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं।

परद्रव्य के साथ आत्मा के सम्बन्ध का निषेध-

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,

सम्बन्धएव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।

तत्कर्तृ कर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे।

पश्यन्त्वकर्तृं मुनयश्च जना स्वतत्त्वं।। (201)

अर्थ-क्योंकि इस जगत् में एक वस्तु (चेतन या अचेतन) के अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण प्रकार के सम्बन्धों (तादात्म्य-गुणगुणी वाच्यवाचकादि सम्बन्ध) का निषेध किया गया है, इसलिए जहाँ पर वस्तुभेद (जीव व-पुद्गल पृथक्) है वहाँ कर्ता-कर्मपने की सम्भावना ही नहीं है। इसप्रकार मुनिजन और लौकिक जन तत्त्व को (यथार्थ-वस्तु स्वरूप को) अकर्ता देखो (अर्थात् यह श्रद्धान करो कि कोई किसी का कर्ता नहीं है) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, अकर्ता है।

अज्ञानी को समझाते हैं-

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति
नेममज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत् एव हि भावकर्मकर्ता
स्वयं भवति चेतन एव नान्यः।। (202)

अर्थ-(आचार्य खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अरे! जो प्रसिद्ध सांख्यादि प्रवादीजन) वस्तु स्वभाव (अर्थात् चेतन और अचेतन) के नियम को नहीं जानते,) वे बेचारे जिनका कि ज्ञानरूप पराक्रम अज्ञानरूप अन्धकार में डूब गया है, वे (स्वतत्त्व का व्याघात होने से अपने स्वरूप को स्थापित करने में असमर्थ होने से) मात्र ज्ञानावरणादि कर्म-प्रकृतियों का उपार्जन करते हैं और परद्रव्य के कर्ता होते हैं। भावकर्म का कर्ता चेतन स्वयं ही होता है, अन्य कोई नहीं।

भावकर्म का कर्ता जीव है-

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्य फल भुग्भावानुषंगात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः।। (203)

अर्थ-जो भावकर्म है वह कार्य है इसलिए वह अकृत नहीं हो सकता (अर्थात् किसी के किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता) और ऐसा भी नहीं कह सकते कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनों की ही कृति हो क्योंकि वह दोनों का कार्य माना जायेगा तो जड़ स्वरूप प्रकृति को भी अपने कार्य का फल जो सुख दुःख है उसे भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा। तथा वह 'भावकर्म' एक प्रकृति का कार्य भी नहीं है क्योंकि प्रकृति तो स्पष्टरूप से अज्ञानरूप अचेतन ही है और भावकर्म चेतन है। इसलिए भावकर्म का कर्ता तो जीव ही है तथा वह भावकर्म चेतन के साथ अन्वयरूप से रहने वाला है इसलिए वह जीव का ही कार्य है, पुद्गल में ज्ञातृत्वपना नहीं होने से भावकर्म पुद्गल का कार्य नहीं हो सकता।

जो भावकर्म का कर्ता भी कर्म को ही मानते हैं उन्हें समझाते हैं-

कर्मैव प्रवितवयं कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तुतां,
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ तिः कोपिता।
तेषामुद्धत मोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये,
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजयावस्तुस्थितिः स्तूयते।। (204)

अर्थ-कोई आत्मा को अकर्ता मानने वाले (सर्वथा एकान्तवादी सांख्य) कर्म (प्रकृति) को ही सुख-दुःखादि का कर्ता मानकर आत्मा के भावकर्म के कर्तापने का निराकरण करके तथा 'आत्मा कथंचित् कर्ता है' ऐसी अविचल निर्दोष जिनवारणी की विराधना करते हैं। इनकी बुद्धि तीव्र मोहनीय कर्म से आच्छादित हो गई है ऐसे आत्मघातियों के ज्ञान का संशोधन करने के लिए वस्तु-व्यवस्था बतलाई जाती है। इस वस्तु स्थिति ने स्याद्वाद के द्वारा विजय प्राप्त की है। (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाध रूप से सिद्ध होती है।)

निश्चय से आत्मा अकर्त्ता है-

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोषादधः।
ऊर्ध्वं तद्धतबोधधाम नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्तृ भावमचलं ज्ञातारमेकं परम्।। (205)

अर्थ-ये अर्हंतमत के अनुयायी जैन भी सांख्य मतवालों के समान आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानो। (सांख्यमती आत्मा को सर्वया अकर्ता मानते हैं) अभेदज्ञान में अर्थात् भेद ज्ञान होने के पहले तो आत्मा द्रव्य-भाव-कर्मों का कर्ता है ऐसा मानो तथा इसके आगे भेदज्ञान हो जाने के पश्चात् उत्कृष्ट ज्ञानज्योति में नियत इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तृत्व से रहित, निष्कम्प, ज्ञायक, अद्वैत ज्ञाता श्रेष्ठ ही देखो।

वैदिक ग्रन्थ में वर्णित पाप व फल

हरिसेवां विना साध्वि न लभेत्कर्मखण्डनम्।
शुभकर्म स्वर्गबीजं नरकं च कुकर्मतः।। (1)

पुंश्चल्यन्नं च यो भुङ्क्ते वेश्यान्नं च पतिव्रते।
तां व्रजेत्तु द्विजो यो हि कालसूत्रं प्रयाति सः।। (2)
शतवर्ष कालसूत्रे स्थित्वा शूद्रो भवेद्ध्रुवम्।
तत्र जन्मनि रोगी च ततः शुद्धो भवेद्द्विजः।। (3) ब्र. वै. पु.

यमदेव कहते हैं-हे साध्वी! हरिसेवा के अभाव में शुभाशुभ कर्मजाल का उच्छेद नहीं होता। जीवगण का शुभ कर्म स्वर्ग का कारण है। अशुभ कुकर्मों से उसे नरक मिलता है। हे पतिव्रता सावित्री! जो द्विज व्यभिचारिणी नारी अथवा वेश्या के अन्न का भोजन करता है, उसे कालसूत्र नामक नरक में 100 वर्ष रहना होगा। तदनन्तर वह शूद्रवर्ण में जन्म लेकर शुद्ध होगा तथा पुनः द्विज होगा।।

पतिव्रता चैकपत्नी द्वितीये कुलटा स्मृतो।
तृतीये धर्षिणी ज्ञेया चतुर्थे पुंश्चली स्मृता।। (5)
वेश्या च पञ्चमे षष्ठे युग्मी च सप्तमेऽष्टमे।
तत ऊर्ध्वं महावेश्या साऽस्पृश्या सर्वजातिषु।। (5)

मात्र एक पति के साथ रहने वाली नारी पतिव्रता, दो पति के साथ निर्वाह करने वाली कुलटा, तीन पतियुक्ता धर्षिणी, चार पुरुषों से समागमरता पुंश्चली, पांच से समागम करने वाली वेश्या, छह से भोगरता नारी युग्मी तथा इससे अधिक लोगों से संभोगरता नारी महावेश्या है, जिसका स्पर्श तक सबसे वर्जित है।

यो द्विजः कुलटां गच्छेद्धर्षिणीं पुंश्चलीमपि।
वेश्यां युग्मीं महावेश्यामवटोदं प्रयाति सः।। (6)
शताब्दं कुलटागामी धृष्टागामी चतुर्गुणम्।
षड्गुणं पुंश्चलीगामी वेश्यागामी गुणाष्टकम्।। (7)
युग्मीगामी दशगुणं वसेत्तत्र न संशयः।
महावेश्याकामुकश्च ततः शतगुणं वसेत्।। (8)
तदा हि सर्वगामी चेत्येवमाह पितामहः।
तत्रैव यातनां भुङ्क्ते यमदूतेन ताडितः।। (9)

जो ब्राह्मण कुलटा, धर्षिणी, पुंश्चली, वेश्या, युग्मी एवं महावेश्या से संभोगरत रहता है, उसे अवटोद नरक में जाना निश्चित है। कुलटागामी 100 वर्ष,

धर्षिणीगामी 400 वर्ष, पुंश्चलीगामी उससे छह गुने समय तक, वेश्यागामी आठ गुने समय तक, युग्मीगामी उससे 10 गुने समय तक, महावेश्यागामी युग्मीगामी की अपेक्षा 100 गुने समय तक अवटोद नरकवासी होते हैं। जो इन सभी से अथवा इनमें से कई से समागम करता है, वह तो महावेश्यागामी के लिये निश्चित काल पर्यन्त उसी नरक में रहेगा। यह ब्रह्मा ने कहा है! वहां वह अनेक यातना भोग के साथ यमदूतों से ताड़ित होता है।

तित्तिरः कुलटागामी धृष्टागामी च वायसः।
कोकिलः पुंश्चलीगामी वेश्यागामी वृकस्तथा।। (10)
युग्मीगामी सूकराश्च सप्तजन्मसु भारते।
महावेश्याकामुकश्च श्मशाने शाल्मलिस्तरुः।। (11)

कुलटागामी तीतर की योनि, धृष्टागामी काकयोनि, पुंश्चलीगामी कोकिल योनि, वेश्यागामी भेड़िया की योनि, युग्मीगामी शूकर योनि में सात जन्म पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। ये भारत में ही उत्पन्न होते हैं। महावेश्या से रमण करने वाला श्मशान में सेमल का वृक्ष हो जाता है।

या भुङ्क्ते ज्ञानहीनश्च ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
अरुंतुदं स यात्येव चन्द्रमानाब्दमेव च।। (12)
ततो भवेन्मानवश्चाप्युदरव्याधिसंयुतः।
गुल्मयुक्तश्च काणश्च दन्तहीनस्ततः शुचिः।। (13)

जो मनुष्य मूर्खता के कारण चन्द्र-सूर्य ग्रहणकाल में भी भोजन करता है, वह जब तक चन्द्रमा विद्यमान है, उतने वर्ष तक अरुतुन्द नरक में कष्ट भोगता है। तत्पश्चात् मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर वह उदर रोगी, गुल्मरोगी, एक आंख रहित तथा दन्तहीन रहता है। इस कष्टभोग से ही उसकी शुद्धि हो पाती है।

वाक्प्रदत्तां हि कन्यां च यश्चान्यस्मै ददाति च।
स वसेत्पांशुभोगे च तद्भोजी च शताब्दकम्।। (14)
दत्तापहारी यः साध्वि पाशवेष्टं शताब्दकम्।
निवसेच्छरशय्यायां यमदूतेन ताडितः।। (15)

न पूजयेद्यो हि भक्त्या शिवलिङ्गं च पार्थिवम्।
स याति शूलिनः कोपाच्छूलप्रोतं सुदारुणम्।। (16)
स्थित्वा शताब्दं तत्रैव श्वापदः सप्तजन्मसु।
ततो भवेद्देवलश्च सप्तजन्मस्वतः शुचिः।। (17)

जो वाक्दत्ता कन्या उस वर को न देकर अन्य को प्रदान करता है, उसे 100 वर्ष तक पांशुभोग नरक में कष्टभोग करना होगा। वहां वह पांशु (धूल) को ही खाता है। हे साध्वी! दान की गई वस्तु का जो हरण करता है, उसे शरशय्या नामक नरक में पाश से बांध कर सौ वर्ष तक यमकिंकर उसको पुनः प्रताड़ित करते हैं। भक्तिभाव से शिव का पार्थिव पूजन जो नहीं करता, वह शिवकोप से अतीव दारुण शूलप्रोत नरकगामी होता है। वहां शतवार्षिकी यातना को भोग कर 7 जन्म तक हिंसक पशुयोनि में जन्म लेने के उपरान्त देवल (पुजारी) होकर शुद्ध होगा।

करोति दण्डं यो विप्रे यद्भयात्कम्पते द्विजः।
प्रकम्पने वसेत्सोऽपि विप्रलोमाब्दमेव च।। (18)
प्रकोपवदना कोपात्स्वामिनं या च पश्यति।
कटूक्तिं तं च वदति याति चोल्कामुखं च सा।। (19)
उल्कां ददाति वक्त्रे च सततं यमकिङ्करः।
दण्डेन ताडयेन्मूर्ध्नि तल्लोमाब्दप्रमाणकम्।। (20)

जो ब्राह्मणों को दण्डित करता है, जिसके भय के कारण द्विजगण कांपते रहते हैं, उस ब्राह्मण के देह में जितने रोम हैं, उतने काल तक वह मनुष्य प्रकम्पन नरकगामी होता है। अत्यन्त क्रोधयुक्त मुख वाली नारी जो पति को क्रोधित होकर देखती तथा उससे कटु शब्द का प्रयोग करती है, वह उल्कामुख नरकलाभ करती है। इस नरक में ज्वलन्त काष्ठ उसके मुख में यमदूत डालते रहते हैं। उस नारी के देह में जितने लोम हैं, उतने वर्ष तक यमगण उसके शिर पर दण्ड प्रहार करते रहते हैं।

ततो भवेन्मानवी च विधवा सप्तजन्मसु।
भुक्त्वा दुःखं च वैधव्यं व्याधियुक्ता ततः शुचिः।। (21)

या ब्राह्मणी शूद्रभोग्या साऽन्धकूपं प्रयाति च।
तप्तशौचोदके ध्वान्ते तदाहारा दिवानिशम्।। (22)
निवसेदतिसंतप्ता यमदूतेन ताडिता।
शौचोदके निमग्ना च यावदिन्द्राश्चतुर्दश।। (23)
काकी जन्मसहस्त्राणि शतजन्मानि सूकरी।
कुक्कुटी शतजन्मानि शृगाली सप्तजन्मसु।। (24)
पारावती सप्तजनौ वानरी सप्तजन्मसु।
ततो भवेत्सा चण्डाली सर्वभोग्या च भारते।। (25)
ततो भवेच्च रजकी यक्ष्मग्रस्ता च पुंश्चली।
ततः कुष्ठयता तैलकारी शुद्धा भवेत्ततः।। (26)

तदनन्तर 7 जन्मों तक वह मानव योनि में उत्पन्न होकर सभी जन्मों में विधवा रहती है। वह वैधव्य क्लेश तथा रोग सहकर अन्ततः शुद्ध होती है। जो ब्राह्मण नारी शूद्र व्यक्ति से संभोग करती है, वह अन्धकूप नरकगामी होती है। वहां अन्धकार में उसे सदा शौच से बचा जल पीने को मिलता है। अत्यन्त दुःख के साथ तथा यमदूतों से ताड़ित होती, उस शौच शेष जल में 14 इन्द्रों के जीवनकाल तक पड़ी रह कर भारत में 1000 जन्मों तक मादा काक, 100 जन्म तक शूकरी, 100 कुक्कुट, 7 जन्म तक शृगालिन, 7 जन्मों तक कबूतरी तथा सात जन्मपर्यन्त वानरी का जन्म लेती है। तदनन्तर भारत में चाण्डाली, सर्वभोग्या (सभी उसका उपभोग करते हैं), धोबन होती है, तब यक्ष्माग्रस्त वेश्या होकर कुष्ट ग्रस्त तेली नारी होती है। इतना भोग कर, तब उसकी शुद्धि हो पाती है।

वेश्या वसेद्वेधने च युग्मी वै दण्डताडने।
जालबन्धे महावेश्या कुलटा देहचूर्णके।। (27)
स्वैरिणी दलने चैव धृष्टा वै शोषणे तथा।
निवसेद्यातनायुक्ता यमदूतेन ताडिता।। (28)
विण्मूत्रभक्षणं तत्र यावन्मन्वन्तरं सति।
ततो भवेद्विड्कृमिश्च वर्षलक्षं ततः शुचिः।। (29)

वेश्या-वेधन नरक, युग्मी-दन्ताड़न नरक, महावेश्या-जलबन्ध नरक, कुलटा-देहपूर्ण नरक, स्वैरिणी-दलन नरक, धृष्टा-शोषण नरक में गमन करती है। वह यमदूतों द्वारा ताड़ित होकर यातनामय काल व्यतीत करती है। वहां वह मलमूत्र भक्षण मन्वन्तर काल तक करती है। हे सती! तदनन्तर वह एक लाख वर्ष तक विष्ठा का कीट रह कर, तब पवित्र होती है।

ब्राह्मणो ब्राह्मणीं गच्छेत्क्षत्रियामपि क्षत्रियः।
वैश्यो वैश्यां च शूद्रां च शूद्रो वाऽपि व्रजेद्यदि।। (30)
स्ववर्णपरदारी च कषं याति तया सह।
भुक्त्वा कषायतप्तोदं निवसेद्द्वादशाब्दकम्।। (31)
ततो विप्रो भवेच्छुद्धश्चैवं च क्षत्रियादयः।
योषितश्चापि शुध्यन्तीत्येवमाह पितामहः।। (32)

जब ब्राह्मण ब्राह्मणी से, क्षत्रिय क्षत्राणी से, वैश्य वैश्य नारी से, शूद्र शूद्रा से गमन करता है, तब ये अपने ही वर्ण की पराई नारियों से समागम करने के दोष के कारण उन परनारियों के साथ 12 वर्ष पर्यन्त कष नामक नरक में कष (कसैला) नामक तपा द्रव पान करते हैं। तदनन्तर ये सभी नरनारी शुद्ध हो जाते हैं। यह ब्रह्मा का कथन है।

क्षत्रियो ब्राह्मणीं गच्छेद्वैश्यो वाऽपि पतिव्रते।
मातृगामी भवेत्सोऽपि शूर्पं च नरकं व्रजेत्।। (33)
शूर्पाकारैश्च कृमिभिर्ब्राह्मण्या सह भक्षितः।
प्रतप्तमूत्रभोजी च यमदूतेन ताडितः।। (34)
तत्रैव यातनां भुङ्क्ते यावदिन्द्राश्चतुर्दश।
सप्तजन्मसु वाराहश्छागलश्च ततः शुचिः।। (35)

हे पतिव्रता सावित्री! यदि क्षत्रिय वैश्य ब्राह्मणी से समागम करते हैं, तब वे मातृगामी पातक युक्त होते हैं। उनको माता के साथ समागम का पातक लगता है। वे शूर्प नरक में फेंके जाते हैं। वहां सूपाकृति कीट उस मनुष्य तथा उस नारी को नित्य काट कर भक्षण करते हैं तथा पुरुष तप्तमूत्र का पान करता है। वह यमदूतों

द्वारा ताड़ित किया जाता है। वह चतुर्दश इन्द्र के स्थितिकाल पर्यन्त यहां यातना सहने के पश्चात् 7 जन्म पर्यन्त शूकर एवं बकरा हो जाता है। तभी उसकी शुद्धि हो पाती है।

करे धृत्वा च तुलसीं प्रतिज्ञां यो न पालयेत्।
मिथ्या वा शपथं कुर्यात्स च ज्वालामुखं व्रजेत्।। (36)
गङ्गातोयं करे धृत्वा प्रतिज्ञां यो न पालयेत्।
शिलां च देवप्रतिमां स च ज्वालामुखं व्रजेत्।। (37)
दत्त्वा च दक्षिणं हस्तं प्रतिज्ञां यो न पालयेत्।
स्थित्वा देवगृहे वाऽपि स च ज्वालामुखं व्रजेत्।। (38)

जो पातकी हाथ में तुलसी लेकर की गई प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता, मिथ्या शपथ लेता है, उसे ज्वालामुख नरक जाना पड़ता है। जो हाथ में गंगाजल ली गई प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता, देवप्रतिमा किंवा शालग्राम शिला लेकर की गई प्रतिज्ञा को पूरा नहीं करता, वह भी ज्वालामुख नरकगामी होता है। जो इन सब पर दाहिना हाथ रख कर भी प्रण पालन नहीं करता, वह भी ज्वालामुख नरकगामी होता है। देवमंदिर में प्रण करके पूरा न करने वाला ज्वालामुख नरकगामी होता है।

स्पृष्ट्वा च ब्राह्मणं गां च वह्निं विष्णुसमं सति।
न पालयेत्प्रतिज्ञां च स च ज्वालामुखं व्रजेत्।। (39)
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यो हि विश्वासघातकः।
मिथ्यासाक्ष्यप्रदश्चैव स च ज्वालामुखं व्रजेत्।। (40)
एते तत्र वसन्त्येव यावदिन्द्राश्चतुर्दश।
यथाऽङ्गारप्रदग्धाश्च यमदूतैश्च ताडिताः।। (41)

जो विष्णु के ही समान माने गये हैं ऐसे ब्राह्मण, गौ, अग्नि का स्पर्श करके भी जो प्रणपालन नहीं करता, वह ज्वालामुख नरकगामी होता है। जो मित्रद्रोही, कृतघ्न, विश्वासघाती, झूठी गवाही देने वाले हैं, वे सभी ज्वालामुख नरक में पकाये जाते हैं। वे सभी जलते कोयले की तरह दग्ध होते हुए, यमदूतों का प्रहार सहते 14 इन्द्रों के जीवनकाल तक वहां रहते हैं।

चण्डालस्तुलसीस्पर्शी सप्तजन्मस्वतः शुचिः।
म्लेच्छो गङ्गाजलस्पर्शी पञ्चजन्मस्वतः शुचिः।। (42)
शिलास्पर्शी विट्कृमिश्च सप्तजन्मसु सुन्दरि।
अर्चास्पर्शी व्रणकृमिः सप्तजन्मस्वतः शुचिः।। (43)

जो तुलसी हाथ में लेकर झूठ बोलता है, वह सात जन्म तक चाण्डाल रह कर, तब पवित्र हो पाता है। जो गंगाजल हाथ में लेकर झूठी शपथ खाता है, वह 5 जन्मों तक म्लेच्छ योनि भोग कर शुद्ध होता है। हे सुन्दरी! जो शालग्राम का स्पर्श करके मिथ्या बोलता है, वह 7 जन्मों तक मलभक्षी कीट होता है। जो देव प्रतिमा स्पर्श करके झूठ बोलता है, झूठी कसम खाता है, वह 7 जन्म तक घाव का कीट होकर, तब शुद्ध होगा।

दक्षहस्तप्रदाता च सर्पः स्यात्सप्तजन्मसु।
ततो भवेद्धस्तहीनो मानवश्च ततः शुचिः।। (44)
मिथ्यावादी देवगृहे देवलः सप्तजन्मसु।
विप्रादिस्पर्शकारी च सोऽग्रदानी भवेदध्रुवम्।। (45)
ततो भवन्ति मुकास्ते बधिराश्च त्रिजन्मसु।
भार्याहीना वंशहीना बुद्धिहीनास्ततः शुचिः।। (46)

दाहिने हाथ से मिथ्या शपथ लेने वाला सात जन्म तक सर्प होता है। तदनन्तर हाथ (बाहु) रहित मनुष्य होकर उसे मुक्ति मिल पाती है। जो व्यक्ति देवस्थान में मिथ्या बोलता है, वह 7 जन्म तक मन्दिर का देवल (पुजारी) होगा। ब्राह्मण आदि का स्पर्श करके मिथ्या बोलने वाला महापात्र ब्राह्मण (मृतक का सामान दान लेने वाला, दसवां के पहले की मृतक क्रिया कराने वाला) होता है। वह इसके पश्चात् 3 जन्म तक मूक-बधिर होगा। वह स्त्री-पुत्र रहित तथा निर्बुद्धि भी होगा। तब उसकी शुद्धि होगी।

मित्रद्रोही च नकुलः कृतघ्नश्चापि गण्डकः।
विश्वासघाती व्याघ्रश्च सप्तजन्मसु भारते।। (47)

मित्रद्रोही नकुल योनि में, कृतघ्न गैण्डा की योनि में तथा विश्वासघाती व्याघ्र योनि में जाता है। भारत में ये प्रत्येक 7-7 बार उस-उस योनि में जन्म लेते हैं।

मिथ्यासाक्ष्यप्रदश्चैव भल्लूकः सप्तजन्मसु।
पूर्वान्सप्त परान्सप्त पुरुषान्हन्ति चाऽऽत्मनः।। (48)
नित्यक्रियाविहीनश्च जडत्वेन युतो द्विजः।
यस्यानास्था वेदवाक्ये मन्दं हसति संततम्।। (49)
व्रतोपवासहीनश्च सद्वाक्यपरिनिन्दकः।
जिह्मो जिह्मो वसेत्सोऽपि शताब्दं च हिमोदके।। (50)
जलजन्तुर्भवेत्सोऽपि शतजन्मक्रमेण च।
ततो नानाप्रकारा च मत्स्यजातिस्ततः शुचिः।। (51)

मिथ्या गवाही देने वाला 7 जन्म तक भालू होगा। ये सभी 7-7 जन्म पर्यन्त दुःख भोगते हैं। इनकी पूर्व की सात पीढ़ी तथा आगे की सात पीढ़ी भी नरक जाती है। नित्यक्रिया रहित, जड़, वेद के प्रति अविश्वासी ब्राह्मण जो निर्बुद्धि लोगों का उपहास करता है, व्रत एवं उपवास रहित है, उत्तम बातों की निन्दा करने वाला, दुष्ट के साथ दुष्ट बन जाने वाला, हिमकुण्ड नरक में 100 वर्ष कष्ट झेल कर 100 जन्म पर्यन्त जलजीव एवं नाना प्रकार के मत्स्य की योनि में उत्पन्न होकर, तब शुद्ध होगा।

यो वा धनस्यापहारं देवब्राह्मणयोश्चरेत्।
पातयित्वा स्वपुरुषान्दश पूर्वान्दशापरान्।। (52)
स्वयं याति च धूमान्धं धूमध्वान्तसमन्वितम्।
धूमक्लिष्टो धूमभोजी वसेत्तत्र चतुर्युगम्।। (53)

देव-ब्राह्मण का धनहारी अपने इस कुकर्म के कारण 10 पूर्व पीढ़ी तथा 10 आगामी पीढ़ी वालों को नरकगामी करता है। उसे स्वयं धूमांध नरकगामी होना पड़ता है। यह नरक धूमाच्छन्न है। वह पातकी वहां दुःख पूर्वक यह धूम खाता है। इस प्रकार 4 युग पर्यन्त इस नरक में दुःख भोगता है।

ततो मूषकजातिश्च शतजन्मानि भारते।
ततो नानाविधाः पक्षिजातयः कृमिजातयः।। (54)
ततो नानाविधा वृक्षजातयश्च ततो नरः।
भार्याहीनो वंशहीनः' शबरो व्याधिसंयुतः।। (55)

ततो भवेत्स्वर्णकारः सुवर्णस्य वणिक्तथा।
ततो यवनसेवी च ब्राह्मणो गणकस्ततः।। (56)

इसके अनन्तर उसे भारत में मूषक का 100 जन्म, अनेक जाति के पक्षी की योनि, नाना रंग के कीटों की योनि, अनेक वृक्ष योनि भोगने के उपरान्त वनेचर मनुष्य योनि मिलेगी। वह स्त्री रहित सन्तान रहित तथा व्याधिग्रस्त रहेगा। तदनन्तर सोनार, स्वर्ण वणिक्, यवन सेवक मनुष्य योनि क्रमशः भोग कर अन्ततः ज्योतिष का विद्वान् ब्राह्मण होगा।

विप्रो दैवज्ञोपजीवी वैद्यजीवी चिकित्सकः।
व्यापारी लोहलाक्षादे रसादेर्विक्रयी च यः।। (57)
स याति नागवेष्टं च नागैर्वेष्टित एव च।
वसेत्स्वलोममानाब्दं तत्र वै नागदंशितः।। (58)
ततो भवेत्स गणको वैद्यो वै सप्तजन्मसु।
गोपश्च कर्मकारश्च शङ्खकारस्ततः शुचिः।। (59)

ज्योतिषी होकर, चिकित्साकारी वैद्यक होकर, लौह अथवा लाख का विक्रेता होकर, भस्मों का विक्रयी होकर जीविकोपार्जन करने वाला व्यक्ति नागवेष्ट नरकगामी होता है। उस व्यक्ति के देह में जितने रोम हैं, वह उतने वर्ष वहां सर्पों से डंसा जाकर सात जन्म तक ज्योतिषी, वैद्य, गोप, बढ़ई तथा शंख निर्माता होता है। तब वह शुद्ध हो पाता है।

आचार्य कनकनन्दी को स्व-वैज्ञानिक शिष्यों की जिज्ञासा

शाह माधोक जैन चितरीः ऐसे प्रश्न आगम की गलत ढंग से व्याख्या करने के कारण उत्पन्न हो रहे हैं। आगम में लोक की व्याख्या भुगोल पद्धति से नहीं बल्कि गणितीय पद्धति से हुई हैं-

1. यदि आप लोक की व्याख्या गणितीय ढंग से करेंगे तो आपको स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि हम लोक की व्याख्या कैसे गलत ढंग से करते आ रहे हैं तथा चंद्रयान प्रोजेक्ट से जो कुछ भी शोध हो रही है उसमें आगम वर्णित लोक के विरुद्ध कुछ भी नहीं है। लेंडर हमारे दिखाई देने वाले चन्द्रमा पर ही पहुंचा है।

2. आप सब की जानकारी के लिए बता दूं कि चारों सेक्ट के आचार्यों ने लोक के गणितीय मॉडल को जिस मीटिंग में सही घोषित करके स्वीकार किया

था, उसमें पूज्य वैज्ञानिक आचार्य कनकनंदी जी महाराज साहिब ने भी उपस्थित रह कर अपना आशीर्वाद दिया था।

3. जिज्ञासुओं को गणितीय पद्धति को समझने का प्रयास करना चाहिए

साबी को बैठ कर आचार्यश्री के सामने चर्चा करनी चाहिए। आपके statistical model से में सहमत नहीं हुँ, कृपया क्षमा करे।

अभी वर्तमान आधुनिक विज्ञान भारत क्षेत्र से बाहर नहीं गया है। शाह माधोक जैन चितरीः राजमल जी इसकी कोई कमी को उजागर करेंगे तो कृपा होगी यह मॉडल में लोक की व्याख्या करने की मात्र पति को बदला गया है भूगोल की जगह गणित की पद्धति से व्याख्या करनी है। इसलिए कृपया बतायें कि क्या वास्तव में सांख्यकी पद्धति से वर्णन नहीं हुआ है?

शाह माधोक जैन चितरीः जीवराज जी

शाह माधोक जैन चितरी : Why not this subject be discussed in a zoom meeting with every one present, in presence of Acharya Shri ji, on a pre informed time and date..?

शाह माधोक जैन चितरीः बगड़ा जी

शाह माधोक जैन चितरीः A very good suggestion. Whenever, it suits pp Acharya agree and other interested persons.

शाह माधोक जैन चितरीः जीवराज जी शाह माधोक जैन चितरीः योग्य जिज्ञासु गुरुदेव को सदैव प्रिय है। इसीलिए आप सब विज्ञ जनो पर पूज्य गुरुदेव का विशेष स्नेह है। आप सबकी योजना हो जाने के पश्चात निवेदन पर सहर्ष स्वीकृति मिलेगी ऐसा मेरा मानना है।

शाह माधोक जैन चितरीः मधोक

Dear Friends,

I am happy to share that on today ISRO launched precisely and perfectly the Aditya L1 Mission. It has achieved its orbit successfully. I was associated with this mission from the very early stage. I was invited by PRL to propose a payload. I had proposed "Solar wind and energetic particle spectrometer

(SWEPS) and it was approved. By Prof. U. R. Rao, chairman of Aditya mission. We designed the instrument which was also approved, however later, after my superannuation, itÓs name was changed to Aditya solar particle experiment (ASPEX). After about 130 days we will have in situ test. All the experiments, hopefully, will improve our current understanding in solar physics.

Thank you all for your kind support and motivation.**Rajmal**

शाह माधोक जैन चितरीः राजमल जी

शाह माधोक जैन चितरीः hearty Congratulations.

Entire Jain Community feels Proud on your achievements and association with Solar Mission L1. **jai jinendra**

Congralutaions for your successful and practical association with Aditya. We feel proud.

मुझे यह बताते हुए खुशी हो रही है कि आज इसरो ने सटीक और सटीक तरीके से आदित्य एल1 मिशन लॉन्च किया। इसने अपनी कक्षा सफलतापूर्वक हासिल कर ली है. मैं शुरुआती दौर से ही इस मिशन से जुड़ा था। मुझे पीआरएल द्वारा पेलोड का प्रस्ताव देने के लिए आमंत्रित किया गया था। मैंने सौर पवन और ऊर्जा कण स्पेक्ट्रोमीटर (एसडब्ल्यूईपीएस) का प्रस्ताव दिया था और इसे मंजूरी दे दी गई थी। आदित्य मिशन के अध्यक्ष प्रोफेसर यू.आर. राव ने। हमने उपकरण डिजाइन किया था जिसे मंजूरी भी दे दी गई थी, हालां कबिाद में, मेरी सेवानिवृत्ति के बाद, इसका नाम बदल दिया गया था आदित्य सौर कण प्रयोग (ASPEX)। करीब 130 दिन बाद हमारा इन सीटू टेस्ट होगा। उम्मीद है कि सभी प्रयोगों से सौर भौतिकी में हमारी वर्तमान समझ में सुधार होगा। आपके समर्थन और प्रेरणा के लिए आप सभी को धन्यवाद। **-राजमल**

शिक्षक दिवस के उपलक्ष्य में उद्‌गार

आचार्य कनकनन्दी एक उत्कृष्ट शिक्षक

आध्यात्मिक महाशिक्षक वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनन्दी गुरुदेव की वेबिनार योगेंद्रगिरि से प्रसारित हुई इसका मंगलाचरण मुनिश्री सुविज्ञसागरजी ने वन्दय

चरण गुरु के था की महिमा वर्णी न जाए द्वारा मंगलाचरण किया। वेबिनार के सभी प्रतिभागियों ने अपने महान् गुरु की महिमा शिक्षक दिवस पर प्रगट की। महाराष्ट्र धर्मतीर्थ से आचार्य गुप्तिनदी ने काव्य पाठ से आचार्यश्री की भक्ति स्तुति वंदना की उन्होंने बताया कि संसारी से सिद्ध बनाते हैं गुरुदेव मोह की निंदा से जागते हैं गुरुदेव भक्तों के संकट को टालते है गुरुदेव नर से नारायण बनाते हैं गुरुदेव इंसान से भगवान बनाते हैं गुरुदेव ककर से किंकर बनाते हैं, गुरुदेव ही काटते हैं कर्मों के बंधन को गुरुदेव ही भव्यात्मा को परमात्मा बनाते हैं संसारी से सिद्ध बनाते हैं गुरुदेव। उन्होंने गुरुदेव को कहा कि आप महादानी है इस प्रकार अनवरत रूप से आपका ज्ञान दान चलता रहे तथा स्वाध्याय की साधना से आप तीर्थंकर बनें और हम सब आपके गणधर बनें ऐसी भावना से शिक्षक दिवस की शुभकामनाएं प्रेषित की। आचार्य विद्यानंदी जी गुरुदेव ने भी कहां की अध्यात्म की शिक्षा देने वाले आत्मा का ज्ञान देने वाले आप महान् गुरु है। आत्मा का ज्ञान देना मंदिर के कलश जैसा है। आप विद्यार्थी भी है और शिक्षक भी हैं। अच्छे शिक्षक अच्छे विद्यार्थी होते हैं। आप इस प्रकार विद्याअध्ययन करवाते हैं कि आपका शिष्य अच्छे विद्यार्थी बन करके शिक्षा ग्रहण करें और उच्च शिक्षण दे। सभी विधाओं के ज्ञाता वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनदी गुरुदेव है। लौकिक गुरु 60 साल के बाद निवृत्ति होते हैं परंतु हमारे आचार्य श्री 60 साल के बाद भी शिक्षक व विद्यार्थी है। आचार्य श्री हमेशा विद्यार्थी बने रहना चाहते हैं जब तक केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक पूर्ण स्नातक नहीं बनते। जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान के आगे अष्टप्रतिहार्य होते हैं वैसे ही गुरुदेव के आगे जिनवाणी मां है। दीक्षा देना घंटे दो घंटे का कार्य है परंतु शिक्षा देना जीवन भर का कार्य है। नदी संघ में सभी को आचार्य श्री शिक्षा दे रहे हैं। उन्होंने बताया कि कनकनंदी गुरुदेव की युवावस्था में दीक्षा को देखकर अनेक आचार्यों ने युवावस्था में दीक्षा लेकर आचार्यश्री से शिक्षा प्राप्त की। विजयलक्ष्मी ने बताया कि आचार्यश्री आप विश्व के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक हैं आप प्राणी मात्र का उद्धार करना चाहते हैं। लौकिक शिक्षा से धनसम्पत्ती प्राप्त करके इस भव को सुखी बनाते है परंतु अलौकिक शिक्षा जो आपसे प्राप्त हो रही है वह इस लोक तथा परलोक में भी सुख देने वाली हैं। आत्मा को परमात्मा बनाने वाली हैं। इस अवसर पर मैं प्रार्थना करती हूं कि

आगम के अनुसार योग्य शिष्य में जो जो गुण होने चाहिए वह मुझ में प्रकट हो तथा मैं आपकी सुशिष्या बनकर आपके गुणों को प्राप्त कर सकूं आपके जैसे बिना प्रसिद्धि की भावना से निरंहकारी बनकर आपकी सेवा निरंतर करती रहूँ। आचार्यश्री ने बताया कि डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्ण का जन्म दिवस शिक्षक दिवस के रूप में मना रहे हैं। गुरुदेव ने उनके अनेक साहित्य पढे हैं इस आधार पर गुरुदेव बता रहे हैं कि डॉ राधाकृष्णन को भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान था अतः वह सभी नेताओं में श्रेष्ठ नेता थे वह लौकिक गुरु दार्शनिक गुरु भी थें नारायण कृष्ण ने गीता में लिखा है साविद्या विमुक्तये अर्थात् विद्या वह है जो जीव को मुक्त करें रविन्द्र नाथ ठाकुर ने लिखा है अभागे भारतीय लोगों तुमने आध्यात्मिक महापुरुषों का अपमान किया है जिसके कारण तुम्हारा अपमान हो रहा है। आचार्य श्री कह रहे हैं समस्त बंधन से मुक्त होने के लिए विद्या है। जन्म मरण से मुक्त करने वाली विद्या अध्यात्म गुरु देते हैं। डॉ पारसमल जी अग्रवाल कहते हैं वर्तमान में आत्मज्ञान को छोड़कर भारतीय साधु प्रवचन करते हैं। वर्तमान की शिक्षा गुलाम बनाने की हैं। जिससे आत्मा परमात्मा बने सुख संपन्न बने वह विद्या है। जिससे आत्मा की उन्नति विशुद्धि होती है विश्व में शांति होती है वह विद्या है। दूसरों को प्रभावित करना विद्या नहीं बंधन है। जो सभी पाप से निवृत करावे पुण्यार्जन करने वाली विद्या है। आध्यात्मिक विद्या ज्योति प्रकट होने से सभी विद्याएं प्राप्त हो जाती हैं। जो समस्त बंधन शरीर का बंधन समाज का बंधन संविधान का बंधन आदि का नाश करें वह विद्या है। विद्या से परम समता प्राप्त होती है। लौकिक धन लौकिक ज्ञान से आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकते अतः सच्ची विद्या अध्यात्म विद्या है। इसमें कोई छोटा बड़ा स्त्री पुरुष का भेदभाव नहीं होता है। अध्यात्म ज्ञान सुप्रीम पावर सुप्रीम लाइट है। सुवत्सलमती माताजी ने शिक्षक दिवस पर काव्य रचना से गुरु गुणानुवाद किया। ''तुम्ही मेरे दीपक तुम्ही मेरी पूजा, तुम्ही रोशनी हो तुम्हीं मेरी आभा'' क्षु भक्ति श्री माताजी ने भी अभिव्यक्ति की आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त दीक्षा से वह स्वस्थ है पहले अस्वस्थ रहती थी प्रोफेसर प्रभात जी जो गुरुदेव के सबसे विद्वान शिष्य थे उनकी पत्नी वीणा जी ने गुणानुवाद किया।

-प्रस्तुतकर्ता विजयलक्ष्मी

This document was created with the Win2PDF “Print to PDF” printer available at

https://www.win2pdf.com

This version of Win2PDF 10 is for evaluation and non-commercial use only.
Visit https://www.win2pdf.com/trial/ for a 30 day trial license.

This page will not be added after purchasing Win2PDF.

https://www.win2pdf.com/purchase/